Indian Nationalism

BAPOL-102

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

विषय-सूची

इकाई (Units)	(CONTENTS)	पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	उपनिवेशवाद	1
2.	राष्ट्रवाद	41
3.	सुधारवादी	73
4.	भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन	112

Indian Nationalism

Objective: The motto of this paper is to encourage the students to understand the importance of struggle of Indian society against the colonialism. The purpose of this paper is to inculcate and strengthen the critical thinking regarding the different dimensions of freedom struggle.

Unit I: Colonialism in India: history, foundations of colonial rule, impact on economic growth, agriculture, education, industry, environmental conditions, land relations.

Unit II: Indian Nationalism: approaches- nationalist, Cambridge school, Marxist, subaltern interpretations.

Unit III: Reformism and Anti-Reformism- major schools and religious movements,

Brahmo Samaj, Arya Samaj, Dharma Sabhas, Aligarh Movement.

Unit IV: Nationalist Movement: phases, ideology- moderates and extremists, the Indian National Congress, Gandhi and national landmarks- non-cooperation, Civil-

Disobedience, Quit India Movement.

References for Reading:

- Bandopadhyay, S. (2004) From Plassey to Partition: A History of Modern India. New Delhi: Orient Longman.
- Smith, A.D. (2001) Nationalism. Cambridge: Polity Press.
- Pradhan, Ram Chandra. (2008) Raj to Swaraj. New Delhi: Macmillan.
- Mani, B.R. (2005) Debrahmanising History, Dominance and Resistance in Indian Society. New Delhi: Manohar Publishers.
- *Sarkar, S. (1983) Modern India (1885-1847). New Delhi: Macmillan.
- Islam, S. (2004) 'The Origins of Indian Nationalism', in Religious Dimensions of Indian Nationalism. New Delhi: Media House.

अध्याय-1

उपनिवेशवाद

नोट

(Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति
1.4 ब्रटिश उपनिवेशवाद : विभिन्न चरण
1.5 भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव
1.6 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : कृषि क्षेत्र
1.7 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : उद्योग
1.8 भारत की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : दस्तकारी
1.9 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : व्यापार
1.10 भारत में उपनिवेशवाद का प्रभाव
1.11 उपनिवेशवाद का भारत की राजनीति पर प्रभाव
1.12 औपनिवेशिक शासन का सामाजिक जीवन पर प्रभाव
1.13 उपनिवेशवाद का शिक्षा पर प्रभाव
1.14 महारानी विक्टोरिया द्वारा घोषणा
1.15 सारांश
1.16 अभ्यास-प्रश्न
1.17 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को समझने में;
- ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरण को जानने में;
- भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव को जानने में।

1.2 प्रस्तावना

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन साम्राज्यवाद का प्रतीकात्मक उदाहरण है। 1757 के प्लासी युद्ध से 1947 तक की लगभग दो शताब्दियों तक के अपने शासन के दौरान उसने भारत के सभी पहलुओं को प्रभावित किया। कृषि, व्यापार और वाणिज्य, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, प्रशासन, सामाजिक और राजनीतिक जीवन, भारत की आर्थिकी, राज्यतंत्र आदि को अपने आधीन करते हुए, उन्होंने अपने साम्राज्यवादी लक्ष्यों के अनुरूप उनमे बदलाव भी किया।

1.3 भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति

नोट

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की प्रकृति के संबंध मे विद्वानों में विचार-वैभिन्य पाया जाता है। रजनी पाम दत्त की मान्यता है कि भारत में ब्रिटिश शासन भारतीयो के हितों के विरुद्ध था। यहाँ की संपदा और स्त्रोतों को वे बाहर ले गए। भारतीय उद्योगों को नष्ट करते हुए भारत को अपना उपनिवेश बना लिया। दत्त की इस मान्यता को अन्य समाजवादी विचारकों ने भी समर्थन प्रदान किया है। मौरिस और झिनकिन ने दत्त की उपरोक्त मान्यता का विरोध करते हुए यह तर्क देने का प्रयास किया है कि भारत पर शासन के दौरान ब्रिटेन को जितना लाभ हुआ, उससे कहीं अधिक उसे हानि हुई। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह कहने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश शासन ने नुकसान सहते हुए भी भारत को आधुनिकता का मार्ग दिखाया। यह मान्यता तर्क संगतता और वास्तविकता से कोसों दूर है। एक तीसरी मान्यता बार्बरा वार्ड की है। उनका मानना है कि ब्रिटेन ने ही भारत में आर्थिक विकास की प्रक्रिया की शुरुआत की लेकिन उसे पूरा नहीं किया।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की प्रकृति के संबंधा में तीसरी मान्यता मार्क्सवादियों की है। उनका अभिमत है कि 1858 में जब ब्रिटिश सरकार ने भारत को प्रत्यक्ष रूप से अपने अधीन किया तब भारत बुर्जुआ क्रांति के द्वार पर खड़ा था। अंग्रेजों ने इस क्रांति को रोक दिया। स्वयं मार्क्स के भारत संबंधी लेखों से इस मान्यता की पुष्टि होती है जिनकी रचना उन्होंने 1857 के आस-पास ही थी। मार्क्स का यह सुनिश्चित मत था कि ब्रिटिश शासन ने भारत में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया को रोक दिया, अन्यथा वह भारत में विकसित हो चुकी होती।

भारत में ब्रिटिश शासन और भारत पर उसके प्रभाव के विषय में मार्क्स की यह समझ, भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति पर एक विस्तृत और महत्वपूर्ण टीका है, व्याख्या है। मार्क्स का मत है कि जहाँ पूर्व विदेशी विजताओं ने भारत के आर्थिक आधार को अछूता बना रहने दिया और अंततः उसी संरचना में स्वयं आत्मसात हो गए, वहाँ ब्रिटेन ने इस आधार को तहस-नहस कर दिया और भारत में विदेशी शक्ति बने रहते हुए, भारत पर बाहर से शासन भी करता रहा। जो कुछ भी भारतीय था, उसे उन्होंने बर्बाद कर दिया। उनकी ग्रामीण-आत्मनिर्भरता, हथकरघा उद्योग, बुननेवाला चर्खा व्यापारिक शहरों को बर्बाद करते हुए जनसंख्या को कृषि पर निर्भर कर दिया। कृषि उद्योग पर अत्यधिक भार बढ़ गया।

मार्क्स का यह विश्वास भी था कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का एक सकारात्मक प्रभाव भी है और वह था एशिया, विशेषतया भारत में, पश्चिमी समाज के भौतिक आधारों की स्थापना। वह लिखता है, ''इंग्लैंड को भारत में दोहरी योजना को पूरा करना है - विध्वंसात्मक और प्रजननात्मक अर्थात् प्राचीन एशियाई समाज का खात्मा और एशिया में पश्चिमी समाज के भौतिक आधारों की स्थापना। अंग्रेजों ने देशज समुदायों को तोड़ते हुए और देशज़ उद्योग को जड़ से उखाड़ते हुए इसे (भारतीय सभ्यता) बर्बाद कर दिया। भारत की राजनीतिक एकता को सुदृढ़ता प्रदान करना तथा उसका विस्तार करना जो महान मुगलकाल के दौरान भी न हो सका था। जमींदारों और रैयतबाड़ी की व्यवस्थाओं की प्रस्थापना के द्वारा भूमि को निजी संपत्ति का रूप देना जो एसियाई समाज की विशेषता थी। ये दोनों व्यवस्थायें निश्चय ही भारतीय समाज के लिए नई थीं और अंग्रेजों के हितों के अनुरूप। भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील प्रभावों का उल्लेख भी मार्क्स ने किया है। यह तर्क दिया जा सकता है कि अंग्रेजों ने भारत में औपनिवेशिक राज्य की प्रस्थापना की तथा औद्योगिकरण और विकास के मार्ग को अवरुद्ध किया। बिपन चंद्र का कथन है कि इसमें कोई संदेह नहीं है

कि भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की नीतियाँ गैर-विकास से ओत-प्रोत थीं और ब्रिटिश शासन के दौरान अर्ध-विकास की प्रक्रिया की व्याख्या स्पष्ट नहीं कर पाती।''

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत में ब्रिटिश व्यापारिक, औद्योगिक और बैकिंग हितों की पूर्ति की। इस प्रक्रिया में भारतीय समाज का आर्थिक विकास बाधित हुआ तथा उसे उन्होंने अर्ध-विकसित बनाए रखा। वास्तव में, अंग्रेजों ने भारत की सामंतवादी उत्पादन प्रणाली के स्थान पर एक विकृत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना की। प्राचीन सामाजिक वर्गों को विनष्ट करते हुए उन्होंने नए वर्गों का सृजन किया जैसे जमींदार, महाजन, निर्धन कृषक वर्ग आदि जो भूमि संबंधी अंग्रेजी नीतियो के अनुरूप थे सहायक थे। औद्योगिक क्षेत्र में उन्होंने शिल्पकारों और हस्त-शिल्पियों के स्थान पर पूंजीपतियों, औद्योगिक मजदूरों, व्यापारियों और मध्यम आय समूहों का निर्माण किया।

नोट

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन शोषणकारी और दमनकारी था। आर्थिक क्षेत्र में उनके शासन का प्रमुख उद्देश्य था यूरोपियनों, विशेषताया ब्रिटिश, के लाभ के लिए भारतीय संसाधन का दोहन। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उसके शासन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को नया रूप प्रदान करना था ताकि ब्रिटेन के साम्राज्यिक हितों की संपुष्टि हो सके।

1.4 ब्रिटिश उपनिवेशवाद : विभिन्न चरण

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का अध्ययन तीन विभिन्न चरणों को परिलक्षित करता है। (1) वाणिज्यिक (1600-1757), (2) औद्योगिक (1757-1850) और (3) वित्तीय-पूंजी (1850-1947। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की प्रमुख नीति का उद्देश्य था भारत का जबरदस्त आर्थिक शोषण लेकिन स्वयं ब्रिटेन में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तनों ने भारत के प्रति ब्रिटिश नीतियों मे भी परिस्थिति के अनुरूप बदलाव किए। लूट के रूप को ध्यान में रखते हुए ये तीन चरण निर्धारित किए गए हैं।

वाणिज्यिक अवस्था (1600-1757)

1757 के प्लासी युद्ध ने ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल का मालिक बना दिया और 1765 के बक्सर युद्ध के बाद अंग्रेज पूरे भारत के भावी शासक बनने के अधिकारी बन गए। तत्कालीन भारतीय राजनीति के स्वरूप ने इस प्रक्रिया में उनकी भरपूर मदद की। कहना न होगा कि 1757 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से उन्होंने भारत में अपने वाणिज्यिक और व्यापारिक हितों की पूर्ति की। इस वाणिज्यिक अवस्था के दौरान उनका उद्देश्य वस्तुओं और उत्पादों पर एकाधिकार जमा भारी मुनाफा कमाना था। वे भारतीय विदेश व्यापार पर नियंत्रण के इच्छुक थे। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि 18वीं शताब्दी के आते-आते वस्तुओं के विनिमय और वितरण के परिणामस्वरूप भारत विश्व व्यापार में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था जिसमें उभरते हुए मध्यम वर्ण की भूमिका काफी व्यापक थी। हालांकि अभी-भी ग्राम, उत्पादन की दृष्टि से, सुरक्षित मुख्य इकाई के रूप में कार्यरत था। उभरते नव-मध्यमवर्ग को उत्पादन का मुख्य लक्ष्य स्थानीय बाजार की अपेक्षा विनिमय और निर्यात अधिक था। एक व्यापारी देश के रूप में भारत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुका था। यही वह कारण था जिसके आधार पर अंग्रेज विद्वानों ट्रेवेनियर, बर्नियर और एडम स्मिथ आदि ने 17वीं शताब्दी में भारत को विश्व के धनाढ्पतय देशों में से एक माना था। निर्माता और कृषि उत्पादों के कारण यूरोप और एशिया के बाजारों मे उसकी साख मजबूती से जम चुकी थी। 1600 से 1757 की अवधि में ईस्ट इंडिया कंपनी का बुनियादी उद्देश्य भारतीय विदेश व्यापार पर

नोट

कब्जा जमाना था ताकि वह अधिकाधिक मुनाफा कमा सके। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जबरदस्त दोगली नीति को अपनाया। वह चाहती थी – कि भारतीय विदेश व्यापार पर उसका एकाधिकार स्थापित हो और अन्य ब्रिटिश अथवा यूरोपीय कंपनियाँ प्रतियोगिता से बाहर हो जाये। दूसरी ओर उसका उद्देश्य था कि भारतीय व्यापारी यूरोपीय बाजार में स्वयं प्रतियोगिता मे सम्मिलित रहें। इसका परिणाम होता और हुआ भी कि वह कम-से-कम दाम पर भारतीय माल खरीदे और अधिकाधिक दाम पर यूरोपीय एवं अन्य देशों में बेचे और सर्वाधिक मुनाफा स्वयं हथियाएं यह तब संभव था जब अन्य यूरोपीय कंपनियों को भारत से खदेड़ दिया जाय और यही ईस्ट इंडिया कंपनी ने किया भी कि भारत से व्यापार करने वाली कंपनियों को उखाड़ फेंका और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक वह इस कार्य मे पूर्णरूपेण सफल हो चुकी थी। ईस्ट इंडिया कंपनी एकमात्र व्यापारिक और नौसेना शक्ति के रूप में प्रस्थापित हो चुकी थी। जिसके फलस्वरूप भारतीय व्यापारियों पर उसका नियंत्रण हो गया और अनन्तः तटीय तथा विदेश व्यापार एकमात्र राज कायम हो गया। भारतीय वाणिज्य पर उसकी विजय स्थापित हो गई। भारतीय हस्तशिल्पकला का पूर्णतः विध्वंस हो गया। व्यापारी पहले शिल्पकार बनने को मजबूर हुए और बाज में वेतन भोगी मजदूर।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के वाणिज्यिक चरण के दौरान अंग्रेजों ने भारत के प्रशासनिक ढाँचे, न्याय व्यवस्था, परिवहन और संचार तथा कृषि और औद्योगिक उत्पादन आदि क्षेत्रों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया। देश मे आधुनिक विचारों के फैलाने की दिशा मे कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया। कंपनी को भारी मुनाफा कमाने के मार्ग और साधन प्राप्त हो गए, जैसे भारतीय उत्पादों का यूरोप को निर्यात और इस प्रक्रिया मे धन-संग्रह व्यापक रूप में कंपनी करने लगी तथा उसके कर्मचारी निजी व्यापार और घूसखोरी में लिप्त हो अपने लिए अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने लगे।

वाणिज्यिक चरण के प्रमुख लक्षणों का संक्षिप्त ब्यौरा कुछ इस प्रकार है –

(1) भारतीय बाजार पर एकाधिकार जमाने के लिए विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कंपनियो का भारत में आगमन तथा उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि। (2) विभिन्न यूरोपीय कंपनियों में बढ़ती प्रतिद्वंद्वि ता तथा अंततः ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय व्यापार पर वर्चस्व स्थापित। (3) भारतीय हथकरघा उद्योग का ध्वस्त होना तथा भारत से अधिकाधिक मुनाफ़ा ब्रिटेन ले जाना और भारतीय व्यापार के मनमाना लुटने का अवसर। (4) ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था का अपने निजी लाभ हेतु शोषण, कंपनी के मुनाफ़े में अधिकाधिक वृद्धि तथा भारतीय अर्थव्यवस्था का निरंतर ह्रास। (5) ईस्टा इंडिया कंपनी एक विदेशी कंपनी थी जिसका केवल एकमात्र उद्देश्य था भारत से अधिकाधिक आर्थिक स्त्रोतों का पलायन और उसका अनवरत् लूट और यही वह करती रही। (6) भारतीय राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति उसे प्रायः स्वतः मिल गई जिसके लिए बहुत प्रयास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। कारण था मुगल साम्राज्य के पतन की शुरुआत और देसी रियासतों में बढ़ता कलह। दो बिल्लियों की लड़ाई में कंपनी रूपी बंदर पूर्णतः सफल रही। (7) और अंतिम उसने प्रचलित प्रशासन व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन की चेष्टा नहीं की और उसका प्रयोग वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करती रही। विदेशी व्यापारी प्रशासक और भारतीय प्रशासक दोनों एक जुट हो भारत का मनमाना शोषण करने लगे। सत्ता हस्तातंरण के बाद प्रशासन में बुनियादी परिवर्तन की चेष्टा ब्रिटिश सरकार ने करना शुरू किया और वह भी सोदेश्य था – ब्रिटिश हितों के अनुरूप और भारत तथा भारतीय जनसाधारण के मौलिक उद्देश्यों के ठीक विपरीत। इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि कंपनी का उद्देश्य भारतीय आर्थिक हितों के दोहन के अतिरिक्त कुछ और था ही नहीं।

औद्योगिक चरण : (1757-1850)

नोट

भारत के आर्थिक शोषण का परिणाम स्पष्ट था और वह था ब्रिटेन के पूंजीवादी उत्पादन में भारी विस्तार। फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के दौरान तैयार मालों के उत्पादन कर्त्ता के रूप में ब्रिटेन एक प्रमुख औद्योगिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका था। अब उसे अपने विस्तृत और बढ़ते उत्पादों के खपत के लिए नए बाजारों की जरूरत पड़ी। भारतीय व्यापार पर स्थापित एकाधिकार से उसे अपेक्षाकृत अब कम मुनाफा हो रहा था जिसके कारण ब्रिटिश संसद ने भारत से व्यापार करने के इच्छुक लोगों के लिए कानून बना दरवाजा खोल दिया। जाहिर है उसे विस्तृत बाजार की जरूरत अधिकाधिक मुनाफा कमाने के लिए थी और ब्रिटेन में निर्मित उत्पादों के लिए बड़े बाजारों की आवश्यकता। कंपनी को दीवानी हैसित मिल जाने के कारण स्थिति में परिवर्तन हो गया था। जो कंपनी पहले मात्र व्यापारिक कंपनी थी अब प्रशासक बन गई थी। समामेलन और विलय की नीतियों के लागू होने के बाद वह क्षेत्रीय शक्ति के रूप में प्रस्थापित होने लगी। ब्रिटेन के लिए भारत को अब ब्रिटिश उपनिवेश बना लेना आसान हो गया और ऐसा हुआ थी। भारत शोषण हेतु बाजार बन गया। उत्पादन और कच्चे माल की पूर्ति का उपनिवेश और व्यापार में ब्रिटेन का एक कनिष्ठ साझेदार जिसमें हिस्सेदारी का निर्धारण ब्रिटेन के हाथों मे था। भारत का इस तरह रूपांतरण हुआ जो निश्चय ही उसके अपने हितों के विरुद्ध था। ब्रिटेन से भारत में बने-बनाए मालों का आगमन शुरू हुआ और वह अंग्रेजी मालों का बाजार बना। भारत से कच्चे मालों का निर्यात शुरू हुआ जैसे ब्रिटेन के लिए कपास, पटसन, रेशन, तेल-बीज, गेहूँ, खाल तथा चमड़ा, नील और चाय आदि और चीन के लिए अफ़ीम।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के औद्योगिक चरण के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में एक शासक शक्ति बनी। व्यापार करने वाली कंपनी एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उमड़ी। व्यापारियों और रोकड़ियों का एक समूह प्रभुतासंपन्न शक्ति बन बैठा जिसे सशस्त्र जहाजों के प्रयोग का अधिकार प्राप्त था। इस संदर्भ में, रजनी पाम दत्त लिखते हैं, ''दमा की एक सुनियोजित और क्रमबद्ध नीति के तहत् भारतीय निर्माता अपना सामान केवल कंपनी को बेचने के लिए बाध्य थे और वह भी मनमाने ढंग से कंपनी द्वारा निर्धारित मूल्य पर। मशीन-निर्मित अंग्रेजी सामानों को राजनीतिक और सैन्य संरक्षण तथा समर्थन प्राप्त था जिसके चलते प्रतियोगिता लगभग नगण्य थी। बुनकरों के हाथ के अंगूठों को कटवा दिया गया। तिज़ारत और मुक्त व्यापार सहित सभी क्षेत्रों में ब्रिटिश हितों को संरक्षण प्राप्त था जिसके चलते भारतीय निर्माता बर्बाद हो गए और अंततः उसकी परिणति भारत के भयंकर विघटन में हुई।'' यह स्वाभाविक था। घरेलू उद्योग विध्वंस कर दिए गए जिनकी विश्व में कभी धाक थी जैसे विश्व प्रसिद्ध ढाके का मलमल आदि। आर्थिक दृष्टि से भारत का जर्जर होना उसकी नियति बन गई। प्लासी और बक्सर के युद्धों के पचास वर्षों के भीतर-ही कभी का समृद्ध बंगाल अल्पपोषण, निर्जनता, महामारियों और अकालों का शिकार हो गया। इस संदर्भ में, ऐन्डर्सन का कथन है, ''एक धनलोलुप विजेता सेना के माध्यम से विजित देश पर यह भारत सरकार एक व्यापारिक सैन्य तानाशाही थी। लेकिन भारत मे यह वाणिज्यिक अत्याचार एक आश्रित प्रदत्त सत्ता थी जिसका कार्य लंदन स्थिति भारत सरकार के आदेशों का पालन था। लंदन स्थित यह सरकार एक वाणिज्यिक एकाधिकार थी जहाँ शक्तियाँ और सुविधाएँ संसद के बहुमत की इच्छा पर निर्भर थी जो इंग्लैंड का धनाढ्य वर्ग था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी चरण ने भारत को उपनिवेश बना ब्रिटेन के साम्राज्यवादी मनसूबों की पूर्ति के लिए सभी अंग्रेज नागरिकों और व्यापारियों को भारत में पूंजी निवेश का अवसर प्रदान कर दिया।''

नोट

19वीं शताब्दी में कपड़े का निर्यात करने वाला भारत कपड़े का आयातक बन गया। एक समृद्ध व्यापारी देश एक औपनिवेशिक षड्यंत्र के कारण एक आश्रित उपनिवेश बने जाने को मजबूर कर दिया गया। भारत के निर्यात् में अविवृद्धि हुई लेकिन कच्चे माल के रूप में। दूसरे शब्दों में, भारतीय स्त्रोतों का जबरदस्त दोहन और शोषण शुरू हो गया। भारतीय व्यापारियों की तुलना में यूरोपीय व्यापारियों को प्राथमिकता प्राप्त हो गई। कृषि क्षेत्र मे बदलाव हुए जिनका उद्देश्य था भारतीय ग्रामो की खरीद क्षमता को बनाए रखना ताकि विदेशी सामानों की खपत निरंतर होती रहे और ब्रिटिश भंडार में लूट का मुनाफा बढ़ता रहे। परिणाम स्पष्ट था। औद्योगिक चरण के दौरान भारतीय व्यापार और उद्योग को अंग्रेजों ने बर्बाद कर दिया। यूरोपीय बाजार में भारतीय सामानो का बिकना लगभग खत्म हो गया। भारतीय हथकरघा और कताई विनष्ट हो गए। भारतीय उत्पादक संरचना को लूट लिया गया। एक देश जो कभी सोने की चिड़िया के नाम से जाना जाता था अब निर्धनता, कंगाली और भूखमरी का शिकार हो गया। भारत का आर्थिक विकास ब्रिटिश शोषक व्यवस्था का शिकार हो गया।

अंग्रेजों द्वारा भारतीय सामाजिक संरचना में जो परिवर्तन किए गए उनका एकमात्र उद्देश्य था अधि काधिक मुनाफा कमाने और इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, दुंदुभि चाहे जो बजाई गई हो। अंग्रेजों द्वारा जो परिवर्तन और तथाकथित सुधार किए गए, उनके कुछ नमूने देखने और समझने योग्य हैं। उनमें से कुछ हैं –

जमींदारी और रैयतबाड़ी प्रणालियाँ आरंभ की गई जिनका उद्देश्य था – भूमि राजस्व की उगाही प्रशासन को विस्तृत और बृहत बनाया गया जिसका उद्देश्य था – कर उगाहना

व्यापार मार्गों की सुरक्षा और कानून व्यवस्था को बनाए रखना।

ग्रामीण ढाँचे को पूर्णत: बदल दिया गया। उद्देश्य था – सुदूर गाँवों में पैठ ताकि ग्रामीणों के कृषि उत्पादों को निर्यात हेतु बड़े पैमाने पर निचोड़ा जा सके।

न्याय व्यवस्था में अनुकूल परिवर्तन और सुधार उद्देश्य था – ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों की पूर्ति आप जानते ही हैं कि एक ही तरह के कृत्य के दोहरे मापदंड थे – अंग्रेज व्यक्ति के लिए एक मापदंड और भारतीयें के लिए दूसरा मापदंड ऐसे उदाहरणों से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास भरा पड़ा है। बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी गाँधी, भगतसिंह आदि के विरुद्ध मुकदमें इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

यह कहना अतिश्योक्ति पूर्ण होगा कि भारत में ब्रिटिश शासक के औद्योगिक चरण के दौरान भारत का आर्थिक शोषण लगभग पूरा हो चुका था। भारी आयात शुल्कों के रूप में भारत को निचोड़ना, कंपनी के हिस्सेदारों को लाभांश तथा अवकाश प्राप्त कर्मचारियों को पेंशनों का भुगतान आदि का भार पूर्णत: भारत पर था। भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश पर लाभांश देने का दायित्व भी भारत पर था। ब्रिटिश व्यापारी वर्ग जो भी भारत में कमाता था, निचोड़ता था, लूटता था, उसे बाहर ले जाने की आज़ादी थी। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजों को औद्योगिक चरण के दौरान भारत से समस्त आर्थिक संसाध नों के निष्कासन की पूरी और खुली आज़ादी थी। उल्लेखनीय और विचारणीय है कि यह उस देश की देख-रेख में हो रहा था जो अपने को लोकतांत्रिक मूल्यों और व्यक्तिगत अधिकारो का अग्रदूत कहने और मानने का दावा करता था। जे.एस.मिल, एडमंड बर्क आदि उदारवादी राजनीतिक चिंतकों के देश की यह हालत थी जो निश्चय ही बर्बरता और भारत के नग्न शोषण का परिचायक थी।

वित्तीय चरण : 1850 – 1947

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने शोषण के परंपरागत तरीकों को जारी रखते हुए साम्राज्यिक चरण के अनुकूल शोषण के नए साधनों को अपनाना शुरू किया। भारत में पूंजी निवेश और उससे कमाया

नोट

जाने वाला भारी मुनाफ़ा वित्तीय-पूंजी चरण का विशिष्ट लक्षण था। भारत में बढ़ते यूरोपीय पैठ के चलते यह आवश्यक हो गया कि भारत में रेलवे और सड़कों के जाल बिछाने के साथ-साथ कृषि सिंचाई क्षेत्र में भी विकास हो। भारत में वित्त और पूंजी निवेश अधिक लाभदायक बन गया। कई महत्वपूर्ण कारक थे जिन्होंने अंग्रेज़ों को भारत में पूंजी निवेश करने को मजबूर किया। पश्चिमी औद्योगीकरण को नए विदेशी बाजारों की खोज थी, औद्योगीकृत देशों मे जबरदस्त प्रतिस्पर्धा थी, सस्ते कीमत पर कच्चे माल की उपलब्धि की भारी भूख जिसके कारण अपने वित्तीय हितों के अनुरूप ब्रिटेन के लिए यह जरूरी हो गया कि भारत पर वह अपना प्रभुत्व कायम रखे। अपने देश में वित्त निवेश कम लाभदायक सिद्ध हो गया था, अत: भारत में वित्त व पूंजी निवेश अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक था। फलस्वरूप 1860 के बाद ब्रिटिश पूंजीपतियों ने रेलवे, बैंकिंग, बागवानी, कोयला खदानों, कपड़ा मिलों, जहाज़रानी, सिंचाई योजनाओं आदि क्षेत्रों में अधिकाधिक पूंजी निवेश किया। यह निवेश प्रति वर्ष बढ़ता जा रहा था। प्रथम विश्व युद्ध तक यह निवेश जहाँ लगभग पाँच सौ करोड़ के लगभग था, वह 1933 तक बढ़ कर दुगना हो गया।

आर्थिक दृष्टि से भारत में ब्रिटिश निवेश का एक मात्र उद्देश्य था भारत के प्राकृतिक और मानव संसाधनों का अधिकाधिक दोहन और शोषण तथा उसे बड़े बाजार के रूप मे विकसित करना ताकि ब्रिटिश सामानो की बिक्री कर अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा कमाया जा सके। परिणाम स्पष्ट था। भारत उसके लिए कच्चे माल और खाद्यपदार्थों का स्त्रोत बन गया, भारत श्रम शक्ति के शोषण का साधन और अतिरिक्त ब्रिटिश पूंजी निवेश की मंडी। भारतीय अर्थव्यवस्था पर पूर्णत: ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित हो गया। परिवहन प्रणालियों, उद्योगों, खानों, तटीय और अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी, बैंकिंग और बीमा उद्योग पर पूर्णत: ब्रिटिश पूंजी का वर्चस्व कायम हुआ। ब्रिटिश आर्थिक हितों और उनके सामाजिक विकास को भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रमुखता प्राप्त हो गई।

राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश का उद्देश्य था - भारत पर साम्राज्यवादी राजनीति का संपूर्ण नियंत्रण और उसे मजबूत-से-मजबूत करना। अंग्रेज शासकों के लिए यह जरूरी हो गया कि वह तमाम संभव आर्थिक और राजनीतिक खतरों से ब्रिटिश पूंजी को सुरक्षा प्रदान करे। इस संदर्भ में रिचर्ड टेंपल लिखता है ''भारत पर इंग्लैंड का कब्जा रहना ही चाहिए क्योंकि ब्रिटिश शासन के आश्वासन पर ही भारत में ब्रिटिश पूंजी डूबी हुई है कि वहाँ उसका शासन निरंतर चलता रहेगा। भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश के कारण ही भारत पर ब्रिटेन के सशक्त केन्द्रीकृत प्रशासकीय नियंत्रण की स्थापना हुई। उनकी दृष्टि में भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं थे, इसलिए लोकतंत्र के अनुरूप भी नहीं। प्रशासन को अधिकाधिक अफ़सरशाही, अधिकनायकीय कठोर और अधिकाधिक अधिनायकीय बनाया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तीव्रगति से बढ़ते राष्ट्रवादी आंदोलनों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद पर दबाव डालना शुरु कर दिया था। इस संदर्भ में महात्मा गाँधी की भूमिका महत्वपूर्ण रही।'

भारत मे वित्तीय-पूंजी चरण के दौरान ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के प्रभाव के ब्यौरे के सारांश को संक्षेप में रेखांकित किया जा सकता है। (1) भारत ब्रिटेन का उपनिवेश बन गया। अब वह ब्रिटिश बाजार था। उनके कारखानो के लिए कच्चे माल का स्त्रोत था। भारत श्रम शक्ति के शोषण का साधन था और मुख्यतया ब्रिटिश पूंजी निवेश के लिए अत्यंत लाभप्रद स्थान। (2) परिवहन प्रणाली, उद्योग, बैंकिंग व्यवस्था, पूंजी और अंतर्राष्ट्रीय जहाज़रानी आदि पर अंग्रेजों का वर्चस्व और इन सभी का प्रयोग भारत में ब्रिटिश हितों की पूर्ति के निमित्त ही होता था। (3) भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के आधीन हो गई। (4) ब्रिटिश सामाजिक और आर्थिक विकास

नोट

का भारत भारतीय अर्थव्यवस्था पर डाल दिया गया जिसके चलते उसका जर्ज़र होना स्वाभाविक था और ऐसा हुए भी। सारांश में, कंपनी शासक बनी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के फैलने का मार्ग प्रशस्त हुआ और अंततः भारत पूर्णतः अंग्रेजों के नियंत्रण में हो गया और ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रवृतियों को भारत में फलने-फूलने का अवसर मिल गया। लोकतांत्रिक मूल्यों से आबद्ध तथा कथित अंग्रेजी राजनीतिक प्रणाली का यह घिनौना रूप इस तरह साफ़ हो जाता है। इस संदर्भ में रजनी पाम दत्त का मानना है ''भारत में पूंजीवादी शासन के क्रांतिकारी भूमिका की अपेक्षा करना वांछनीय नहीं है। मार्क्स ने कहा था कि भारत में ब्रिटिश पूंजीवाद की एक क्रांतिकारी भूमिका होगी। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद की भूमिका पूर्णतः प्रतिक्रियावादी है.....भारत में साम्राज्यवाद के समस्त स्पष्ट लक्षण सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों मे हुई प्रतिक्रिया के परकोटे हैं, आड़ हैं।'' इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

1.5 भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव

पूर्व-ब्रिटिश भारतीय सामंतवादी व्यवस्था और अर्थव्यवस्था का रूपांतरण ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति से ओत-प्रोत तथा भारत के दीर्घकालीन इतिहास के स्वरूप के परिणामस्वरूप था। इस रूपांतरण के कारण थे भारत पर अंग्रेजो की विजय और मुख्यतया ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा लागू की गई राजनीतिक और आर्थिक नीतियाँ तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में उनकी गहरी पैठ। इस संदर्भ मे एक अनोखी बात थी और वह थी कि अन्य देशो में जहाँ अपने-अपने पूंजीपतियो के प्रयासों के कारण परिवर्तन होते हैं वहाँ भारत मे यह परिवर्तन भारतीय पूंजीपतियों के प्रयासस्वरूप नहीं बल्कि ब्रिटिश पूंजीपतियो के प्रयास का फल था। इस रूपांतरण या परिवर्तन का उद्देश्य स्वयं भारतीयों के हितों के अनुरूप नहीं बल्कि ब्रिटिश हितों के अनुरूप था। यह परिवर्तन स्वतः और स्वाभाविक नहीं था बल्कि जानबूझकर एक विदेशी व्यक्ति के द्वारा किया गया था जो येन-केन प्रकारेण भारतीय संसाधनों के दोहन और शोषण से प्रतिबद्ध थी। भारत पर ब्रिटिश विजय अन्य विदेशी विजयों से भिन्न थी। पं जवाहर लाल नेहरू की दृष्टि में यह एक असाधारण तथ्य था जिसकी तुलना अन्य राजनीतिक अथवा आर्थिक विजयों से नहीं की जा सकती।

पूर्व के हमलावर आए, हमला किया, भारत में बस गए और स्वयं को भारतीय जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग बना लिया। शेलवंकर के शब्दों में, ''अंग्रेज भारत आए, उसे दास बनाया और उस राजनीतिक तथा आर्थिक प्रणाली तथा उस शासक वर्ग के आधीन कर दिया जो मूल और स्वभाव से ही विदेशी बना रहा जिसका संतुलन केन्द्र सदैव भारत में नहीं अपितु विदेश में बना रहा।'' प्रो. ताराचंद वस्तुस्थिति को इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, ''भारत पर अंग्रेज़ी विजय अन्य पूर्व विजयों से सर्वथा भिन्न थी। भूतकाल में शासक परिवर्तन का अभिप्राय राजवंश का परिवर्तन होता था जो लोगों पर राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करता था। सामाजिक ढाँचा, उत्पादकीय संगठन, संपत्ति संबंध अथवा प्रशासन प्रणाली सर्वथा अप्रभावित रहते थे। अंग्रेजी शासन के दौरान ये सभी प्रभावित हुए तथा एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक क्रांति की शुरुआत हुई जिसकी परिणति पुरानी संस्थाओ के विध्वंस और नवीन सामाजिक वर्गों तथा शक्तियो के उभार मे हुई।'' नेहरू का भी यही विचार है। उनके अनुसार, ''प्रत्येक पूर्व शासक वर्ग, चाहे विदेशी हो अथवा देशज़, ने भारत की सामाजिक आर्थिक ढाँचे को स्वीकार किया था तथा उसी में आत्मसात् हो गए। सामाजिक-आर्थिक संरचना को बदलने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। उन्होंनें अपना भारतीयकरण कर लिया तथा देश की धरती में बस और रम गए। नए शासक (अंग्रेज़) बिल्कुल ही भिन्न थे। उनका आधार कहीं और (ब्रिटेन)

नोट

था उनके और एक भारतीय जनसाधारण की परंपराओं, सोच, आय, जीवनस्तर आदि में एक गहरी खाई थी।'' अंग्रेजों का उद्देश्य भारत में बसना-रमना नहीं था बल्कि भारतीय आर्थिक स्त्रोतों का अपने देश के लिए निरंतर दोहन और शोषण था। इसी कारण प्रो. ए. आर. देसाई कहते हैं, ''भारत पर अंग्रेज़ी प्रभाव से न केवल भारत की 'आर्थिक रचना' का बल्कि पूरी 'सामाजिक आकृति' का रूपांतरण कर दिया।''

1.6 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : कृषि क्षेत्र

भारतीय अर्थव्यवस्था पर अंग्रेज़ी प्रभाव का वर्गीकरण विभिन्न श्रेणियों में किया जा सकता है जैसे, कृषि उद्योग, हस्तकला तथा व्यापार आदि।

ब्रिटिश पूर्व की कृषि अवस्था

ब्रिटिश शासन की स्थापना से पहले भारत की भूमिव्यवस्था के अंतर्गत भूमि किसान वर्ग के पास थी। और राजा उसके उत्पादन का कुछ हिस्सा लगान के रूप में वसूल करता था। प्रो. आर. के मुखर्जी के अनुसार, ''भूमि राजा की संपत्ति नहीं मानी-जाती थी बल्कि वह जनजातियों अथवा उपजातियों के पास थी। गाँवों में परस्पर भाईचारे के संबंध थे भूमि पर किसान वर्ग का स्वामित्व माना जाता था।'' राजा और किसानों के बीच कड़ी का काम राजा के कुलीन अधिकारी करते थे। जिनका कार्य राजस्व उगाहने के अतिरिक्त कुछ और नहीं था। ग्राम प्रारंभिक इकाई था तथा एक प्रशासकीय संस्था। गाँव के आस-पास की जमीन किसान परिवारों से ही हो जाती थी व्यक्तिगत खेतिहरो की नहीं। भूमि न तो बेची जा सकती थी और नही खरीदी जा सकती थी क्योंकि वह पूरे गाँव की होती थी। पूरे का पूरा गाँव अपनी आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन करता था। ब्रिटिश पूर्व भारत के गाँव में आत्मनिर्भरता का राज था।

अंग्रेज़ी शासन के पूर्व के ग्रामीण संरचना का आधार दैनिक और अन्य आवश्यकताओं के अनुरूप था। भारतीय गाँव मे मुख्यतया किसान और शिल्पकार वर्ग था जिसमें लोहार, कुम्हार, बढ़ई, बुनकर, धोबी, तेली, मोची, हज्जाम आदि सम्मिलित थे। किसानों और शिल्पकारों से निचले स्तर पर वे लोग भी होते थे जिनका कार्य झाड़ू-बहारू लगाना था। समाज का वर्ग-विभाजन इतना कठोर था कि उसमें गतिशीलता अथवा लाम बंदी कठिन थी। कोई अपना पेशा नहीं बदल सकता था। वर्ग का स्थान जाति ने ले लिया था। भारतीय ग्राम्य जीवन घोर-जातिवादी था लेकिन उसमें सामाजिक तनाव नहीं के बराबर थे। परस्पर सौहार्द का वातावरण था। इतिहास इस तथ्य का गवाह है।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत का ग्रामीण जीवन विदेशी प्रभावों से अछूता व अप्रभावित रहा। आक्रामकों के समस्त आक्रमणों को झेलते हुए भारतीय ग्राम अपनी बुनियादी ढाँचे को बनाए रखने मे कामयाब बने रहे। उनमे बदलाव नहीं हुआ क्योंकि किसी भी आक्रामक-शासन ने उसके बुनियादी स्वरूप में बदलाव करने की चेष्टा नहीं की। भीतर से वे रूढ़िवादी और जातिग्रस्त बने रहे। प्रत्येक गाँव अपने में एक संसार था - आत्मनिर्भर, आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन और बाहर से पूर्णत: अनाश्रित क्योंकि उसे कहीं और से किसी चीज के लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। यात्राएँ होती ही नहीं थी और होती भी थीं तो बहुत ही कम। ऐसी स्थितियों मे परिवहन और संचार साधनों का विकास नहीं हुआ। शिक्षा प्रणाली नाम की कोई चीज थी ही नहीं और थी भी तो कट्टर हिंदुओं और कट्टर मुस्लिमों के संरक्षण में जहाँ आम आदमी शिक्षा ग्रहण की दृष्टि से न तो जाना चाहता था और नही जा सकता था। दो गाँवो में संचार संबंध लगभग नहीं के बराबर थे। एकाकी सामाजिक आर्थिक जीवन राष्ट्रवाद की भावना के पनपने के अनुरूप नहीं था। प्रत्येक गाँव में ग्राम

नोट

पंचायत की अहम् भूमिका होती थी। प्रत्येक ग्राम पंचायत एक आर्थिक हस्ती थी, एक राजनीतिक निकाय, एक सामाजिक संस्था और एक न्यायिक प्रणाली। राजा के अधिकारियों से राजस्व उगाही के संबंध मे पंचायत बात करती थी। प्रस्थापित रीति-रिवाज़ों के मुताबिक वह गाँव पर शासन करती थी और ग्रामीणों के मध्य उत्पन्न विवादों का निपटारा भी पंचायत के द्वारा होता था। इस तरह गाँव की एक अपनी दुनिया थी जो आत्मनिर्भर, आत्मकेन्द्रित और अपने में मस्त थी। बाहरी दुनिया से संबंध नहीं के बराबर थे।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित नवीन भूमि व्यवस्था

1765 में दीवानी हैसियत की प्राप्ति व उसके बाद घटने वाली घटनाक्रम के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में नई भूमि प्रणाली को लागू किया - जिसके परिणामस्वरूप ग्राम्य जीवन में बुनियादी परिवर्तन हुए। यह परिवर्तन भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है, जैसे (1) ग्राम समुदाय ने ग्राम भूमि का मालिकाना हक खो दिया। ग्राम अब बुनियादी आर्थिक इकाई न रह सका। इसके विपरीत, भूमि पर व्यक्तिगत किसानो का अधिकार हो गया। जमींदार वर्ग का निर्माण हुआ जिसका कार्य था भूमि राजस्व की उगाही में अंग्रेज़ों की मदद। भूमि राजस्व की उगाही नकद होती थी। (2) भूमि ने वस्तु का रूप अख्तियार कर लिया। किसी भी वस्तु के समान अब उसे खरीदा जा सकता था, बेचा जा सकता था और बेदखल किया जा सकता था। (3) प्राचीन अभिजन का स्थान भू-अभिजन ने ले लिया। इससे पहले राजकर्मचारी राजस्व वसूलते थे लेकिन अब यह कार्य जमींदार करने लगे और किसानों से राजस्व उगाह अंग्रेजों के यहाँ जमा करवाने लगे और भू-स्वामी बन गए। (4) व्यक्तिगत भू-स्वामियों के बाद व्यक्तिगत भूमि आंकलन प्रणाली और राजस्व देनदारी की व्यवस्था लागू की गई। नई भूमि प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक भू-स्वामी के द्वारा भू-राजस्व की राशि एक साल के लिए निर्धारित कर दी गई। इससे पहले राजा को राजस्व वास्तविक उत्पादन के हिस्से के रूप में मिलता था लेकिन अब राजस्व की राधि निर्धारण के बाद वह निश्चित राजस्व राशि देय थी, उत्पादन चाहे हो अथवा ना हो। अकाल, सूखा, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाओं के समय राजा राजस्व माफ भी कर सकता था। माफ करता भी था लेकिन अब राजस्व राशि आवश्यक रूप से - देय थी जिसके कारण ग्रामीण जीवन जर्ज़र अवस्था को पहुँचने के लिए बाध्य हुआ। डाली, चढ़ावा, नजराना आदि कुरीतियाँ पनपीं जिससे किसान का जीवन बदहाल होता गया। जमींदार और कंपनी कर्मचारी इस नवीन भू-प्रणाली के अंतर्गत किसानों का खून गंभीर रूप से चूसने लगे।

इस घटनाक्रम के अंतर्गत अंग्रेज़ो द्वारा लागू नई भू-प्रणाली ने स्व-शासित व स्व-निर्धारक ग्रामों को केंद्रकृत राज्य के प्रशासकीय इकाइयों के रूप में परिणत कर दिया। इस संदर्भ में ए.आर.देसाई लिखते हैं, ''कृषि और वन्य भूमि पर ग्राम के सामूहिक नियंत्रण और कब्जे की समाप्ति हो गई। राज्य और निजी नियंत्रण की संपत्ति के रूप में उनका रूपांतरण हो गया। ग्रामों में आर्थिक सहयोग और सामान्य हित की भावनाएँ खत्म हो गई। सामान्य आर्थिक हितों और सहयोग संबंधों पर आधारित स्वशासित ग्राम प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष पर आधारित हो गया। पहले के प्रचलित सहकारी सामाजिक-आर्थिक संबंधों का स्थान निजी संपत्ति के परिणामस्वरूप विकसित प्रतियोगी आर्थिक संबंधों ने ले लिया।'' गाँवों में प्रचलित सहयोग और सहकारिता की भावनाएँ जान-बूझकर समाप्त कर दी गई ताकि गाँवों के स्त्रोतों का संपूर्ण शोषण और दोहन संभव हो सके। गाँव अंग्रेज़ी कूटनीति के शिकार हो गए। सौहार्द का स्थान घृणा ने ले लिया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन द्वारा लागू परिवर्तनों का कृषि पर प्रभाव

भूमि संबंधों के बारे में ब्रिटिश उपनिवेशवाद द्वारा लागू किए गये परिवर्तनों का ग्रामीण भारत पर

दूरगामी और गंभीर प्रभाव पड़ा। इसके संबंध में संक्षिप्त जानकारी नीचे दी जा रही है :

जमींदारी का आविर्भाव :

अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई भूमि-प्रणाली से जमींदारी व्यवस्था का उभार हुआ। जमींदारों की अपनी निजी भूमि होती थी। लेकिन उन्हें व्यैक्तिक किसानों से भूमि-लगान भी वसूल करना होता था। 1799 में निर्मित एक कानून के द्वारा जमींदारों को निरंकुश अधिकार मिल गए जिसके द्वारा भूमि कर के बकाया की अदायगी न करने की स्थिति मे किसानों को बेदखल, पशुधन की जब्ती और कुर्की की जा सकती थी। किसान वर्ग का शोषण एक दैनिक बात बन गई। भूपति और जमींदार अपनी भूमि पर क्योंकि स्वयं खेती नहीं करते थे इसलिए सामंतवादी व्यवस्था का उभार हुआ। प्रो. ताराचंद के शब्दों मे, ''अपनी रैयतों के प्रति जमींदारों का व्यवहार अन्यायपूर्ण था। जोतदारों के पारंपरिक कब्जे को वे कभी भी खत्म कर सकते थे और उन्हें किरायेदार बनने को मजबूर करते थे। उन्हें जब चाहे तब बेदखल करते थे और उन पर भारी लगान लगाते थे। सभी अतिरिक्त भूमि को वे इस तरह हड़प लेते थे।'' यहा यह कहा जाय तो अतिश्योक्ति न होगी कि ब्रिटिश शासन के दौरान किसान जमींदारों की प्रजा बन जाने को मजबूर कर दिए गए और उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन उत्पीड़ित, दयनीय और बदत्तर होती गई। सरकार, जमींदार और सरकारी कर्मचारी सम्मिलित रूप से किसानों के शोषण और दोहन में जुट गए।

नोट

महाजनों और महाजनी प्रणाली की उत्पत्ति :

रैयतबाड़ी प्रणाली के कारण महाजनों और महाजनी प्रथा का उभरना आसान हो गया। रैयतबाड़ी प्रणाली ने किसानों को भूमि का मालिक बना दिया और राजस्व देने के लिए उत्तरदायी। राजस्व के भारी दर तथा उसकी वसूली के सख्त तरीकों ने महाजनों और महाजनी प्रथा की स्थापना में भरपूर मदद की और अधिकांश मामलों में महाजन जमींदार अथवा भूपति ही होते थे। निर्धारित भारी वार्षिक राजस्व की देनदारी के लिए किसानों को महाजनों से भारी सूद पर पैसा लेना पड़ता था जिसके लिए उन्हें अपनी उपज को सस्ते कीमत पर बेचने को मजबूर होना पड़ता था अथवा महाजन के पास अपनी भूमि गिरवी रखनी पड़ती थी। एक बार महाजनों के शिकार हो जाने के बाद किसानों के लिए उनके शिकंज़ो से मुक्ति पाना लगभग असंभव हो जाता था क्योंकि सूद पर सूद की दर और उसकी राशि निरंतर बढ़ती जाती थी जिसकी अदायगी किसान द्वारा संभव थी ही नहीं। इस संदर्भ में प्रो. ताराचंद लिखते हैं, ''एक बार किसान जब महाजन के शिकंजे में फंस जाता था तो महाजन अपनी धोखाधड़ी और धूर्तता से किसान को अपना बंधुअआ बन जाने को मजबूर कर देता था। सूद दर इतना अधिक निर्धारित होता था कि जोतदार किसान केवल ऋण पर सूद-दर-सूद ही दे पाता था। मूलधन की वापसी उसके बूते की बात ही नहीं थी। वह न्यायालयों के समक्ष जा सकता था लेकिन अंग्रेज़ों द्वारा प्रस्थापित न्याय व्यवस्था के अंतर्गत लेनदारो कि विरुद्ध सफलता प्राप्त कर पाना उसके लिए प्राय: संभव नहीं था। जमींदारी प्रणाली ने जमींदारों और काश्तकारों के संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए और रैयतबाड़ी व्यवस्था ने देनदारों और लेनदारों के संबंधों मे क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया जिसके फलस्वरूप ग्रामीण समाज में धोखा और शोषक तत्व आसानी से प्रवेश कर गया।'' दूसरे शब्दों में, भारत के सबसे बड़े उद्योग कृषि क्षेत्र में अंग्रेज़ों की पैठ भीतर तक हो गई जिसके चलते इस बड़े उद्योग से अंग्रेजों को काफी आमदनी होने लगी और भारतीय ग्रामीण उद्योग, विशेषतया कृषि उद्योग जर्ज़र अवस्था की ओर बढ़ने को मजबूर हो गया। भारत के सर्वांगीण आर्थिक स्त्रोतों का दोहन और शोषण निरंतर बढ़ने लगा।

नोट

ग्रामीण ऋणग्रस्तता :

नवीन भूमि प्रणाली ने दो वर्गों को जन्म दिया - जमींदार वर्ग तथा भूमिहीन श्रमिक। इसके साथ ग्रामों में बढ़ती अत्यधिक आबादी, भूमि पर बढ़ता भार, सिंचाई सुविधाओं के प्रति उदासीनता तथा बेरोज़गारी की समस्याएँ आदि भी बढ़ीं। इससे ग्रामीण ऋणग्रस्तता का बढ़ना स्वाभाविक हो गया और वह द्रुतगति से बढ़ने लगी। ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख कारण, रजनी पाम दत्त के मतानुसार जो निसंदेह सही है, भूमि किराए उच्चेतर तथा उसकी वसूली के अनम्य तरीके थे। भारत के गरीब ग्रामीण पर बोझ थे। उनमें उल्लेखनीय हैं। (क) सरकार के भूमि राजस्व की देनदारी। (ख) जमींदार अथवा भू-स्वामी को किराए की देनदारी। (ग) महाजन को सूद अदायगी आदि। दसक-बदसक यह ऋणग्रस्तता फूलती जाती थी। 1911 में यह भार 300 करोड़ आँका गया था 1925 में 600 करोड़ 1929 में 900 करोड़ 1937 में 1800 करोड़। इस द्रतुगति से अंदाज़ लगाया जा सकता है कि ग्रामीण भारत पर ऋण किस तरह बढ़ रहा था और ग्रामीण अर्थव्यवस्था किस तरह जर्ज़र होती जा रही थी।

कृषि दासता :

भू-स्वामियों और जमींदारों की संख्या में निरंतर बढ़ोतरी हो रही थी क्योंकि जोतदारों से लेनदारों को भूमि हस्तांतरण एक आम बात हो गई थी। ग्रामीण ऋणग्रस्तता जैसे-जैसे बढ़ी वैसे-वैसे कृषि मजदूरों, भूमिहीन श्रमिकों और ग्रामीण दासों की संख्या में वृद्धि होती गई। ग्रामीण जीवन में अंग्रेज़ो द्वारा किए गए परिवर्तनों के फलस्वरूप ग्रामीण दास प्रणाली की स्थापना हुई। इस संदर्भ में ए.आर.देसाई लिखते हैं, ''कृषकों की अपरिमित निर्धनता और ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उनकी भूमि व्यापारियों, महाजनों अथवा भू-स्वामियों के द्वारा हड़पी जाने लगी। भूमि पर किसान मालिकों की संख्या निरंतर गिरती गई और उसका स्वामित्व सीमित हाथों मे केंद्रित होने लगा। किसान-वर्ग के गरीब और मध्यम भागों का अल्पांश धनी किसान बना लेकिन उसका अत्यधिक हिस्सा या तो किराएदार अथवा कृषि श्रमिक बनने को मजबूर हुआ।'' कभी का भूमि मालिक किसान अर्ध किसान बना, कृषि मजदूर बना अथवा वेतनभोगी मजदूर की श्रेणी में पहुँच गया। कृषि दुर्दशा, किसान के इस नग्न शोषण के फलस्वरूप कभी का समृद्ध भारतीय ग्रामीण समाज दूसरों पर निर्भर होने को बाध्य कर दिया गया। समृद्ध भारत जर्ज़र होने लगा।

कृषि का वाणिज्यिकरण और ग्रामीण समुदायों का निपटान

नई भूमि प्रणाली के अंतर्गत ग्राम उत्पादन प्रणाली की प्राचीन अवधारणा पूर्णत: विनष्ट हो गई और उसके स्थान पर बाजारोन्मुख उत्पादन प्रणाली की स्थापना हुई। इस तरह कृषि क्षेत्र में वाणिज्यिकरण की प्रक्रिया लागू हुई। अर्थात् फसल बाजार में बिकने जाने लगी। भूमि ने वस्तु का रूप धारण कर लिया जिसे बेचा जा सकता था, खरीदा जा सकता था और गिरवी रखा जा सकता था। इसके फलस्वरूप भारतीय ग्रामीण जीवन में बदलाव आने लगा और ग्रामीण समुदाय विघटित होने लगे। प्रो. ताराचंद लिखते हैं, ''प्राचीन संगठन के विघटन के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन को एक साथ जोड़े रखने वाले सामाजिक बंधन टूटने लगे। संयुक्त परिवार व्यवस्था और पंचायतों को गहरा आघात लगा। सहयोग के स्थान पर प्रतियोगिता का बोल-बाला हो गया। क्रेताओं और विक्रेताओं मे परस्पर समझौते कीमतों, किरायों और मजदूरी के दर निर्धारित करने लगे। ग्रामों के सामूहिक जीवन का स्थान व्यक्तिवाद ने ले लिया।'' बेचने की मजबूरी कम कीमत लेने को मजबूर करने लगी। किसान अपना माल सस्ते कीमत पर बेचने को मजबूर किए गए और साहूकारों तथा महाजनों की तिजोरियाँ भरने लगीं। अंग्रेज उनके अधीनस्थ अधिकारी और उनके चारण नए वर्ग जमींदार, साहूकार, महाजन

और अन्य बिचौलियों ने कृषि क्षेत्र को मनमाने ढंग से लूटना शुरू कर दिया जो वाणिज्यवाद की आधारशिला है।

1.7 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : उद्योग

नोट

भारतीय अर्थव्यवस्था के उद्योग क्षेत्र पर भी अंग्रेजी प्रभाव कम शोषणकारी नहीं था। अंग्रेज़ी शासन ने भारतीय उद्योग को बर्बाद कर दिया। औद्योगिक क्रांति के तुरंत बाद ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन ने यूरोपीय बाजारों से भारतीय सामानों को निकाल दिया। दूसरे शब्दों में विदेशी बाजारों से भारतीय सामान बहिष्कृत कर दिए गए जिसका नकारात्मक प्रभाव भारतीय उद्योग जगत पर पड़ना ही था। हथकरघा और कताई उद्योग विनष्ट हो गए। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने बूनकरों और अन्य उत्पादक प्रतिद्वंदी शिल्पकारों को कुचलने के लिए अमानवीय अत्याचार किए। उदाहरण के लिए कारीगरों के अंगूठों को कटवाना आम बात थी सर्वाधिक शर्मनाक। अंग्रेज़ों द्वारा भारत से अत्याचारी और अन्यायकारी वार्षिक खिराज़ की वसूली जिसके चलते उद्योग और कृषि क्षेत्रों के विकास हेतु पूंजी संग्रह अत्यंत कठिन हो गया। भारत को उत्पादन संगठन ध्वस्त हो गया। वह देश जो कभी सोने की चिड़िया के नाम से जाना जाता था निर्धनता, महामारी, दरिद्रता और भूखमरी का शिकार बना दिया गया। आर्थिक पतन के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन भी थे। परस्पर सहयोगी जीवन को प्रोत्साहित करने वाला ग्रामीण समुदाय बर्बाद कर दिया गया। पश्चिमी विचारों से ओत-प्रोत व्यक्तिगत संपत्ति और व्यवसाय पर आधारित नवीन आर्थिक संबंधों का बोल-बाला हो गया। औद्योगिक क्रांति के जो दुष्परिणाम इंग्लैंड में हुए उसे बाद में भारत में आयात कर लिया गया।

इंग्लैंड में भी कृषि क्रांति के कारण किसान जमीन से बेदखल कर दिए गए थे जिसके चलते वहाँ घोर दरिद्रता और कठिनाई उत्पन्न हो गई थी। लेकिन औद्योगिक क्रांति ने ऐसे लोगों को मजदूरों के रूप में क्षणिक तौर पर रोजगार के अवसर प्रदान कर दिए। नए कारखाने खुले और पूर्ववर्त्ती किसान मजदूर के रूप में जब्त कर लिए गए। लेकिन यह समस्या का पूर्ण समाधान ना तो था और ना ही हो सकता था। दूसरी ओर, भारत में स्थिति बिल्कुल अलग थी। भारत में मजदूर उद्योगों से कट गए। उद्योग और कृषि विकास विस्तार के अभाव में ये मजदूर सदैव के लिए बेरोज़गार कर दिए गए। देश का आर्थिक विकास एक विदेशी शोषक प्रणाली का उपांग बन जाने को मजबूर हो गया। सामाजिक क्रांति के फलस्वरूप भारत में जो मानवीय वेदना बढ़ी, वह बहुत गंभीर और दीर्घकालीन सिद्ध हुई।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव तीन चरणों से गुज़रा। वाणिज्यिक चरण के पहले दौर में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय विदेश व्यापार पर एकाधिकार स्थापित हुआ। अंग्रेज और अन्य यूरोपीय व्यापारियों के आगमन से पहले भारत का औद्योगिक विकास, यद्यपि अल्परूप में, काफी विकसित था। भारत का विदेश व्यापार उन्नत था। भारतीय उत्पादों जैसे मिर्च, नक्काशे हुए पत्थर, लकड़ी, हाथीदांत, गहनों, रेशम और सूती वस्त्रों की यूरोपीय बाज़ारों में काफी माँग और खपत थी। वास्तविकता यह थी कि यूरोपीय व्यापारियों में भारतीय उत्पादों को बाजार में मुनाफे पर बेचने की होड़ थी। दूसरे शब्दो में, यूरोपीय व्यापानी भारतीय मालों को बेचकर मुनाफा कमाते थे क्योंकि उनकी गुणवत्ता काफी उन्नत होती थी।

औद्योगिक चरण के अपने दूसरे दौर में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय उद्योग को पूर्णत: विनष्ट कर दिया तथा अपना उद्योग स्थापित कर लिया। भारतीय व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त कर लेने के कारण अंग्रेज़ो के लिए भारत से अत्यधिक मुनाफा कमाना आसान हो गया। इस प्रक्रिया में उनके उद्योग अधिक सुदृढ़ हो गए। यूरोपीय उत्पादों की श्रेष्ठ गुणवत्ता के कारण यूरोपीय बाजारों मे

नोट

भारतीय उत्पादों की माँग में काफी गिरावट आ गई। यह वहाँ के औद्योगिक विकास का परिणाम था। अंततः भारतीय घरेलू उद्योग बर्बाद हो गए और भारत विदेशियों के लिए कच्चे माल का स्त्रोत मात्र बनकर रह गया। भारत विदेशियों के लिए प्रधाान बाजार बन गया। विनाश और पुर्ननिर्माण की प्रक्रियायें निरंतर चलती रहीं – भारतीय उद्योग की बर्बादी और अंग्रेज़ी उद्योग का निरंतर विकास।

औपनिवेशिक शासक के तीसरे चरण में, जिसे वित्तीय पूंजी का दौरा कहा जाता है, अंग्रेज भारत में पूंजी निवेश करने लगे, जिसका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक मुनाफा कमाने के अतिरिक्त कुछ और नहीं था। इस षड्यंत्र के अंतर्गत केवल वे उद्योग ही स्थापित किए गए जो उनके वाणिज्यिक और सम्राजी हितों के लाभ के अनुरूप थे। सर्वप्रथम कॉफी और चाय बागानी के उद्योग की शुरूआत हुई। इसके बाद वस्त्र और पटसन उद्योगों को बढ़ावा मिला। कोयला खनन और अन्य नए उद्योग भी खोले गए, जैसे भूतेल, मैंगेनीज़, अबरक, नमक आदि। चावल और इमारती लकड़ी के कारखाने भी खोले गए। नील-अफीम उद्योग को प्रोत्साहित किया गयज्ञ। सारांश में, अभिप्राय था उन उद्योगों की स्थापना जो अंग्रेजों की झोली भरने में सहायक सिद्ध होते। अफीम की जबरन खेनी करवाने की अंग्रेज़ी नीति इस संदर्भ में कुख्यात थी जिसके कारण किसान अपने भूमि छोड़कर भागने को मजबूर किए जाते थे। भारतीय हितों की न केवल अनदेखी की गई, बल्कि अंग्रेजों का यह सतत् प्रयास रहा कि भारतीय हितों के अनुरूप उद्योगों की स्थापना न हो सके। औपनिवेशिक संरचना के अंतर्गत औद्योगिक विकास पर व्यवधान निर्धारित थे जिसके फलस्वरूप भारतीय उद्योगों का पनपना लगभग असंभव था।

इस संदर्भ में, कुछ बानगियों का उल्लेख आवश्यक है जिन्हें निम्नलिखित क्रम में देखा जा सकता है – (1) संपूर्ण औद्योगिक विकास प्रक्रिया ब्रिटिश पूंजी के नियंत्रण में कर दी गई। (2) भारतीय पूंजी की अवस्था कनिष्ठ हिस्सेदार की हो गई। (3) भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित उद्योगों के समान शर्तों के आधार पर भारतीय उद्योगों को प्रतिस्पर्धा करने की स्पष्ट मनाही है। दूसरे शब्दों में, दोनों उद्योग परस्पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे जिसके चलते भारतीय उद्योग पर ब्रिटिश उद्योग का वर्चस्व स्थापित हो गया (4) भारतीय उद्योग उन कच्चे मालों का प्रयोग नहीं कर सकते थे जो ब्रिटिश उद्योगों के लिए आवश्यक थे। परिणाम स्पष्ट था भारतीय उद्योग महंगे कच्चे माल का प्रयोग करने को मजबूर थे जिसके चलते उनका लागत मूल्य बढ़ जाता था और इसी अनुपात में उसका मुनाफा भी कम होता जाता था और अंततः वे विनाश के कगार पर बढ़ने को मजबूर होते थे। (5) भारतीय बाजार में अंग्रेजी उत्पाद ही पूर्णतः और सिर्फ बचे जा सकते थे। घरेलू बाजार में देशी और अंग्रेजी दोनों माल नहीं बेचे जा सकते थे जिसके परिणामस्वरूप घरेलू बाजार विदेशी उत्पादों पर ही निर्भर रहने को बाध्य थे। उपभोक्ता मनमानी कीमत देने को मजबूर था। आर्थिक शोषण का यह नग्न नमूना था भारत जिसका शिकार बना दिया गया स्वाभाविक था भारतीय अर्थव्यवस्था बद से बदतर होती गई। (6) घरेलू उत्पादों पर मनमाने अधिभार और कर लगाए जाते थे जिनकी वसूली सख्त तरीके से होती थी जिसक दुष्प्रभाव उपभोक्ता और अर्थव्यवस्था पर पड़ना स्वाभाविक था और वह पड़ा भी जिसका प्रमाण ब्रिटिश भारत के इतिहाास में स्पष्टतया देखा जा सकता है।

सामान्यतया ब्रिटिश शासन की विस्तृत संरचना के अंतर्गत भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया का सूक्ष्म अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होता है कि वह न केवल निम्न स्तर की थी बल्कि एकतरफ़ा भी थी। प्रथम विश्व युद्ध तक औद्योगिक विकास के परिणाम घोर निराशाजनक थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ दशकों के दौरान जो उद्योग खोले गए वे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं थे। वास्तव में ये उद्योग अंग्रेज़ी हितों के अनुरूप अधिक थे भारतीय हितों के अनुरूप

नोट

कम। भारतीय कच्चे माल और उसकी श्रमशक्ति का उपयोग अंग्रेज़ों के लिए मुनाफा कमाने के उद्देश्य से ही होता था – भारत और भारतीय हितों के ठीक विपरीत। यही वह कारण था जिसके चलते ब्रिटिश पूंजी उन उद्योगों में निवेशित होती रही जो अंग्रेज़ों के लिए मुनाफा कमाने के माध्यम बने रहे जैसे बैंकिंग, बीमा, वाणिज्य, नौ-परिवहन, रेलवे, चाय, कॉफी, पटसन और रबड़ बागानी आदि उद्योग। स्पष्ट है अंग्रेज़ों ने उन उद्योगों को ही प्रश्रय और प्रोत्साहन प्रदान किया जो भारत के आर्थिक शोषण में उनके लिए सहायक सिद्ध हों। अंग्रेज़ों का उद्देश्य भारत का शोषण और दोहन था उसकी भलाई अथवा कल्याण नहीं।

1.8 भारत की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : दस्तकारी

यूरोपीय लोगों के आगमन से पूर्व भारतीय दस्तकारियों की साख पूरे विश्व में थी। उच्चस्तरीय विशिष्ट कलाएँ और शिल्प समुद्र पाद ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी जिनमें समृद्ध लोग और राजपरिवार के सदस्य होते थे। यूरोपीय बाजार में भारतीय दस्तकारी उत्पादों की भारी माँग और साख हुआ करती थी। एक ऐसा समय भी था विशेषतया 17वीं शताब्दी के दौरान, जब भारतीय सूती वस्त्र का इंग्लैंड में इतना अधिक आयात होता था कि ब्रिटेन के लोगों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध आंदोलन शुरू कर दिया कि वह भारत से ब्रिटेन को होने वाले सूती वस्त्रों के निर्यात को प्रतिबंधित करे। जाहिर है भारत में निर्मित वस्त्र ब्रिटेन में निर्मित होने वाले सूती वस्त्रों की तुलना में अधिक बेहतर थे। भारतीय निर्माताओं के विरुद्ध और ब्रिटिश औद्योगिकरण के विकास के संबंध में अंग्रेज़ों और अन्य यूरोपीय देशों द्वारा अपनाई गई संरक्षणात्मक नीति के कारण यूरोपीय बाजार में भारतीय दस्तकारी उत्पादों की माँग निरंतर गिरती गई। दस्तकारी व्यापार चौपट होता गया। यूरोपीय व्यापारियों के हाथों उसे स्वेदश मे भी नुकसान उठाना पड़ा। परिणाम स्पष्ट था भारत अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय उत्पादों का बाजार बन गया उनके लिए कच्चे माल का स्त्रोत और अंततः वह ब्रिटिश उपनिवेश बन जाने का बाध्य हो गया। इस कूटनीति का पहला शिकार सर्वोत्तम दस्तकारी वस्त्रोद्योग हुआ। प्राचीन और भारी आबादी वाले निर्माता शहर ढाका, मुर्शिदाबाद और सूरत मरुस्थल बना दिए गए। 1789 में समृद्ध औद्योगिक बंगाल प्रांत इतना अधिक बर्बाद हो गया कि वह हिंसक पशुओं का जंगल मात्र बनकर रह गया। कताई और बुलाई कला समाप्त हो गई। इन उद्योगों में कार्य करने वाले मजदूर नौकरी से निकाल फेंके गए। दस्तकारी स्थलों को कच्चे माल का गोदाम बना दिया गया जहाँ से वह इंग्लैंड भेजा जाता था। दस्तकारों को अपना पेशा छोड़ने को मजबूर कर दिया गया। हजारों दस्तकार दासत्व की श्रेणी में पहुँचा दिए गए। अंग्रेज़ों ने उनमें से कुछ को नौकरियाँ दी। लेकिन उन्हें दी जाने वाली मजदूरी उनकी कार्यक्षमता से कहीं कम होती थी। किसान और मजदूर दोनों ही अंग्रेज़ों के शोषण नीति के शिकार हुए।

1.9 भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव : व्यापार

कृषि और उद्योग के समान ही भारतीय व्यापार को भी भारी क्षति उठानी पड़ी। कंपनी को दीवानी हैसियत प्राप्त होने के बाद आंतरिक व्यापार कंपनी को हस्तांतरित हो गया विशेषतया उसके कर्मचारियों के हाथों में। कंपनी के कर्मचारी कंपनी की कीमत पर फूलने-फलने लगे। एक ओर कंपनी को वे व्यापार लाभ से वंचित करते थे तथा दूसरी ओर उत्पादकों से कम कीमत पर बलात् खरीद करते थे और उपभोक्ता को अधिक मूल्य पर बेचते थे। मुनाफ़े का अधिकांश भाग कर्मचारियों के जेबों में जाता था। इनमें अंग्रेज कर्मचारी भी होते थे और भारतीय भी इस संदर्भ में मार्क्स लिखते हैं,

नोट

''अंग्रेजों (ईस्ट इंडिया कंपनी के नौकर) ने बाजार से पूरे चावल को खरीदकर अकाल का निर्माण कर दिया। उसे दोबारा बेचने से इंकार कर दिया और बेचा तो मनमाने कीमत पर।'' शोषणकारी पूंजीवादी प्रणाली की यह विशेषता होती है कि कृत्रिम अभाव का निर्माण करके वह अधिकाधिक जमाकर यह पूंजीवादी व्यवस्था शोषण के नए-नए साधनों का निर्माण करती रहती है। नित्य नए हथकंडों द्वारा भारत का भरपूर शोषण हुआ। यह इतिहास सिद्ध एक तथ्य है। ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हुए कंपनी के अंग्रेज नौकरों ने भारतीय निर्माताओं को व्यापार से बाहर खदेड़ दिया।

भारत विजय के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को अपनी प्रतिद्वंद्वी अन्य यूरोपीय कंपनियों को भारतीय व्यापार से अलग करने की शक्ति प्राप्त हो गई। इसके साथ ही अव्यवस्थित साम्राज्यवाद के स्थान पर व्यवस्थित साम्राज्यवाद का दौर शुरू हुआ। इस अवस्था के संबंध में होल्डन फर्बर का कथन है, ''बारेन हेस्टिंग्स के शासन के अंतिम वर्षों में हम देखते हैं कि यूरोपियनों में जैसे-तैसे अपना धन अपने-अपने देशों को ले जाने के लिए भागमभाग की अवस्था उत्पन्न हो गई थी। लार्ड कार्न वालिस के शासन के अंतिम दौर में भी लगभग यही अवस्था देखने को मिलती है लेकिन थोड़ी व्यवस्थित रूप में।'' इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि अंग्रेज़ों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों को भारतीय बाजार से खदेड़ने और अपने एकाधिकार की स्थापना के लिए कौन-कौन से घिनौने अपराध नहीं किए। वे इस उद्देश्य मे सफल भी हुए। समय बीतते-बीतते भारतीय विदेश व्यापार पर उनका संपूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया जिसका प्रयोग वे अपने सम्राजी हितों के अनुकूल करने लगे।

ब्रिटेन के लाभ और भारत के नुकसानों का ब्यौरा कुछ इस प्रकार है : (1) इंग्लैंड से अधिकाधिक आयात और भारत से न्यूनतम निर्यात। (2) भारत से निर्यात होने वाले सामान थे - कच्चा माल और खाद्य पदार्थ तथा ब्रिटेन से आयात होता था निर्मित सामान। (3) जब कभी आयात और निर्यात में अधिक अंतर होता था तो आयात और निर्यात की अंतर राशि इंग्लैंड खर्चों के नाम पर भेज दी जाती थी। (4) विदेश व्यापार से प्राप्त मुनाफे का अधिकांश हिस्सा अंग्रेज़ों के जेबों में चला जाता था क्योंकि विदेश व्यापार संस्थाओं पर उनका ही स्वामित्व और नियंत्रण था। (5) विनिमय बैंकों पर क्योंकि अंग्रेजों का नियंत्रण होता था इसलिए विनिमय शुल्क के रूप में भारतीयों को वार्षिक आधार पर भारी पैसा चुकाना पड़ता था। (6) निर्यातों को निरूत्साहित करने के नीति के तहत निर्यातित वस्तुओं पर भारी महसूल लगाया जाता था। आयातित वस्तुओं पर कम-से-कम महसूल होता था ताकि आयात को अत्यधिक बढ़ावा मिल सके और भारतीय बाजार में अंग्रेज़ी वस्तुएँ अधिक बिकें ताकि अधिकाधिक मुनाफा कमाया जा सके। इस तरह भारतीय व्यापारियों के मूल्य पर अंग्रेज व्यापारियों की मदद की जाती थी। (7) आंतरिक व्यापार की उपेक्षा करने के उद्देश्य से विदेश व्यापार पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। विदेश व्यापार को बढ़ावा देने के लिए तमाम कोशिशें होती थीं और आंतरिक व्यापार को निरुत्साहित करने के लिए उस पर समस्त प्रतिबंध लगाये जाते थे। (8) ब्रिटिश शासन के तीनों चरणों के दौरान अंग्रेज़ों की नीति भारत के आर्थिक शोषण पर ही केंद्रित रही। अंत में यह उल्लेखनीय है कि भारत से कमाए गए मुनाफे का अल्पांश ही भारत पर खर्च किया जाता था। ब्रिटिश सरकार विशुद्ध मुनाफा कमाने से ही ओत-प्रोत रही। भारतीयों का कल्याण न तो उसका कभी उद्देश्य ही रहा और नही उन्होने ऐसा कभी किया।

सारांश में कहा जा सकता है कि भारत में ब्रिटिश शासन अर्थ व्यवस्था के लिए सदैव विध्वंसक ही बना रहा। अंग्रेज भारत आए। उसके धन को लूटा, उसके शोषण के लिए अर्थव्यवस्था को संगठित किया और यहाँ से कमाया हुआ सारा धन स्वदेश भेजा। निर्माता देश के स्थान पर भारत कृषि देश

में रूपांतरित हुआ। कृषि देश का रूपांतरण उपनिवेश के रूप में हुआ ताकि मनमाने ढंग से उसका आर्थिक शोषण और दोहन हो सके। औपनिवेशिक शासक का प्रमुख परिणाम था भारत में अधिकाधिक निर्धनता। 'श्वेत् आदमी के भार' की कूटनीति का सीधा उद्देश्य था सुसंस्कृत बनाने के नाम पर उपनिवेशों का अधिकाधिक आर्थिक शोषण। दुनिया का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है।

नोट

1.10 भारत में उपनिवेशवाद का प्रभाव

ब्रिटिश शासन के आर्थिक उद्यम के लक्ष्य और तरीके, व्यापारिक संगठन व व्यावसायिक आचरण भारतीयों से बहुत भिन्न थे। ब्रिटिश शासक यूरोप से आए थे जिनकी राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। नैतिकता और रीतिरिवाजों, धर्म तथा संस्कृति और बौद्धिक प्रवृत्तियाँ और दृष्टिकोण के क्षेत्र में उनमें और भारतीयों में व्यापक विषमता थी। यूरोपीय व्यापारियों और मिशनरियों के आगमन और भारतीयों से उनके संपर्क ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म दिया जो समय के साथ पूर्व और पश्चिम के बीच बढ़ते हुए व्यापार और संपर्क तीव्र होते गए। इस प्रक्रिया मे नई व्यवस्था 18वीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा बंगाल पर विजय के साथ प्रारंभ हुई। फिर तो भारतीय राजनीति, सामाजिक जीवन और अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव और अधिक गहन तथा व्यापक होता गया। ब्रिटिश शासकों ने अपने शासन कार्य को सरल बनाने तथा उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए अनेक दूरगामी परिवर्तन किए। भारत में कानून और व्यवस्था की स्थापना की गई, संचार व्यवस्था में सुधार हुआ, सड़कों और रेलमार्गों ने संपूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़कर आवागमन का मार्ग तैयार किया, संसाधनों के अधिकाधिक दोहन के लिए कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था में सुधार किया गया। एक पूर्णत: नवीन अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली शुरू की गई, व्यापार उद्योग के क्षेत्र में नई व्यवस्थाओं से भारतीयों का परिचय हुआ और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किए गए।

परिणामस्वरूप जो परिवर्तन प्लासी युद्ध से पूर्व धीमी गति से प्रारंभ हुए थे, ब्रिटिश राज की स्थापना से एक निश्चित दिशा की ओर तेजी से बढ़ने लगे। नए समाज के प्रमुख लक्षण आकार लेने लगे और भारतीयों के मस्तिष्क मे नए विचार और भाव उत्पन्न होने लगे तथा भारत के विभिन्न प्रांत नजदीक आए और सामाजिक समूहों की प्राचीन श्रेणीबद्धता समाप्त होने लगी। जाति व्यवस्था उदार होने लगी और पारंपरिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था ने आत्मनिर्भरता और लगाव की विशिष्टताओं को खो दिया। विवाह और जाति प्रथा में अनेक सुधार किए गए। संयुक्त परिवार बिखरने लगा। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में पुनरुत्थान और पुनर्जागरण आंदोलन प्रारंभ हुए। भारतीय समाज के एक वर्ग ने प्राचीन अंधविश्वासों को त्याग दिया। भारतीयों ने उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाना प्रारंभ कर दिया और विदेश में शिक्षा ग्रहण कर लौटे भारतीय अधिक प्रबल देशभक्त और क्रांतिकारी बने। साहित्य के नए आयाम मिले और नवीन राजनीतिक सिद्धांतों, संगठनों एवं आंदोलनों का आधार तैयार हुआ। संक्षेप में, ब्रिटिश प्रभाव ने भारत को मध्य-युग से निकालकर आधुनिक युग में पहुँचा दिया। इसे हम निम्नलिखित क्षेत्रों में बाँटकर अध्ययन कर सकते हैं -

(प) शिक्षा

(पप) संस्कृति तथा

(iii) सामाजिक जीवन

उपनिवेशवाद का भारत पर प्रभाव

नोट

साम्राज्यवादी देशों ने उपनिवेशवाद के समर्थन में बहुत-सी नैतिक दलीलें दी हैं। इन देशों का कहना है कि औपनिवेशिक शासन के कारण पिछड़े हुए देशों ने ज्ञान व विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति प्राप्त की है। इन देशों में उचित प्रशासन की व्यवस्था की गई तथा उन्हें सभ्य बनाया गया। इसे 'श्वेत मानव का कर्तव्य भार' (white men's burden) कहा जाता है अर्थात् यूरोप की श्वेत जातियों के ऊपर परमात्मा ने यह कर्तव्य-भार लाद दिया है कि वे एशिया और अफ्रीका की पिछड़ी हुई जातियो को आगे बढ़ाएँ। रूडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipking) महोदय का कहना है कि ''परमात्मा का विधान है कि ब्रिटिश जाति भारत के प्रशासन को संचालन करे, विधाता का यह विधान अतर्क्य (Inscrutable) है यानि इस पर कोई बहस नहीं की जा सकती है।'' वास्तव में इस तरह की कहावतें यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों के अहंकार को प्रकट करती हैं। साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। औपनिवेशिक शासन व्यवस्था का भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन निम्नलिखित है -

1. कृषि व ग्रामीण जीवन पर प्रभाव - ग्रामीण जीवन पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है -

(अ) परंपरागत ग्राम्य जीवन का अंत - साम्राज्यों के उत्थान-पतन ने हमाारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को समाप्त नहीं किया था। अंग्रेजों के शासन से पहले गाँवो का जीवन शांतिमय व स्वतंत्र रीति से चलता रहा। गाँवों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी और संतोषजनक थी। सभी गाँव स्वतंत्र और आत्मनिर्भर थे। किसान अपनी भूमि के मालिक थे। खेती-बाड़ी के अतिरिक्त कटाई और बुनाई का काम हर परिवार में घरेलू धंधे के रूप में होता था। सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है, ''ग्राम समुदाय छोटे-छोटे गणतंत्र हैं। अपनी जरूरत की सभी चीजें उन्हें उपलब्ध हैं और विदेशी प्रभाव से ये लगभग मुक्त हैं। राजवंश लुढ़कते रहे, क्रांतियाँ होती रहीं, हिंदू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज बारी-बारी से मालिक बने, पर ग्राम समुदाय यथापूर्व बने रहे।'' अंग्रेजी शासन स्थापना के बाद धीरे-धीरे स्थिति बदल गई। गाँवों का स्वतंत्र व स्वावलंबी जीवन समाप्त हो गया। नए-नए कानून और अदालतों के बन जाने से पंचायतों का महत्व समाप्त हो गया।

(ब) किसानों को जमींदारों के रहम पर छोड़ दिया गया - अंग्रेजों ने इस देश के एक बहुत बड़े हिस्से में जमींदारी प्रथा शुरू कर दी। भू-राजस्व (मालगुजारी) वसूल करने वालों की भूमि का स्थायी स्वामी मान लिया गया। पहले चौधरी लोग या साहूकार राज्य के लिए किसानों से कर तो अवश्य उगाहते थे, परंतु वे भूमि के स्वामी नहीं होते थे। परंतु अब वे भूमि के स्वामी बन गए। पैदावार अच्छी हो या बुरी, सूखा पड़े या अकाल, जमींदार को तो पैसे चाहिए। लगान के नाम पर किसानों के खून का आखिरी कतरा तक निचोड़ दिया गया। जमींदारी प्रथा से अंग्रेजों को दो लाभ हुए -

प्रथम-प्रशासनिक लाभ - अर्थात् उन्हें भूमिकर संबंधी सभी उलझनों से छुटकारा मिल गया। लाखों किसानो से कर वसूल करने की अपेक्षा यह कहीं ज्यादा सुविधाजनक था कि सरकार कुछ हजार जमींदारों से ही अपना आर्थिक रिश्ता रखे।

द्वितीय-राजनीतिक लाभ - अर्थात् भारतीय समाज में अब एक ऐसा वर्ग (जमींदार वर्ग) कायम हो गया जो हर हालत में अंग्रेजों का ही समर्थन करता था। पर जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, अंग्रेजों की इस नीति से देश का किसान दरिद्र बन गया।

2. खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि (प्दबतमेंम पद जीम दनउइमत वि संदकसमे ूवतामते) -

नोट

बहुत से किसानों को उनकी भूमि से बेदखल कर दिया गया। जमींदार के तकाजों को पूरा करने के लिए उन्हें अपने खेत, मवेशी और मकान गिरवी रखकर कर्जा लेना पड़ता था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने 1931 की अपनी एक रिपोर्ट में कहा था कि ब्रिटिश भारत में कुल मिलाकर किसानों की कर्जखोरी लगभग 900 करोड़ रुपए हो गई। 1936 तक ऋण की राशि 1800 करोड़ रूपये हो गई तमिलनाडु, हैदराबाद, आंध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में तो बहुत से किसानो को बाकायदा गुलाम बन जाना पड़ा। कृषि संबंधी राजकीय आयोग (Royal Commission on Agriculture, 1928) की रिपोर्ट के अनुसार ऋण के बदले में उन्हें गुलामी का पट्टा लिखना पड़ता था। दूसरे शब्दों में, उन्हें बंधक बना लिया जाता था। कर्ज के बदले में साहूकार उनसे जो भी काम लेना चाहे, ले सकता था। 17-18 की कमरतोड़ मेहनत के बाद उन्हें भू-स्वामी से मुट्ठी-भर धान या अनाज मिलता था। जो लाग गुलाम नहीं बने, वे खेतिहर कृषि मजदूर बन गए।

3. कृषि जोतों यानी खेतों का आकार घटता गया - ग्रामीण कुटीर धंधे नष्ट हो गए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो लोग पहले अन्य धंधो में लगे हुए थे, वे भी खेती-बाड़ी पर ही निर्भर हो गए। 1981 में देश की जनसंख्या का केवल 61 प्रतिशत भाग खेती-बाड़ी पर निर्भर था, 1911 में लगभग 72 प्रतिशत भाग खेती पर निर्भर हो गया और 1931 के आते-जाते 75 प्रतिशत जनसंख्या खेती में लग गई। फलस्वरूप खेतों का आकार छोटा होता गया। 1936 के आस-पास उत्तर प्रदेश में किसानों के खेतों का औसत आकार क्रमशः 3 व 5 एकड़ के लगभग था। पंजाब अपेक्षाकृत ज्यादा खुशहाल था, वहाँ लगभग 22 प्रतिशत किसान एक एकड़ या उससे कम भूमि जोतते थे।

4. भीषण अकाल - इन सभी कारणों से भारत में बार-बार दुर्भिक्ष (अकाल) पड़े। 1861 में उत्तरी भारत में भीषण अकाल पड़ा। अकाल पीड़ित क्षेत्र की लगभग 9 प्रतिशत जनता मौत के मुंह में चली गई। 1876 के अकाल से सारा उत्तरी भारत, मध्य भारत तथा दक्षिणी भारत पीड़ित था। यह अनुमान लगाया गया कि इस अकाल से लगभग एक करोड़ व्यक्ति काल का ग्रास बन गए। इसी प्रकार 1900 व 1941 में भी भीषण अकाल पड़े।

कृषि की उन्नति और गाँवों के ऋण भार को कम करने के लिए विभिन्न प्रांतों में कृषि विभाग स्थापित किए गए तथा कई स्थानों पर कृषि कॉलेज भी खोले गए। 1929 में एक कृषि अनुसंधान परिषद् की स्थापना की गई। ऋण भार से जूझने के लिए इस तरह के कानून बनाए गए कि महाजन एक निश्चित दर से ज्यादा ब्याज नहीं ले सकेंगे। समय-समय पर दुर्भिक्ष आयोग नियुक्त किए गए और उनके सुझावों के आधार पर अकाल संबंधी नीतियाँ निर्मित की गई। परंतु ये सभी उपाय बहुत कारगर सिद्ध नहीं हो सके।

भारतीय कृषि का उपनिवेशिक स्वरूप - औपनिवेशिक शासन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उपनिवेश साम्राज्यवादी देश के लिए कच्चा माल और अनाज जुटाने का कार्य करते हैं। फलस्वरूप, भारतीय कृषि का स्वतंत्र रूप से विकास नहीं हो सका। अनाज के निर्यात के संबंध में भारतीय हितों की उपेक्षा करके ब्रिटिश हितों को महत्व दिया गया। यहां तक कि भीषण अकाल की स्थिति में भी अनाज भारत से ब्रिटने जाता रहा। इसके अतिरिक्त जमींदारी प्रथा के कारण जमींदारों और साहूकारों के पास अपार संपत्ति संचित हो गई और किसानों तथा भूमिहीन-किसानों की हालात दिन-ब-दिन बिगड़ती गई।

उद्योग एवं व्यापार - हर देश के लिए औद्योगिकरण की आवश्यकता है क्योंकि उससे अर्थव्यवस्था मजबूत बनती है और जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। परंतु भारतीय उद्योग धंधे पिछड़ी हुई स्थिति में है। जैसे-जैसे अंग्रेजों की प्रभुता बढ़ती गई, वैसे-वैसे हमारे परंपरागत उद्योग नष्ट होते गए।

नोट

दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले तथा रमेश चन्द्र दत्त ने भारतीय उद्योगों के विनाश के लिए अंग्रेजों की निम्नलिखित नीतियों को जिम्मेदार ठहराया है –

1. कंपनी के कर्मचारियों का कारीगरों पर अत्याचार – कंपनी के एजेंट भारतीय कारीगरों पर इस बात के लिए दबाव डालने लगे कि वे बहुत साधारण कीमत पर अपना माल उन्हें दे दें। कभी-कभी तो उन्हें लागत से भी कम मूल्य दिया जाता था। कारीगरों को अपने रोजगार की गुप्त बातें बतलाने को बाध्य किया गया। फलस्वरूप बहुत से कारीगरों ने अपना परंपरागत पेशा छोड़ दिया।
2. भारतीय उद्योगों का विनाश – ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैंड को जाने वाले भारतीय माल पर भारी शुल्क लगाने की नीति अपनाई। 1720 में संसद ने यह कानून पास कर दिया कि भारत में निर्मित वस्त्र इंग्लैंड में न तो पहने जा सकेंगे और ना किसी दूसरे काम के लिए इस्तेमाल किए जाएँगे।
3. मशीन से बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता – इंग्लैंड जो अपने उद्योग धंधों की उन्नति के लिए कुछ समय पहले तक संरक्षण नीति का सहारा ले रहा था। अब मुक्त बाजार का समर्थन करने लगा। इस देश में विलायती चीजों की खपत बढ़ाने के लिए उन्होंने मुक्त व्यापार की नीति अपनाई। 1870 में इंग्लैंड से भारत आने वाले माल की कीमत लगभग चार लाख पौण्ड थी जबकि 1850 में लगभग 80 लाख पौण्ड के मूल्य का माल भारत आया। होरेस विल्सन लिखता है, ''यदि भारत में निर्मित वस्तुओं की बिक्री पर रुकावट न होती तो पेजली और मेनचेस्टर की ब्रिटिश मिलें शुरू में ही ठप्प हो जातीं। भाप की ताकत से उन्हें फिर से जीवित करना संभव नहीं होता। भारतीय उद्योग धंधों की बलि चढ़ाकर ही ब्रिटिश उद्योगों की उन्नति की गई।''

उपयुक्त नीतियों के अतिरिक्त दो और ऐसे कारण थे जिससे इस देश की दस्तकारी को नुकसान पहुंचे।

1. ब्रिटिश शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप देशी रियासतों और रजवाड़े समाप्त होने लगे। ये लोग हुनर और उद्योगों को बढ़ावा देते थे। तलवार, भाले, खंजर, ढाल, हाथीदाँत और सोने-चाँदी से बनी वस्तुओं के सबसे बड़े खरीददार ये ही लोग हुआ करते थे। राजदरबारों के उठ जाने से भारतीय दस्तकारों को प्रोत्साहन मिलना बंद हो गया।
2. अंग्रेजी शासन ने इस देश में एक ऐसा सामाजिक वर्ग पैदा कर दिया जो स्वदेशी वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो. गाडगिल ने कहा है, ''ब्रिटिश शासन का एक हानिकारक परिणाम यह है कि गुलाम देश के नागरिक विजेताओं की नकल करने लगते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस देश में एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ जो यूरोप के जीवन स्तर से प्रभावित था। यह वर्ग भारत की हर चीज को घृणा की दृष्टि से देखता था। विलायती फैशन तथा विलायती चीजों का प्रयोग सभ्यता की निशानी बन गए। फलस्वरूप देशी दस्तकारों व धंधों का पतन हुआ।''

आधुनिक उद्योगों का उदय और विकास – औद्योगिक क्षेत्र में चिरकाल तक शिथिलता बनी रही। परंतु धीरे-धीरे औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। अंग्रेजों को देश से कच्चा माल ढोना था। साथ ही ब्रिटेन में बनी वस्तुओं को भारतीय बाजारों तक पहुँचाने में समस्या थी। अतः समुद्री किनारों पर नए-नए औद्योगिक नगर कायम हो गए, जैसे बंबई, कलकत्ता, मद्रास और करांची। इन नगरों का एक दूसरे से मिलाने के लिए रेलगाड़ियों का जाल बिछाया गया। धीरे-धीरे कुछ कल-कारखाने भी

नोट

स्थापित हुए जिनमें जूट और कपड़े की मिलें उल्लेखनीय हैं। 1880 तक भारत में 56 कपड़े की मिलें स्थापित हो गई थीं। इसके अतिरिक्त कोयला खानों से कोयला निकालने का कार्य शुरू हुआ। साबुन, दियासलाई, चमड़ा और अन्य आवश्यक चीजों के कई छोटे-छोटे कारखाने खुले। फलस्वरूप सीमेंट, इस्पात, चीनी और वस्त्र उद्योगों ने बड़ी तेजी से उन्नति की। द्वितीय महायुद्ध के दौरान उद्योगों को और अधिक बढ़ावा मिला। परंतु देश के आकार और जनता की गरीबी को देखते हुए हम नहीं कह सकते कि यह प्रगति संतोषजनक थी।

नवजात उद्योगों की घोर विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा - जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत के नवजात उद्योगों को बाजार में स्थान पाने के लिए घोर विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। भारत के औद्योगिक विकास में निम्नलिखित रुकावटें थीं -

1. विदेशी सरकार ने उद्योग धंधों को संरक्षण देने के बजाय मुक्त व्यापार की नीति अपनाई। इंग्लैंड, जर्मनी और अमेरिका की प्रतियोगिता के सामने भारत का टिक पाना कठिन था।
2. अंग्रेजों की यह नीति कभी नहीं रही कि भारत में लोहे और इस्पात जैसे भारी उद्योगों का विकास हो। फलस्वरूप हमें विदेशों से मशीनों का आयात करना पड़ता। भारत को पूँजी व तकनीकी सहायता के लिए भी विदेशों का मुँह देखना पड़ता था।
3. अधिकांश जनता बहुत गरीब रही है। जब तक लोगों की माल खरीदने की क्षमता न बढ़े तब तक किसी देश का औद्योगिक विकास नहीं हो सकता।

निष्कर्ष - हम पाते हैं कि उपनिवेशवाद के अंतर्गत जहाँ भारतीय हस्तकलाओं का ह्रास हुआ वहीं भारतीय दस्तकारी व्यवस्था लगभग समाप्त होती चली गई। छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों का ह्रास हुआ तथा वहां से रोजगार की समस्या उत्पन्न होने पर इसका दबाव कृषि पर पड़ा तथा लोगों का अतिरिक्त बोझ कृषि-व्यवस्था पर पड़ा, जिससे अदृश्य बेरोजगारी की समस्या हुई। इसके अलावा औद्योगिक क्रांति के कारण भारत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए कच्चे माल की प्राप्ति का स्त्रोत तथा ब्रिटिश तैयार माल के लिए एक बाजार के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा। ब्रिटिश सरकार ने अपनी जरूरतों के मुताबिक आर्थिक नीति में परिवर्तन कर इस उपनिवेश की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया।

1.11 उपनिवेशवाद का भारत की राजनीति पर प्रभाव

जिस प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशवाद का सामाजिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा उसी प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशवाद का भारत के संदर्भ मे राजनीतिक स्वरूप पर भी असर पड़ा। पहले जहाँ भारतीय राज्य अनेक छोटे-छोटे साम्राज्यों मे विभक्त था ब्रिटिश सरकार ने उनका एकीकरण किया तथा भारत के विशाल भूभाग को एक प्रशासन के अंतर्गत लाया। जहाँ पहले विभिन्न प्रकार की प्रथाएँ तथा कानून का प्रचलन था वहाँ अब पूरे साम्राज्य को उपनिवेशवाद के तहत एक कानून की धारा में लाया गया। भारत को विश्व के बदले स्वरूप से परिचित कराया तथा उसे उसके साथ ले चलने का भी काम किया। परंतु यहाँ एक बात स्पष्ट तौर पर स्वीकार करनी पड़ेगी कि इन बातों में एक मर्यादा का पालन किया गया, वो मर्यादा थी उपनिवेशवाद। इस उपनिवेशवाद मर्यादा के तहत ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीय राजनीतिक प्रशासन को भी प्रभावित किया जो निम्नलिखित हैं -

1. उच्च पदों से भारतीयो को वंचित किया जाना - ब्रिटिश संसद ने 1833 में यह विधेयक पास किया था कि भारत के निवासियों अथवा सम्राट् की प्रजा को केवल धर्म, जन्म-स्थान, वंश और रंग के आधार पर ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा। यह

नोट

एक प्रगतिशील विधेयक था, परंतु भारतीयों को जो आश्वासन दिया गया था उसकी कभी पूर्ति नहीं हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यह स्थिति थी कि भारतीय अधिक-से-अधिक डिप्टी कलेक्टर, सहायक मजिस्ट्रेट और अतिरिक्त आयुक्त के पदों तक पहुँच सकते थे। इंजीनियरिंग, मेडिकल तथा अन्य विभागों में भी यही स्थिति थी। इस प्रकार जैसा कि दादाभाई नौरोजी ने कहा है कि, ''भारतीय अपने देश से ही बेगाने बन गए थे भारतीयों की प्रतिभा, बुद्धि और आत्म-बल का देश की उन्नति के लिए प्रयोग नहीं किया जा रहा था।'' इससे देश को तीन तरह की हानियाँ उठानी पड़ रही थीं -

(i) यूरोपीय अधिकारी अपने बचत को तुरंत इंग्लैंड भेज देते थे, जिससे धन का निष्कासन हो रहा था।

(ii) पढ़े-लिखे लोगों को बेरोजगारी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

(iii) देश के बुद्धि कौशल का देश के लिए उपयोग नहीं हो रहा था।

2. भारतीयों को स्वशासन के योग्य नहीं माना गया - 1919 के भारत शासन अधिनियम से पूर्व अंग्रेजों ने कभी भी भारतीयों को स्वशासन के योग्य नहीं माना। 1905 में लॉर्ड मार्ले भारत मंत्री बने थे। उनके सामने जब यह प्रस्ताव रखा गया कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाए, तो उन्होंने इसे 'बेहूदा और भद्दा स्वप्न' बतलाया। 1909 के मार्ले मिंटो सुधार के अंतर्गत विधान-परिषदों के कार्य को तो अवश्य ही विस्तृत कर दिए गए, परंतु किसी भी अर्थ मे और किसी भी क्षेत्र में भारतीयों को प्रशासन की जिम्मेदारी नहीं सौंपी गई। ब्रिटिश संसद में इन सुधारों पर भाषण देते हुए लॉर्ड मार्ले ने कहा, ''यदि सुधारों के विषय में यह अनुमान लगाया जाए कि इनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय सरकार की स्थापना होगी तो मेरा इन सुधारों से कोई वास्तव नहीं।''

3. फूट डालो और राज्य करो - अंग्रेजों की नीति थी फूट डालो और राज करो। 1909 के अधि नियम के अंतर्गत भारतीय मुसलमानों को विधान सभाओं में सांप्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व मिल गया। 1919 के अधिनियम के अंतर्गत भारतीय मुसलमानो को विधान सभाओं में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व मिल गया। 1919 के अधिनियमके अंतर्गत मुसलमानों के अलावा सिक्खों, भारतीय इसाइयों और ऐंग्लों इंडियन समुदाय के सदस्यों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दे दिया गया। ये लोग विध ान मंडल के लिए अपने प्रतिनिधि अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित करते थे। अभिप्राय यह है कि मुसलमान मतदाता केवल मुसलमानों को, ईसाई केवल ईसाइयों को और हिंदू केवल हिंदुओं को वोट देते थे। 1930 के आते-आते स्थिति इतनी बिगड़ गई कि मुस्लिम लीग ने साफ-साफ यह घोषणा कर दी कांग्रेस हिंदुओं की संस्था है तथा यह मुसलमानों के हितों का संरक्षण कदापि नहीं कर सकती। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में अंग्रेजों और अधिकांश मुस्लिम नेताओं का हाथ तो था ही, उसके लिए कुछ हिंदू नेता और साम्प्रदायिक संगठन भी उत्तरदायी हैं।

प्रथम - भारत कर राजनीतिक एकीकरण अंग्रेजों की इस देश की सबसे बड़ी देन थी। इस एकीकरण के तीन मुख्य आधार रहे हैं।

(i) सारे भारत को एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के अंतर्गत लाया गया। फलस्वरूप एक कोने से दूसरे कोने तक एक से नियम व एक से कानून लागे किए जा सकें। प्रो.ए.आर.देसाई - अंग्रेजों द्वारा स्थापित न्याय प्रणाली पुरानी न्याय व्यवस्था की अपेक्षा ज्यादा समतावादी थी।

(ii) यातायात व आवागमन के साधनों को विकसित किया गया। रेल, डाक, तार जैसे साधनों

के द्वारा भारत के विभिन्न भागों के बीच सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संबंध स्थापित किये जा सकें।

(iii) अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार देश भक्तयों की टोली तैयार करने के लिए नहीं किया गया, फिर भी उससे भारत के राजनीतिक एकीकरण में मदद मिली। शिक्षित भारतीयों का आपस में संपर्क बढ़ा।

नोट

द्वितीय - कुछ विद्वानों के मतानुसार भारत को अंग्रेजों की सबसे मूल्यवाद देन निस्संदेह इंडियन सिविल सर्विस थी। इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों की भर्ती और उनके प्रशिक्षणों पर सरकार ध्यान देती थी। भर्ती और प्रशिक्षण के तरीके ऐसे थे कि सरकार को निरंतर योग्य और ईमानदार कर्मचारी मिलते रहे। भारत की स्वतंत्रता के समय सिविल सर्विस के सदस्यों की संख्या लगभग 2000 थी। कुछ राष्ट्रवादी नेताओं का कहना था कि इन लोगों ने राष्ट्रीय आंदोलन की पीठ में छुरा घोंपा है और ये लोग सदा अंग्रेजों के ही पिट्ठ बने रहे। परंतु नेहरू और पटेल सिविल सर्विस के कर्मचारियों के गुणों को पहचानते थे। वे जानते थे कि लोग प्रशासन में बहुत दक्ष हैं तथा प्रांतीय दृष्टिकोण से नहीं बल्कि सारे भारत की दृष्टि से सोचते और कार्य करते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इंडियन सिविल सर्विस को लौह ढाँचे के नाम से पुकारा जाता था। कानून बनाना और नीति निर्धारित करना राजनीतिक नेताओं का काम है, परंतु इन नीतियों को चलाने वाले ईमानदार और कार्यकुशल न हों तो कुछ भी काम नहीं चल सकता। स्वाधीनता के बाद भारत सरकार ने इंडियन सिविल सर्विस से ही मिलती-जुलती एक अखिल भारतीय सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा का गठन किया।

समीक्षा - निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन का प्रभाव विनाशकारी और अस्थिरकारी था, परंतु कुछ क्षेत्रें में वह एकीकरण और साहचर्य भी लाया। अंग्रेजी शिक्षा दीवानी व फौजदारी कानूनों तथा सिविल सर्विस के लौह ढाँचे के कारण देश की एकता बहुत पुष्ट हो गई। इसके अतिरिक्त 1919 से लेकर 1946 तक भारतीयों को उत्तरदायी शासन की अच्छी शिक्षा मिल गई थी। संससद के कार्य-व्यवहार से उनका खूब परिचय हो गया था। इसलिए भारत की स्वतंत्रता के बाद इस देश का राज-भार सँभालने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई।

1.12 औपनिवेशिक शासन का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

1757 के बाद का युग राजनीतिक उतार-चढ़ावों और आर्थिक अधोपतन का युग था। इन दिनों सामाजिक दृष्टि से भी कई परिवर्तन हुए। कई पुरानी सामाजिक मान्यताएँ समाप्त हो गई तथा नई मान्यताओं ने अपना स्थान ग्रहण किया। कई पुरानी कुप्रथाओं की समाप्ति हुई तथा नई प्रकार की अन्य कई प्रथा जिसे भारतीय समाज पर अभिशाप ही समझा जाएगा का प्रचलन शुरू हुआ। भारतीयों में आपसी समझदारी का रिश्ता कायम हुआ तथा आपस में ये लोग सामाजिक स्तर पर नजदीक आए, अन्य प्रभाव निम्नलिखित हैं -

1. नए सामाजिक वर्गों का उदय - नई आर्थिक व्यवस्था ने कुछ नए सामाजिक वर्गों को जन्म दिया। नए वर्ग मुख्यत: ये थे - जमींदार, काश्तकार, खेतिहर, मजदूर, पूँजीपति, श्रमिक, व्यापारी वर्ग तथा पेशेवर लोग जैसे डॉक्टर, वकील, पत्रकार, अध्यापक, मैनेजर व क्लर्क आदि। जमींदार वर्ग का उदय अंग्रेजी शासन काल में ही हुआ। काश्तकार वे लोग कहलाए जो खेती-बाड़ी तो करते थे पर भूमि के मालिक नहीं होते थे। वे जमींदारों से लगान पर जमीन लेकर खेतों की जुताई व बुआई

नोट

किया करते थे। नए उद्योगों और कारखानों की स्थापना ने पूँजीपति व मजदूर इन दो नए वर्गों को जन्म दिया।

2. अंग्रेजों ने अनुदार वर्गों का समर्थन किया – अंग्रेजों ने अनुदार व प्रतिक्रियावादी वर्गों का समर्थन करने की नीति अपनाई। उन्होंने धनी व्यापारियों, साहूकारों, जमींदारों और देशी रजवाड़ो को अपनी मुट्ठी में रखा। 1857 के विद्रोह का नेतृत्व असंतुष्ट राजाओं, नवाबों और जमींदारों ने किया था। विद्रोह के दमन के बाद जमींदारों ने इन वर्गों के साथ मित्रता व सहयोग की नीति अपनाई।

3. सरकार तथा सामाजिक सुधार – शुरू में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के सामाजिक व धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति उदारता का भाव दिखाया। यहाँ तक कि ईसाई मिशनरियो के कार्य में भी उन्होंने रुचि नहीं दिखाई। परंतु राजाराममोहन राय जैसे महापुरुषों के प्रयासों के कारण समाज-सुधार संबंधी कुछ कानून अवश्य बने।

4. अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत – मद्रास और बंगाल मे अंग्रेजी शिक्षा के प्रारंभ का श्रेय ईसाई मिशनरियों को है। परंतु अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का क्रम विशेष रूप से 1835 के बाद शुरू हुआ। विधि-मंत्री मेकाले जब शिक्षा समिति का अध्यक्ष बना तो उसने यह निर्णय लिया कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार अंग्रेजो ने अपनी प्रशासनिक व व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया था।

5. जात-पात और साम्प्रदायिकता की समस्या – जाति-प्रथा बहुत प्राचीन है। संभव है कि अतीत में यह एक आदर्श संस्था रही है परंतु बाद में दूषित हो गई और छुआछुत का कारण बनी। नए-नए सामाजिक विचार जाति के बंधन को ढीला कर रहे थे, परंतु कुछ अंग्रेज प्रशासकों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि जात-पात का भेद बनाए रखने मे अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ रहा। जनगणना अधिकारी श्री मिडलटन ने 1921 में यह कहा कि ''जनगणना करते समय इस बात पर बहुत बल दिया जाता है कि किसी व्यक्ति की जाति क्या है। यदि कोई अपनी जाति न बताए तो उसके पेशे को ही उसकी जाति मान लिया जाता है।'' शायद सुनार व जुहार ऐसी ही जातियाँ हैं। इसी प्रकार हिंदू-मुस्लिम साम्राज्य को बढ़ावा देने में अंग्रेजों का विशेष हाथ रहा है। मुगल साम्राज्य के पतन से भारतीय मुसलमानों को गहरा धक्का लगा था, क्योंकि उन दिनों सेवा के प्रशासन के सभी उच्च पद उन्हें प्राप्त थे।

6. अंग्रेजों का आत्म उच्चता का भाव – अंग्रेज इतिहासकारों ने अपनी पुस्तकों के द्वारा अपनी उच्चता का प्रचार किया। वे अंग्रेजी राज्य की स्थापना की 'बर्बरता पर सभ्यता की विजय' कहते थे। अंग्रेज इतिहासकार सीले ने कहा है हमने लुटेरे देशी शासकों से भारतीयो की रक्षा के लिए ही भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। मैकाले विन्सेंट स्मिथ तथा डाडग्गैल आदि इतिहासकारों ने भी भारतीयों की परंपराओं, उनके रीति-रिवाजों, भारतीय महापुरुषों और धार्मिक रस्मों की निंदा की। वे भारतीयों को अर्ध नीग्रो समझते थे। परिणाम यह हुआ कि हम अपने घर में ही बेगाने हो गए। सार्वजनिक स्थानों जैसे विश्रामघर, पार्कों और सड़कों पर भी भारतीयों के साथ दूसरे दर्जे का व्यवहार किया गया।

समीक्षा – हम पाते हैं कि जहाँ औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत हमारे सामाजिक जीवन में विषमता आई, तथा धीरे-धीरे हमारे समाज में वर्ग, धारणाएँ अधिक प्रबलता के साथ हावी होती गई और मुख्यत: सर्वप्रथम दो वर्ग हमारे सामने प्रकट हुए। एक वर्ग वो जो अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग तथा सत्ता-संसाधन के अधिक निकट था। दूसरा वर्ग जो गरीब तबका का था, जिनको प्रथम वर्ग के लोग हेय की दृष्टि से देखते थे, इसके अलावा हम यह भी पाते हैं कि ये दोनों वर्ग लगभग हर

जाति मे वर्तमान थे। साम्प्रदायिकता की समस्या की जो कुरूपता हमारे सामने उत्पन्न हुई, वह भी हमारे औपनिवेशिक शासन की ही देन है। इसके अलावा अन्य बहुत सारी समस्याओं का जन्म इसी शासन के अंतर्गत हुआ। परंतु इसके अलावा इसका दूसरा पहलू भी है कि राष्ट्रीयता का उद्‌भव, भारत की एकीकरण तथा शिक्षित समुदायों का उदय तथा शिक्षा क क्षेत्र में जो उन्नति हुई यह भी औपनिवेशिक शासन की देन है। कई तरह की कुप्रथा जो कि अनंत काल से चली आ रही थी उसका खात्मा इसी शासन के दरम्यान हुआ।

नोट

1.13 उपनिवेशवाद का भारत या शिक्षा पर प्रभाव

यद्यपि भारत का शासन 1857 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों में रहा, परंतु इस अधिकार को तोड़ने की मांग बहुत पहले की जा चुकी थी। आर.पी.दत्त के अनुसार, ''वास्तव में भारत पर ब्रिटिश-सरकार की प्रभुसत्ता 1773 के रेग्युलेटिंग एक्त द्वारा स्थापित हो चुकी थी और कंपनी की विशेष आर्थिक भूमिका और एकाधिकार का अंत भी 1833 में हो गया था। व्यापारियों की किसी भी एकाधिकार प्राप्त कंपनी की तरह ईस्ट इंडिया कंपनी का मौलिक उद्‌देश्य भी इस देश में बनी वस्तुओं पर एकाधिकार कर मुनाफा कमाना था।''

1857 के बाद नीति में परिवर्तन - 1957 के 'भारत सरकार अधिनियम' द्वारा न केवल कंपनी के शासन को समाप्त कर सम्राट् के शासन की प्रत्यक्ष स्थापना की गई बल्कि भारत में ब्रिटिश सरकार के शासन के उद्‌देश्य में परिवर्तन आया।

1857 के विद्रोह के कारण, कंपनी के विरोध के बावजूद कंपनी का शासन समाप्त करने और भारत सरकार को सम्राट के अधीन करने के पक्ष में आम सहमति हो गई। कंपनी की यह दलील थी कि केवल वह ही इस विद्रोह के लिए जिम्मेदार न थी क्योंकि निर्णायक शक्ति पहले से सम्राट के पास थी और न ही यह नई व्यवस्था इंग्लैंड के इतिहास मे कोई नई बात थी। इस प्रकार की व्यवस्था अमेरिका आदि के संदर्भ में अपनाई गई थी। 1857 ई में ब्रिटिश संसद द्वारा एक बिल पास किया गया जिसे 'भारत सरकार अधिनियम 1858' के नाम से जाना जाता है।

भारत सरकार अधिनियम, 1858-1858 अधिनियम की प्रमुख धाराएँ निम्नलिखित थीं -

1. शासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश सम्राट् के हाथ में चला गया और कंपनी की सेना ब्रिटिश सम्राट् के अधीन हो गई। गवर्नर जनरल वायसराय के नाम से जाना जाने लगा।
2. बोर्ड ऑफ कंट्रोल और कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स नामक संस्थाओं को समाप्त कर दिया गया और उनकी शक्तियाँ सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया और उसकी सभा इंडिया कौंसिल को सौंप दी गई।
3. भारत मंत्री - ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य था और ब्रिटिश संसद में बैठता था। वह इंडिया कौंसिल का सभापतित्व करता था और उसे निर्णायक मत देने का अधिकार था। इंडिया कौंसिल 15 सदस्यों की एक समिति थी जिसके सात सदस्य कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा चुने जाते थे। शेष आठ सम्राट् द्वारा नियुक्त किए जाते थे और वे तब तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक उनका आचरण ठीक रहे।
4. इंडिया कौंसिल एक असैनिक और राजनीतिक संस्था थी जिस पर इंग्लैंड की सरकार में परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं था। इंडिया कौंसिल को गवर्नरों जनरल की परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त था।

5. प्रत्येक वर्ष भारत मंत्री को एक रिपोर्ट भारत में राजस्व, रेलवे, कानून-निर्माण आदि के बारे मे कॉमन सदन के समक्ष प्रस्तुत करनी थी।

नोट

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1858 के अधिनियम पास होते ही ब्रिटिश संसद का नियंत्रण भारत पर पड़ने की बजाया कम हो गया और सारी शक्ति भारत मंत्री के हाथ में चली गई जो कि संसद के प्रति उत्तरदायी था, यद्यपि संसद यह समझती रही कि वास्तविक शक्ति उसी के पास है क्योंकि भारत मंत्री मंत्रिमंडल का सदस्य होने के नाते उसी के अधीन है। भारत मंत्री सीधे वाइसराय के साथ संबंध रखता था। इस प्रकार संसद् भारत मंत्री का मार्गदर्शन करने के बजाय स्वयं उसकी नीति और राय को महत्व देती थी।

1.14 महारानी विक्टोरिया द्वारा घोषणा

इस अधिनियम के पूरक के रूप में, 1 नवंबर, 1858 को महारानी विक्टोरिया का एक घोषणा-पत्र निकला जिसके द्वारा भारतीय राजाओं और लोगों में यह ऐलान किया गया कि भारत की सत्ता महारानी के हाथों में चली गई। यह घोषणा बड़ी संयत भाषा में की गई जिसमें उदारता, मित्रता और न्याय की भावना की झलक थी। इस घोषणा में निम्नलिखित बातें कहीं गई -

1. भारतीय नरेशों को यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार का अपने साम्राज्य में विस्तार करने का कोई इरादा नहीं है। उन्हें यह विश्वास दिलाया गया कि उनके सीमा क्षेत्रों को कोई खतरा नहीं है। यद्यपि उनकी सेनाओ को सीमित कर दिया गया और उनके लिए विदेशी शक्तियों से संबंध रखने की मनाही कर दी गई। यह आश्वासन इसलिए दिया गया कि क्योंकि केनिंग के अनुसार 1857 के उग्र आंदोलन मे राजकुमार विद्रोह की लहर ने अंग्रेजों का सफाया कर दिया होता।
2. ब्रिटिश सरकार भारतीयों के धार्मिक विचारों, विश्वासों और पूजा के तौर-तरीकों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी और उनके रीति-रिवाजों को उचित सम्मान दिया जाएगा।
3. महारानी ये यह भी घोषणा की कि जहाँ तक संभव होगा भारतीयों को योग्यता और ईमानदारी के आधार पर सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाएगा।
4. ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा की गई संधियों और समझौतों का पालन किया जाएगा।
5. उन लोगों को जिन्होंने ब्रिटिश नागरिकों की हत्या नहीं की, क्षमादान दे दिया जाएगा।

यह घोषणा 60 वर्षों तक भारत में ब्रिटिश नीति का आधारशिला बनी रही।

1858 का भारतीय अधिनियम आमतौर पर ब्रिटिश सरकार की व्यवस्था से संबंधित था और इस अधिनियम द्वारा भारत सरकार के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं लाया गया। इसलिए वायसराय ने इस संबंध मे कुछ कदम उठाने आवश्यक समझे।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1861 - 1861 के अधिनियम के महत्व के बारे में गुरुमुख निहालसिंह का कहना है कि यह अधिनियम भारत के सांविधानिक इतिहास में दो मुख्य कारणों से महत्वपूर्ण है, प्रथम 7 इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह भारतीयों को कानून निर्माण में सहयोगी बना सकें।

दूसरा - इस अधिनियम ने बंबई और मद्रास की सरकारों को विधायी शक्ति देते हुए और दूसरे प्रांतों मे भी इसी प्रकार की परिषद्ों का निर्माण के लिए उपबंधित करके विधायी विकेन्द्रीकरण की नीति

की नींव रखी जिसके परिणामस्वरूप 1937 में प्रांतों ने पूर्ण आंतरिक स्वायत्ता प्राप्त की।

इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं –

1. वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् मे एक और पाँचवाँ कानून (पेश का) सदस्य शामिल किया जाएगा।
2. कम-से-कम 6 और अधिक-से-अधिक 12 अतिरिक्त सदस्यों को शामिल कर कार्यकारिणी परिषद् के अधिकारों में वृद्धि की जाएगी। इन सदस्यों को कानून-निर्माण में सहायता के लिए वाइसराय द्वारा नामजद किया जाएगा।
3. आधे से कम अतिरिक्त सदस्य गैर-सरकारी नहीं होंगे और दो साल तक अपने-अपने पद पर रहेंगे।
4. वाइसराय को यह अधिकार दिया गया कि वह कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को उनके विभाग सौंप सके और महत्वपूर्ण कार्य करने की शक्ति प्रदान कर सके (सिवाय अति महत्वपूर्ण विषयों के) ताकि विकेन्द्रीयकरण से कार्यक्षमता में वृद्धि हो।
5. वाइसराय को यह अधिकार दिया गया कि वह कानून-निर्माण हेतु नए प्रांतों का निर्माण कर सके और नियुक्त कर सके।

नोट

कौंसिल की वास्तविक स्थिति – इन कौंसिलों के पास केवल विधायी शक्तियाँ थीं और इन्हें कार्यकारिणी के कार्यों की चर्चा का अधिकार नहीं था। इनकी स्थिति भारतीय राजाओं के दरबारों जैसी थी जो कि परंपरागत रूप से अपनी जनता के विचारों को प्रभावित करने के लिए बुलाए जाते थे। यद्यपि इस अधिनियम द्वारा प्रदान की गई विधायी शक्तियों पर कई नियंत्रण लगाए गए थे (जैसे कोई भी बिल वाइसराय की पूर्व स्वीकृति के बिना पेश नहीं किया जा सकता था, उसे वीटो का अधिकार भी प्राप्त था, आदि) फिर भी इस अधिनियम को भारत को सांविधानिक विकास में स्मरणीय समझा जाता है क्योंकि इसके द्वारा भारतीयों को सरकार की उच्चतर परामर्शदात्री सभाओं में प्रवेश प्राप्त हुआ।

भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम, 1861 – 1861 में ही ब्रिटिश संसद द्वारा दो और महत्वपूर्ण अधिनियम पास किए गए। पहले अधिनियम का नाम 'भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम', 1861 था जिसका सबसे मुख्य उद्देश्य अतीत में शीघ्रता में की गई कुछ नियुक्तियों का कानूनी रूप देना और महत्वपूर्ण पदों को प्रतिवचनबद्ध असैनिक सेवा के सदस्यों को सुरक्षित रखना था। प्रत्याशियों के लिए अधिकतम आयु की सीमा को घटाकर 21 वर्ष कर दिया गया और इसके बाद सम्राज्ञी द्वारा किए गए वायदों का उल्लंघन करते हुए यह सेवा भारतीयों के लिए लगभग बंद कर दी गई।

भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 – एक दूसरा अधिनियम जो इसी वर्ष पास किया गया, भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 था। इस अधिनियम द्वारा सम्राट् को यह शक्ति प्राप्त हो गई कि वह उच्चतम न्यायालयों और सदर दीवानी तथा फौजदारी अदालतों को समाप्त कर कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालयों की स्थापना कर सके। प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और 15 से अधिक न्यायाधीश नहीं हो सकते थे। इन न्यायालयों को उन सभी न्यायालयों को जो इनके अपीली क्षेत्राधिकार में आते थे, पर्यवेक्षण (निगरानी) करने का अधिकार था।

भारत सरकार अधिनियत, 1869 – बाद के कुछ लिखित विधेयकों द्वारा 'भारतीय परिषद् अधिनियम', 1861 के सार और ढाँचे में काफी परिवर्तन लाए गए। सरकार के ढाँचे में पहला परिवर्तन 'भारत सरकार अधिनियम, 1869 द्वारा लाया गया जिसके द्वारा भारत मंत्री को यह भी अधिकार मिला कि

नोट

वह इंडिया कौंसिल के सदस्यों की अवधि 'जब तक उनकी आचरण ठीक रहे' से घटाकर 10 वर्ष कर सके। 1879 में भारतीय सरकार ने अपने पत्र में ब्रिटिश सरकार को यह सुझाव दिया कि प्रतिवचनबद्ध सिविल सेवा भारतीयों के लिए बिल्कुल समाप्त कर दी जाए। इस सुझाव को रैमसे मैकडोनल्ड ने शर्मनाक कहा। इसके स्थान पर यह सुझाव दिया कि वाइसराय को अधिकार दिया जाए कि वे प्रतिवर्ष 'अच्छे परिवारों' के कुछ लोगों को नियुक्त कर सके। इसके विरोध में भारत में एक आंदोलन हुआ जिसके परिणामस्वरूप लॉर्ड डफरिन की सरकार ने 1886 में एक सेवा-आयोग नियुक्त किया।

इलबर्ट बिल

वाइसराय लॉर्ड रिपन का लोकप्रिय शासन जिस घटना से दूषित हुआ उसे 'इल्बर्ट बिल' के नाम से जाना जाता है। सर पी.पी.इलबर्ट वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् में विधि सदस्य थे। उस समय के प्रचलित कानून के अनुसार प्रेसीडेंसी नगरों से बाहर रहने वाले यूरोपियनों पर केवल यूरोपीय मजिस्ट्रेटों, जजों द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता था। इससे केवल असुविधा उत्पन्न होती थी, बल्कि इससे भारतीय मजिस्ट्रेटों की शक्ति में कमी होती थी और यह 'कानून के शासन' के भी विपरीत था। इसलिए लॉर्ड रिपन ने यह निर्णय किया कि नस्ल पर आधारित इस भेदभाव को समाप्त कर दिया जाए और इसके लिए उन्होंने 1883 ई में (गृह) सरकार से सहमति प्राप्त कर सर इलबर्ट द्वारा एक बिल पुन: स्थापित करवाया। इस पर इसके विरोध में यूरोपियनों द्वारा सब जगह हो-हल्ला किया गया। यद्यपि यह बिल एक अच्छे प्रयोजक का समर्थक था और परंतु पूरे समुदाय ने इस बिल का विरोध किया चाहे प्रत्यक्ष रूप से वे प्रभावित होने वाले नहीं थे। कलकत्ता के व्यापारी जिनकी इस बिल में कोई रुचि नहीं थी, उतने ही प्रचंड थे, जितने बिहार के बागान मालिक। रिपन के उत्सवों को बहिष्कृत किया गया और उनका अपमान किया गया।

इलबर्ट बिल पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया

ब्रिटिश समुदाय द्वारा इसका व्यापक विरोध किया गया। डेढ़ लाख रुपए की राशि एकत्र की गई और ऐंग्लो-इंडियन द्वारा कलकत्ता के टाउन हॉल में एक बड़ी बैठक बुलाई गई जिसमें दिए गए भाषण इतने असंयत थे कि वे मर्यादा की सभी सीमाओं को पार कर गए। प्रेसीडेंसी के सभी स्थानों पर इसी प्रकार की सभाएँ की गई और ऐंग्लो-इंडियन प्रेस, विशेष रूप से 'इंग्लिश मैन' नाम का अखबार अपना सारा संयम खो बैठा इस अभियान की एक और विचित्रता यह थी कि स्वयंसेवकों को खुले रूप से सामूहिक तौर पर अपना त्यागपत्र देने के लिए उकसाया गया और कुछ लोगों ने कैंटीनों में अपने विचार प्रकट किए। अगस्त 1883 में ब्रिटिश भारत सरकार ने भारत-मंत्री से बिल में संशोधन करने की आज्ञा प्राप्त की। इस संशोधन के अनुसार इलबर्ट बिल के द्वारा प्रदान की गई शक्तियों का प्रयोग केवल जिला मजिस्ट्रेट और सेशन जज ही कर सकते थे परंतु विरोधियों को ये संशोधन मान्य नहीं थे। अंत में एक समझौते का आयोजन किया गया जिसे 1884 के तृतीय अधि नियम में स्थान दिया गया। इस समझौते के अनुसार केवल भारतीय जिला मजिस्ट्रेटों और सेशन जजों को यूरोपियन पर मुकदमा चलाने का अधिकार दिया गया परंतु इस शर्त पर कि यूरोपियन छोटे-छोटे केसों में ज्यूरी की माँग कर सकते थे। इन ज्यूरियों को कम-से-कम आधे सदस्यों का यूरोपीय अथवा अमरीकी होना आवश्यक था।

स्थानीय प्रशासन

वित्तीय विकेन्द्रीकरण से जुड़ा हुआ एक अन्य कार्य स्थानीय विकास को बढ़ावा देना था। इसके लिए 1870 में लॉर्ड मेयो द्वारा एक प्रस्ताव पास किया गया और यह आशा की गई कि इस प्रस्ताव

नोट

द्वारा अधिक-से-अधिक लोगों को सरकार के कार्य में शामिल करने, म्युनिसिपल सभाओं को मजबूत करने और स्थानीय स्वशासन को बढ़ाने के अवसर प्राप्त होंगे। चूँकि परिणाम अच्छे निकले थे इसलिए 1882 ई में एक और अधिनियम पास किया गया। जो कि स्थानीय स्वशासन की ओर एक प्रभावशाली कदम था। इस प्रस्ताव के निम्नलिखित कारण थे -

1. न केवल कस्बों और नगरों में बल्कि सारे देशों में स्थानीय बोर्ड विकसित किए जाने थे। ग्रामीण क्षेत्रों में इन्हें स्थानीय सलाहकार समितियों का स्थान लेना था और प्रभावशाली बनने के लिए इनका क्षेत्राधिकार बहुत बड़ा नहीं होना था।
2. इस प्रस्ताव द्वारा यह निर्धारित किया गया कि किसी भी हालत में सरकारी एक तिहाई से अधिक नहीं होंगे और गैर-सरकारी सदस्य दो वर्ष तक ही रहेंगे।
3. गवर्नर जनरल ने यह सिफारिश की कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार चुनाव के अलग-अलग ढंग अपनाए जाएँ।
4. प्रतिष्ठित लोगों को आकर्षित करने के लिए बोर्डों के भारतीय सदस्यों के नामों के साथ उनकी अवधि के दौरान 'रायबहादुर' और 'खानबहादुर' जैसी सामाजिक उपाधियाँ लगाई जानी थीं।
5. गवर्नर जनरल का आदेश था कि जहाँ तक हो सके, स्थानीय बोर्डों के अध्यक्ष गैर-सरकारी सदस्य हों ताकि वे कार्य में वास्तविक रूचि लें, प्रभावशाली हों और कार्यकारिणी से भयभीत न हों।

भारतीय कौंसिल अधिनियम, 1892 - 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पहले भारत में ऐसी कोई संस्था न थी जो निरंतर प्रभावशाली ढंग से 'भारतीय कौन्सल अधिनियम, 1861' में सुधारों की माँग कर सके यद्यपि बंबई एसोसिएशन (1871), 'पूना सार्वजनिक सभा' (1874, 1876, 1882, 1884) और ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन (1880) जैसी संस्थाओं ने 1861 के अधिनियम की त्रुटियों की ओर समय-समय पर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था और उसमें सुधार और विस्तार की आवश्यकता पर भी बल दिया था। जहाँ एक ओर स्वयं ब्रिटिश वायसरायों - लॉर्ड मेयो (1873), लॉर्ड नार्थब्रुक (1872), लॉर्ड रिपन (1881) और लॉर्ड डफरिन (1886) का भी ध्यान प्रशासन में भारतीय लोगों के प्रतिनिधित्व के अभाव की ओर हेनरी मैन जैसे इसके विरोधी मौजूद थे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार कौंसिलों में विस्तार के लिए तत्पर थी फिर भी वह एक मौलिक बात यानी चुनाव सिद्धांत के पक्ष में न थी। प्रधानमंत्री लॉर्ड सैलिसबरी के अनुसार चुनाव की माँग को मानना अपने शत्रुओं को वस्त्र देने के समान था। इसलिए अपनी सिफारिशों में 1888 में नियुक्त कमेटी ने भी सर्वसम्मति से यह सिफारिश की थी कि निर्वाचकों में म्युनिसिपल कमेटियाँ, लोकल बोर्ड और विश्वविद्यालयों की सीनेट के सदस्य और स्नातक शामिल होंगे। इसी प्रकार कमेटी ने भारत के महत्वपूर्ण हितों के प्रतिनिधियों को भी शामिल करने की सिफारिश की जैसे -

(i) वंशानुगत कुलीन और जमींदार वर्ग।

(ii) व्यापारी और पेशेवर वर्ग।

(iii) यूरोपीय वर्ग के व्यापारी तथा बागानों के मालिक और

(iv) स्थायी प्रशासन के हित।

इस पृष्ठभूमि और वातावरण में भारतीय कौंसिल अधिनियम 1892 पास किया गया। इस अधिनियम के निम्नलिखित उपबंध थे।

नोट

1. विधायी कौंसिल के कार्यों में वृद्धि की गई और कुछ परिस्थितियों मे उन्हें बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया अर्थात् सदस्यों को सरकार की वित्तीय नीति की आलोचना का अधिकार मिल गया।
2. कौंसिल के सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे 6 दिन का नोटिस देने के बाद सार्वजनिक हित के मामलों पर सरकार से प्रश्न पूछ सकते थे।
3. कौंसिलों मे अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। इनकी संख्या उच्चतम कौंसिल मे 10 से 16 के बीच और मद्रास और बंबई में 8 से 20 के बीच होनी थी।
4. अतिरिक्त सदस्यों का 2/5 गैर सरकारी होना था।
5. कांग्रेस के दबाव के कारण सरकार चुनावो के लिए मान तो गई परंतु यह शर्त लगाई गई कि चुने सदस्य कौंसिलों में अपना स्थान सरकार द्वारा मनोनीत किए जाने पर ग्रहण करेंगे।

भारतीय कौंसिल अधिनियम 1892 का विश्लेषण

यद्यपि 1892 का अधिनियम एक लंबे वाद-विवाद और धैयपूर्ण प्रतीक्षा का परिणाम था, परंतु इस अधिनियम द्वारा भारतीयों को कोई ठोस लाभ प्राप्त नहीं हुआ। सर्वप्रथम चुने हुए व्यक्ति विधान पालिकाओं में अपने चुने हुए व्यक्ति विधान पालिकाओं में अपने चुने जाने के अधिकार के बल पर स्थान ग्रहण नहीं कर सकते थे जब तक कि सरकार उन्हे मनोनीत न कर दे। लॉर्ड सैलिसबरी ने चुनाव के सिद्धांत की अनुपस्थिति का औचित्य निम्न शब्दों मे व्यक्त किया, ''चुनाव सिद्धांत अथवा प्रतिनिधिक सरकार पूर्वी विचारधारा नहीं है और न ही यह पूर्वी परंपराओं अथवा पूर्वी चिंतकों के संदर्भ में सही बैठती है।'' दूसरे, सदस्य पूरक प्रश्न भी नहीं पूछ सकते थे। तीसरे, चुनाव के नियम अन्यायपूर्ण होने के कारण कुछ वर्गों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था और कुछ को बिल्कुल नहीं। चौथे, गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या कम थी। पाँचवें, पंजाब को न तो वायसराय की कौंसिल में और न ही स्थानीय कौंसिल में प्रतिनिधित्व दिया गया। छठे, आलोचक के अनुसार यह अधि नियम सरकारी विचार (जो कौंसिलों को पॉकेट विधान पालिकाएँ समझता था) और शिक्षित भारतीय विचार (जो उन्हें अपत्यिक्त संसद समझता था) के बीच एक समझौता था। सातवें, पर फिरोजशाह मेहता के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने यह सोचकर कि भारतीय और अधिक सुधारों एवं अधिकारों की मांग करेंगे, शुरुआत कम-से-कम देकर की थी। एक ब्रिटिश संसद सदस्य श्वान ने इस वृद्धि को 'बहुत तुच्छ और दयनीय वृद्धि' की संज्ञा दी।

भारत कौंसिल अधिनियम 1909 - इस अधिनियम के मुख्य उपबंध निम्नलिखित थे -

1. प्रथम बार भारतीयों को भारत मंत्री की इंडिया कौंसिल और वायसराय की कार्यकारिणी कौंसिल में स्थान दिया गया। यह कार्य 1906 से मुसलमानों और दूसरे लोगों के विरोध के कारण टाला जा रहा था।
2. इस अधिनियम द्वारा विधायी कौंसिलों के आकार को बढ़ा दिया गया। गवर्नर जनरल की कौंसिल और प्रांतीय कौंसिलों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। लॉर्ड मार्ले के अनुरोध पर केन्द्रीय विद्यायी कौंसिल में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाए रखा गया जो 32 गैर-सरकारी सदस्यों के मुकाबले 37 था।
3. प्रांतीय विधायी कौंसिलो मे यद्यपि गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत था परंतु उनमे से कुछ को मनोनीत किया जाना था ताकि सरकार इन मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों की सहायता से कार्यवाहन बहुमत बनाए रख सके। दूसरे शब्दों में, कौंसिलों में सदस्यों के तीन वर्ग थे।

नोट

4. इस अधिनियम द्वारा भिन्न-भिन्न हितों, वर्गों और समुदायो को पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व के लिए उपबंधित किया गया। शेष सीटें नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों में बाँट दी गई जिन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्र कहा गया।
5. विधायी कौंसिलों के कार्यों में वृद्धि कर दी गई। बजट पर बहस के लिए नियमों मे ढील दी गई।
6. सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने की आज्ञा दे दी गई।
7. सदस्यों को प्रस्ताव प्रस्तुत करने की शक्ति दी गई यद्यपि अध्यक्ष इसके लिए इंकार कर सकता था।
8. विधायी कौंसिलों में ऐसे विषयों के अतिरिक्त जिनसे सरकार के संबंध विदेशी शक्तियों से या भारतीय राजाओं से खराब होते हों या जो विषय न्यायालयों के समक्ष हों शेष सभी सार्वजनिक हित के विषयों पर सदस्यों की चर्चा करने की शक्ति प्राप्त हो गई।
9. इस अधिनियम द्वारा बंबई, कलकत्ता, बंगाल और मद्रास की कार्यकारिणी कौंसिलों मे सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 4 कर दी गई और सरकार को यह शक्ति प्राप्त हो गई कि वह लेफ्टीनेंट गवर्नर के किसी प्रांत मे कार्यकारिणी कौंसिल की स्थापना कर सके।
10. प्रांतों मे विधान पालिकाओं का चुनाव विश्वविद्यालयों की सीनेटों, जमींदारों, जिलों, बोर्डो, नगर पालिकाओं, व्यापार मंडलों द्वारा किया जाना था।
11. राजाध्यक्षों को राजनीतिक अपराधियों की चुनाव संबंधी अयोग्यताओं को दूर करने की शक्ति दी गई।

ऊपर के उपबंधों के अतिरिक्त इस अधिनियम में एक और उद्देश्य की भी घोषणा की गई थी और वह यह कि गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक भारतीय को नियुक्त किया जाए। यह एक ऐसा सुझाव था जिसके विरोध में सारी परिषद् थी और जिसे सम्राट् ने यह जानकर अनुमति दी थी कि पूरा मंत्रिमंडल इसके पक्ष में है।

चुनाव-व्यवस्था द्वारा हिंदू-मुसलमानों में भेदभाव

जहाँ तक मतदाताओं के लिए योग्यता का प्रश्न है, जमींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों में हिंदू और मुसलमानों के लिए अलग-अलग योजनाएँ निर्धारित की गई और औरतों को मत देने का अधिकार दिया ही नहीं गया। केवल वे जमीन मालिक जिनकी एक निश्चित आमदनी थी, या जो कम-से-कम निध र्रित सीमा तक राजस्व देते थे, या जिन्हें ऊँचे पद प्राप्त थे, या जिन्हें अवैतनिक सम्मानार्थ पद प्राप्त थे, मद दे सकते थे। हिंदुओं के साथ किस प्रकार अन्याय किया गया, इसकों संकेत इस बात से मिलता है कि पूर्वी बंगाल में मतदाता बनने के लिए एक हिंदू के लिए राजस्व देने की सीमा 5000 रुपए थी और एक मुसलमान के लिए केरल में 750 रुपए।

भारत में विदेशी आक्रमण होते रहते हैं, उनके शासन के साथ-साथ उनकी लूटमार यहाँ चलती रही है। किंतु 1757 से आरंभ होने वाली अंग्रेजों की हुकूमत का अंदाल दूसरे विदेशियों की हुकूमतों से काफी हद तक अलग था। अंग्रेजों से पहले आने वाले विदेशी या तो लूटमार करके चले गए (जैसे - महमूद गजनवी, नादिरशाह, चंगेज खान) या फिर स्वयं इस देश द्वारा जीत लिए गए और यहीं के होकर रह गए (जैसे - मुगल शासक)। इसके अलावा अंग्रेजों से पहले के शासक आर्थिक दृष्टि से उतने ही पिछड़े थे जितना भारत था और वे भारत के आर्थिक ढाँचे तथा उत्पादन संबंधों में आमूल परिवर्तन नहीं कर पाए। अंग्रेजों द्वारा भारत की विजन एक अधिक शक्तिशाली, प्रगतिशील तथा

नोट

उन्नत पूँजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा विकसित, अर्धसामंती, आत्मनिर्भर ग्राम-व्यवस्था की विजय थी। भारत का परंपरागत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचा अंग्रेजी हुकूमत को जीतने में असमर्थ रहा और उसकी परंपरागत दकियानूसी संस्थाएँ एवं सामाजिक मूल्य उनसे अधिक प्रगतिशील अंग्रेजी मूल्यों के आगे न टिक सकी। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के परंपरागत आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वर्ग संबंध कायम हुए। इस प्रकार पुराने ढाँचे के स्थान पर एक नया सामाजिक आर्थिक ढाँचा कायम हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों में भारतीय कृषि व्यवस्था, लघु उद्योगों तथा व्यापार पद्धति में जबरदस्त परिवर्तन हुए तथा शहरों का पुराना ढाँचा टूटकर वहाँ नए वर्गों का उदय हुआ।

मार्क्स का कहना है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का 'इतिहास का अचेतन हथियार' बना। भारत में अपने राजनीतिक शासन के दौरान अंग्रेजों ने अपनी उन्नत पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था द्वारा भारत का इस्तेमाल अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया। भारत में बटोरी गई दौलत ने जहाँ एक ओर ब्रिटेन के पूँजीवादी औद्योगिक विकास में योगदान किया, वहीं दूसरी ओर भारत को ऋणग्रस्त पिछड़ा हुआ देश बना दिया। भारत अंग्रेजों के लिए स्वर्ग और अधिकांश भारतीयों के लिए नरक बन गया। भारत में अंग्रेजी शासन की शुरुआत इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ हुई तथा अंग्रेजों के शासन का अंदाज इंग्लैंड की आर्थिक, राजनीतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ ही बदलता गया।

अंग्रेजी शासन के मुख्य प्रभाव

भारतीय समाज में अंग्रेजी शासन के दौरान आमूल परिवर्तन हुए। नए उत्पादन संबंध स्थापित हुए। पुराने आर्थिक-सामाजिक वर्ग छिन्न-भिन्न हो गए और नए आर्थिक, सामजिक वर्गों का जन्म हुआ। अंग्रेजी शासन के मुख्य प्रभाव जिन्होंने परिवर्तन किया, निम्नलिखित हैं -

क. भारत का राजनीतिक एकीकरण रेल, तार आदि की व्यवस्था करके एक राष्ट्रीय बाजार की स्थापना द्वारा और राजे-महाराजों की शक्ति घटाकर।

ख. भूमि में सामाजिक मालिकाना नष्ट करके निजी संपत्ति की स्थापना जिससे जमींदार वर्ग का जन्म हुआ, भूमिहीन किसान, मजदूर आदि पैदा हुए और आत्मनिर्भर ग्रामीण व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

ग. देशी रियासतो तथा सेनाओं को नष्ट कर राजा-महाराजाओं को पंगु बनाना।

घ. अंग्रेजी शिक्षा पद्धति तथा मुक्त प्रेस की स्थापना - जिससे बुद्धिजीवी वर्ग का विकास हुआ और राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकड़ा।

ड. भारत का हथकरघा तथा घरेलू उद्योग नष्ट कर उसके स्थान पर इंग्लैंड के बने सामान का भारत मे आयात जिससे यहाँ का परंपरागत कृषि-घरेलू उद्योग का समन्वय टूट गया और खेती पर दबाव बढ़ गया। फलतः भारत एक कृषि प्रधान देश बना।

च. उन्नीसवीं शताब्दी के बाद नवोदित भारतीय पूँजीपतियो द्वारा उद्योग लगाने की कोशिश की और फिर 1913 के बाद यूरोपीय वित्तीय पूँजी से भारत का कुंठित औद्योगीकरण तथा औद्योगिक मजदूर वर्ग का उभरना।

ब्रिटिश शासन एवं सामाजिक वर्ग

किसी भी समाज में सामाजिक वर्गों का निर्धारण उसकी उत्पादन व्यवस्था के आधार पर किया जाता है। अतः सामाजिक वर्ग वास्तव में आर्थिक वर्ग माने जाने चाहिए। उत्पादन व्यवस्था के आधार

नोट

पर वर्ग-संबंध स्थापित होते हैं और जब एक उत्पादन व्यवस्था टूटती है तो साथ में इस पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक वर्ग भी टूटने लगते हैं। नई उत्पादन व्यवस्था नए उत्पादन-संबंधों एवं नए सामाजिक आर्थिक वर्गों भी टूटने लगते हैं। नई उत्पादन व्यवस्था नए उत्पादन-संबंधों एवं नए सामाजिक आर्थिक वर्गों को जन्म देती है। भारतीय कृषि उद्योगों, व्यापार, ग्रामीण, व्यवस्था, शहरी व्यवस्था और यहाँ की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था पर अंग्रेजी शासन के प्रभाव के कारण कुछ पुराने वर्ग नष्ट हुए (जैसे - हस्तशिल्पी वर्ग) और कुछ नए वर्ग पैदा हुए (जैसे - सूदखोर वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, मध्यम वर्ग, मजदूर वर्ग)। यद्यपि देश के विभिन्न भागों में नए वर्गों के उदय की यह प्रक्रिया एक जैसी नहीं रही, किंतु देर-सवेर इन वर्गों की भूमिका ने सारे भारत को प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन के दौरान मुख्यत: राजे-महाराजे, जमींदार, कृषक वर्ग, मजदूर वर्ग, मध्यम वर्ग एवं बुद्धिजीवी वर्ग प्रमुख रहे।

विभिन्न वर्गों पर उपनिवेशवाद की आर्थिक नीति का प्रभाव

राजे-महाराजे - भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान भी बहुत से सामंती राज्य देशी रियासतों के रूप में मौजूद थे और करीब एक तिहाई भारत इनके अधीन था। इनके शासक राजे-महाराजे थे। कहने मात्र को ये राजे-महाराजे अपनी रियासतों में प्रभुसत्ताधारी थे किंतु वास्तव में ये ब्रिटिश सरकार की कठपुतली मात्र थे और राजनीतिक एवं सैनिक-शक्ति इनके पास नहीं थी। भारत के सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में इनकी भूमिका महत्वहीन रही और इनमें से काफी सारे शासक स्वयं ब्रिटिश सरकार द्वारा खड़े किए गए थे। राजनीतिक एवं सैनिक मामलों में ये ब्रिटिश सरकार के अधीन थे तथा आर्थिक एवं औद्योगिक मामलों में रियासतें सेठों के प्रभाव में रहती थीं। 1857 में अंग्रेजी शासन से परेशान होकर कुछ राजा-महाराजाओं ने अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष का बिगुल भी बजा दिया। किंतु सामंती प्रकृति एवं सीमित उद्देश्य के कारण इनकी करारी हार हुई। ये अपने संघर्ष को राष्ट्रवादी संघर्ष का रूप न दे पाए। तथाकथित गदर (बगावत) या 'भारत की स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध' कहा जाने वाला यह खूनी संघर्ष कुर्बानियों के बावजूद भी राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रहण नहीं कर सका। 1857 के संघर्ष ने इन राजा-महाराजों तथा ब्रिटिश हुकूमत दोनों के ही दृष्टिकोण से इन्हें हानिरहित मानते हुए यह घोषित किया कि इनके अधिकार, सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा उसी प्रकार की जाएगी जैसे कि महारानी के अधिकार एवं सम्मान की रक्षा की जाती है। राजे-महाराजों के रूप में ब्रिटिश शासन को भारत में एक प्रतिक्रियावादी, गैर-राष्ट्रवादी, वफादार सामंती साथी मिला जिसका प्रयोग उन्होंने भारतीयों में फूट डालने तथा राष्ट्रीय ताकतों के विकास में रोड़ा अटकाने के लिए किया।

जमींदार वर्ग- अंग्रेजों के आगमन से पूर्व कृषि व्यवस्था आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय पर आधारित थी। सारे गाँव की जमीन पर सारे गाँव का मालिकाना होता था। जमींदार वर्ग नहीं था और न भूमि न निजी मालिकाना ही था। अंग्रेजों के आने से पहलू हुकूमतें आती रहीं, जाती रहीं, सत्ता के लिए लड़ाइयाँ और खून-खराबे होते रहे, किंतु खून के छींटें जंग के मैदान तक ही सीमित रहे, गाँवों की जनता तथा ग्रामसमुदाय इनसे अछूता रहा। गाँव एक समुदाय रहा - आत्मनिर्भर, संतुष्ट, परंपरागत, अपरिवर्तनशील, जातिगत, परमपूर्ण एवं संतुलित।

इस प्रकार जमींदार वर्ग अंग्रेजों की देन था। इस वर्ग को पैदा करने में अंग्रेजों के दो मुख्य उद्देश्य थे :

1. जमीन का आसानी से लगान वसूल करना।
2. भारत में ब्रिटिश शासन का एक ऐसा भरोसेमंद, राजभक्त, वफादार वर्ग खड़ा करना जिसका जनता पर भी पूरा नियंत्रण हो।

नोट

जमींदारों ने ब्रिटिश सरकार की अंधी तरफदारी की। ब्रिटिश सरकार ने भी जमींदार वर्ग को उचित मान-सम्मान दिया। राजा-महाराजाओं की तरह जमींदारों का रूढ़िवादी वर्ग भी ब्रिटिश समर्थक रहा। भारतीय गरीब जनता की लूट में अंग्रेजों ने जमींदार वर्ग को हिस्सा दिया और इस प्रकार भारत में ब्रिटिश हुकूमत को जमींदार वर्ग के रूप में एक देशी सामाजिक आधार प्राप्त हुआ।

कृषक वर्ग-अंग्रेजी शासन का घातक प्रभाव सबसे अधिक भारतीय किसानों पर पड़ा। आत्मनिर्भर ग्राम व्यवस्था में किसान भूमि जोतता था, सारे गाँव के लिए फसल उगाता था और लगान के दुखदायी चाबुक से मुक्त था। अंग्रेजों ने जमींदारी प्रथा आरंभ की जिससे बटाईदार किसानों तथा भूमि के मालिक किसानों (रैयतबाड़ी) का जन्म हुआ। बटाईदार किसान जमींदार से बटाई पर जमीन लेते थे और एक निश्चित लगान उन्हें जमींदारों को देना पड़ता था। इसी प्रकार जमीन को मालिक किसानों पर भी लगान का चाबुक करारी मार करता था। इस लगान के भुगतान तथा जानवर, बीज आदि खरीदने के लिए ऊँची सूद पर सूदखोरों से ऋण लेना पड़ता था और इस प्रकार उनकी मुसीबतों को कभी न खत्म होने वाला सिलसिला शुरू होता था। किसान न केवल जमीन से बेदखल होता था बल्कि कर्ज चुकाने के लिए उसे बेगार भी करनी पड़ी थी। अपने शासन के आरंभिक वर्षों में (1765-1793) अंग्रेजी सरकार का ध्यान सरकार का ध्यान भारत से अधिक-से-अधिक लगान वसूल करने पर था। ब्रिटिश सरकार के लगान, जमींदारो की जमीन के किराए तथा सूदखोर के सूद की तीन तरफा मार से किसान जल्द ही भूमिहीन खेत मजदूर में बदला जाता था। भूमि के मालिक किसान, सूद तथा कर्ज चुकाने के चक्कर में अपनी जमीन को बेचने को मजबूर हो जाते थे। आमतौर पर किसान की मेहनत का दो तिहाई ये लोग ले जाते थे और उसके पास केवल एक तिहाई हिस्सा बचता था। बंगाल से वसूल किए गए कुछ आँकड़े निम्नलिखित हैं -

1764-65	8,17,000 पौण्ड
1765-66	14,70,000 पौण्ड
1771-72	23,41,000 पौण्ड
1775-76	28,18,000 पौण्ड
1793	3,40,00,000 पौण्ड

बंगाल में 1770 में ऐसा जबरदस्त अकाल पड़ा कि कुल जनसंख्या का 1/3 भाग बर्बाद हो गया। वसूलने के काम में कोई फर्क नहीं पड़ा। जबकि और ज्यादा लगान वसूल हुआ। इस प्रकार किसानों का शोषण हुआ और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति (1760-1830) के दौरान हुई प्रगति से भारत के घरेलू उद्योगों को नुकसान पहुँचा। अंग्रेजी सामान का आयात भारत में होने लगा। अच्छे-अच्छे भारतीय औद्योगिक शहर, जैसे - ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत आदि उजड़ गए। 1824 में ढाका की जनसंख्या लगभग डेढ़ लाख थी और 1837 में यह घटकर 20 हजार रह गई। शहर के कलाकार, कारीगर (बुनकर, जुलाहे, दस्तकार, बर्तन बनाने वाले, लुहार, सुनार आदि) शहर छोड़कर गाँव की ओर भागे और कृषक खेत-मजदूरों में बदल गए। गाँवों के भी घरेलू उद्योग, शिल्प आदि नष्ट हो गए और ग्रामीण व्यवस्था, जो कृषि एवं लघु उद्योगों का मिश्रण थी, कृषि-प्रधान रह गई। इस प्रकार खेती का दबाव बढ़ा, खेत छोटे होते गए और पैदावार घटती गई तथा भारत एक कृषि-प्रधान देश बन गया। जिसका काम ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चा माल तैयार करना था। कृषि का वाणिज्यीकरण हो गया और किसान अनाज के बदले रुई, जूट, आदि पैदा करने के लिए बाध्य हुआ क्योंकि उसे कर्ज चुकाने, सूद देने तथा लगान अदा करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता थी। इसके लिए उसकी फसल भी व्यापारियों, सूदखोरों तथा बिचौलियों द्वारा कम दामों में खरीद ली जाती थी, जो किसानों

नोट

के मेहनत की खुली लूट थी। व्यापारियों के बिना भारत के लिए भारत से बड़ी मात्रा में रूई तथा ऊन का निर्यात हुआ। 1813 में जहाँ 9 लाख पौंड वजन रूई का निर्यात हुआ वहीं 1833 में 3 करोड़ 30 लाख पौण्ड, 1944 में 8 करोड़ लाख पौण्ड तथा 1914 में 96 करोड़ 30 लाख पौण्ड वजन रूई का निर्यात हुआ। इसी प्रकार 1849 में 68,000 पौण्ड जूट का निर्यात हुआ जो 1914 में बढ़कर 8,60,00,000 पौण्ड (यानि 126 गुना) हो गया। यही नहीं भयंकर अकाल की चपेट में आए भारत में खाद्य पदार्थो, विशेषकर गेहूँ तथा चावलों का निर्यात भी बढ़ा। 1849 में जहाँ यह निर्यात 8,58,000 पौण्ड का था वह बढ़कर 1858 में 38,00,000 पौण्ड और 1901 में 1,93,00,000 पौण्ड हो गया। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के दूसरे उत्तरार्ध में भारत में जबदरस्त अकाल पड़ा और 1850-1900 के दौरान अकाल में लगभग 2 करोड़ लोगों की जानें गईं। इस प्रकार कृषि प्रधानता तथा कृषि उत्पादकों के निर्दयतापूर्वक नियति से भारत में भयंकर अकालों का सिलसिला शुरू हुआ जिससे स्थानीय, अनियमित एवं सीमित किसान -संघर्षों को जन्म दिया। किसानों ने लगान वसूलने वाली सरकार तथा जमींदारों ने कभी खेतों की तरक्की (जैसे सिंचाई, खाद, अच्छे बीज, अच्छी मशीनों का उद्योग आदि) पर कोई ध्यान नहीं दिया। खेती पिछड़ी रही उससे भी ज्यादा पिछड़ा रहा खेती वाला गरीब किसान। जमीन किसानों के हाथों से फिसलकर गैर-कास्तकारी व्यापारियों, सूदखोरों आदि के हाथ में आने लगी और भूमिहीन किसानो की संख्या में बेहद बढ़ोत्तरी हुई।

पूँजीपति वर्ग- भारत में अंग्रेजी शासन ब्रिटेन के पूँजीपति वर्ग का शासन था। इसलिए एक उन्नत पूँजीवादी व्यवस्था के सीधा संपर्क में आने का कारण भारत में भी पूँजीपति वर्ग का जन्म हुआ। भारतीय संदर्भ में पूँजीवादी वर्ग में सूदखोर, व्यापारी, उद्योगपति सभी शामिल किए जा सकते हैं। भारतीय पूँजीवादी वर्ग विदेशी पूँजी को दमनकारी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जन्मा और मुक्त आर्थिक वातावरण की अनुपस्थिति में भारतीय पूँजीवादी वर्ग का मुक्त विकास नहीं हो सका। किंतु वर्तमान शताब्दी में जब प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश एकाधिकार पूँजीपति वर्ग संकट के दौर से गुजरा तब भारतीय पूँजीपति वर्ग की शक्ति में भी बढ़ोत्तरी हुई। द्वितीय महायुद्ध में भारतीय पूँजीपतियों ने जमकर दौलत जमाई और युद्ध के बाद काफी शक्तिशाली हो चुके थे।

भारतीय पूँजीवादी वर्ग ब्रिटिश शासन की देन है। यद्यपि भारत में ब्रिटने के शासन के पूर्व भी व्यापारी वर्ग था किंतु इसे आधुनिक अर्थो में पूँजीपति वर्ग नहीं कहा जा सकता। ब्रिटिश शासन से पूर्व का व्यापारी वर्ग चंद शहरों में था और राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के अभाव में एक बहुत सीमित दायरे में ही काम कर पाता था। उद्योगों में पूँजीवादी संबंधों का अभाव था क्योंकि उद्योग छोटे पैमाने पर थे तथा मालिक-मजदूर के संबंध औद्योगिक क्षेत्रों में प्रमुख नहीं थे। सूदखोर भी कमजोर स्थिति में थे, क्योंकि वे गाँवों में जमीन गिरवी रखकर कर्ज नहीं देते थे तथा न वे जमीन हथिया ही सकते थे।

ब्रिटिश शासन के दौर में कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ, कृषि में पूँजीवादी संबंध स्थापित हुए तथा भारतीय सूदखोर उभरे। ब्रिटेन की औद्योगिक पूँजी के शासन के दौर में भारत से कच्चा माल खींचने और ब्रिटेन को तैयार माल भारतीय विशाल मंडल में धकेलने के लिए स्थापित रेलों की वजह से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का गठन हुआ। अंग्रेजों, द्वारा भारत लगाए गए उद्योगों और फिर भारतीयों द्वारा लगाए गए उद्योगों के द्वारा भारतीय उद्योगपतियों का जन्म हुआ और उपनिवेशवाद के अन्य प्रभावों की वजह से भारतीय पूँजीपति वर्ग उभरा। इस वर्ग में मुख्यत: छह किस्म के लोग शामिल हुए - व्यापारी, सूदखोर, उद्योगपति, वित्तीय पूँजीपति, कृषि में लगे गैर-काश्तकार, जमींदार जो व्यापार एवं उद्योगों में भी रुचि रखते थे तब कुछ ऊँचे पेशेवर लोग। यूरोप में सामंतों के साथ संघर्ष में, सामंतवाद के ध्वंस पर पूँजीपति वर्ग स्थापित हुआ जबकि भारत में विदेशी पूँजीपति वर्ग का कुंठित

नोट

विकास हुआ। 19वीं शताब्दी के आखिरी दशकों में भारतीय सूदखोर तथा व्यापारियों ने उद्योगों में (विशेषकर सूती, जूट, कोयला खानों में) धन लगाना शुरू किया। किंतु इन नए देशी उद्योगपतियों को विदेशी माल से लोहा लेने के लिए सरकारी संरक्षण की आवश्यकता थी। ब्रिटिश सरकार से इन उद्योगपतियों को आशा थी कि यह संरक्षण देगी। इसलिए 1885-1905 तक राष्ट्रीय कांग्रेस ने उदारवादी नीति अपनाई और अंग्रेजी सरकार से नवोदित उद्योगों के लिए संरक्ष की मांग की। सरकार ने यह संरक्षण नहीं दिया, क्योंकि इससे ब्रिटिश उद्योगपतियों का माल भारत में न बिक पाता। सरकारी नीति भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के बजाय, निरुत्साहित करने की रही। 1896 में भारतीय उत्पादों पर 31 प्रतिशत उत्पादन शुल्क लगा दिया गया ताकि भारतीय माल विदेशी माल से लोहा न ले सके। विदेशी माल पर आयात कर नहीं बढ़ाया गया जबकि भारतीय उत्पादक इसकी जबदरस्त मांग कर रहे थे। उत्पादन शुल्क केवल 1925 में ही हटाया गया जब भारतीय मजदूरों ने आम हड़ताल की। वैसे भी भारतीय उद्योग मशीनों तथा तकनीकी जानकारी के अभाव में इंग्लैंड के आश्रित थे। इसके अलावा पूँजी का अभाव था और उन्होंने सरकार की आर्थिक सहायता की भी माँग की। भारतीय उद्योग ब्रिटिश पूँजी की जबरदस्त पकड़ में रहे। यद्यपि भारत में 1914 तक अधि कतर ब्रिटिश पूँजी सरकारी कामों, यातायात, चाय-बागान तथा भारत से व्यापार बढ़ाने वाले कामों मे लगी थी, पर 1914 के बाद भारत में बहुत सी इंडिया लिमिटेड (जैसे - डनलप, हिंदुस्तान लीवर, आई.एस.आई, लिप्टन आदि) कंपनियाँ खुलीं और उन्होंने माचिस, सिगरेट, साबुन, जूते, रबड़, कैमिकल आदि हल्के उद्योग स्थापित किए। बैंक बीमा आदि भी इन्हीं के साथ रहा। 1914 तक केवल ब्रिटिश पूँजी का 3 प्रतिशत ही भारतीय उद्योगों में लगा हुआ था और 1914 तक सरकार ने देशी उद्योगों को कोई मदद नहीं दी।

1905 से 1915 तक भारत में पेट्रोलियम, मैगनीज, अभ्रक, शोरा, लोहा, इस्पात तथा अन्य उद्योग स्थापित हुए। 1914 में विश्वयुद्ध आरंभ होने से भारतीय उद्योगों को बढ़ने का मौका मिला क्योंकि विदेशी उद्योग युद्ध में लागू होने के कारण भारतीय मंडी के लिए सामान सप्लाई नहीं कर सके। 1915 के बाद भारत में ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के बजाय वित्तीय पूँजी का शासन स्थापित हुआ और भारतीय पूँजीपतियों ने बहुत से अपने शक्तिशाली दबाव-समूह 'चैम्बर ऑफ कॉमर्स' बनाए जिनमें 1925 में स्थापित इंडियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स सबसे शक्तिशाली राष्ट्रीय दबाव समूह था।

भारतीय पूँजीपतियों ने गांधी के कांग्रेस के नेतृत्व का भी समर्थन किया। 1920 में गांधी ने राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर संभाली। उन्होंने मशीनों तथा बड़े-बड़े उद्योगों के स्थान पर लघु और ग्रामीण उद्योगों पर जोर दिया किंतु इसका भारतीय पूँजीपतियों ने कोई विरोध नहीं किया तथा गांधी को पूरा समर्थन दिया। गांधी ने भारतीय ग्रामीण जनता की राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति का प्रयोग अंग्रेजी शासन को नष्ट करने के लिए किया। बढ़ती हुई मजदूर जनसंख्या तथा वर्ग-संघर्ष से निपटने के लिए गांधीवादी सामाजिक सिद्धांत-वर्ग समन्वय, पूँजीपतियों की न्यासिता 'पूँजीपति पिता है तथा मजदूर उनकी संतान' आदि भारतीय पूँजीपतियों को पसंद आए। इसके अलावा लघु उद्योगों द्वारा बनाए माल खद्दर आदि से उन्हें कोई खतरा नहीं था क्योंकि उच्च तकनीक तथा बड़े पैमाने पर स्थापित उद्योगों में बने माल से लघु उद्योगों में बना माल कभी टक्कर नहीं ले सकता था। इसके अलावा 1920 के बाद भारतीय मजदूर वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति तथा उनकी पार्टी (कम्युनिस्ट पार्टी) से मुकाबला करने के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस को शक्तिशाली तथा नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में बनाए रखने के लिए पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में खुला सहयोग दिया। आजादी का माँग समाजवाद की माँग में बदल सकती थी, अंग्रेज-विरोधी आंदोलन का रुख भारतीय वर्ग (पूँजीपति, जमींदार आदि) भी हो

नोट

सकता था, इसलिए 1930 से आजादी तक पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन का एकसूत्रीय कार्यक्रम 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' पर केन्द्रित किया और जब अंग्रेज भारत छोड़ गए तो इन्हीं देशों पूँजीपतियों के हाथों में सत्ता आई और भारत में राष्ट्रीय पूँजीवादी शासन - उदारवादी लोकतंत्र की स्थापना हुई।

भारतीय पूँजीपति वर्ग के कुछ विशिष्ट लक्षण रहे हैं और इन्हीं विशिष्ट लक्षणों की वजह से इसका अंग्रेजी हुकूमत, राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारतीय सामंतशाही के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा। साम्राज्यवादी शासन के दौरान इनका विकास होने के कारण साम्राज्यवाद के खिलाफ लंबे समय तक इन्होंने संघर्षकारी दृष्टिकोण बनाए रखा। कुंठित विकास इनके कुंठित दृष्टिकोण का कारण रहा। किंतु प्रथम महायुद्ध के बाद जब भारतीय पूँजीपति वर्ग कुछ शक्तिशाली हुआ तब उनका साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण भी मजबूत हुआ। दूसरी विशिष्टता भारतीय पूँजीपति वर्ग की यह थी कि इसके अधिकतर सदस्य व्यापार, सूदखोरी, जमींदारी तथा अन्य धंधों में भी लगे थे, और इनका हित इन क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन के बने रहने से ही पूरा होता था। अत: इस कारण से भी उन्होंने लंबे समय तक राष्ट्रीय आंदोलन का प्रयोग ब्रिटिश शासन पर दबाव डालने के लिए ही किया। राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग में एक नरम दल ब्रिटिश शासन के प्रति नरम दृष्टिकोण का समर्थक रहा तथा दूसरा गरम दल के दृष्टिकोण का समर्थक था। जब ब्रिटिश शासन के कड़े रुख के कारण उदारवादियों का मोहभंग हुआ तभी गरम दल ने नेतृत्व संभाला और स्वराज की मांग बुलंद की। भारतीय पूँजीपति वर्ग की तीसरी विशिष्टता यह रही कि एक तरफ उन्हें ब्रिटिश सरकार से लड़ना पड़ा और दूसरी ओर ये भारतीय शोषत जनता की मुक्त आंदोलनकारी शक्ति को भी अपने हितों के लिए घातक मानते थे। अत: एक तरफ तो उन्होंने भारतीय जनता मे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार किया और दूसरी तरफ जनता की आंदोलनकारी शक्ति को सीमित दायरे में रखा। यद्यपि उभरते हुए मजदूर वर्ग को नियंत्रित करना आसान काम नहीं था। चौथी विशिष्टता भारतीय पूँजीपति वर्ग की यह रही कि इन्होंने सामंतशाही के साथ संघर्षकारी संबंधों के बजाय सहयोग का दृष्टिकोण रखा।

मजदूर वर्ग- मजदूर वर्ग की शुरुआत अक्सर औद्योगिकरण के साथ ही होती है, किंतु भारत में मजदूर वर्ग की पैदाइश चाय, कॉफी, रबर के बागानों में, रेल-निर्माण की प्रक्रिया में तथा 1850 के बाद के अन्य सरकारी कामों में सिलसिले में हुई। 1833 में सरकार ने यह निर्णय लिया कि अंग्रेज भारत में चाय, कहवा, रबर, कॉफी आदि की खेती कर सकते हैं और बागाद आदि खरीद सकते हैं। इससे भारत में बँधुआ मजदूर पैदा हुए जिनकी दर्दनाक रिपोर्ट 1860 में इंडिगो कमीशन (प्दकपहव ब्वउउपेपवद) द्वारा पेश की गई। 1850 के बाद औद्योगिकरण का हल्का सा दौर चला जो 1880 के बाद से लगातार बढ़ता रहा। अत: उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में जब भारत में विभिन्न उद्योग लगे तो फैक्ट्री मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। गाँवों से बेदखल, बर्बाद हाल, करोड़ों लोगों की भीड़ शहरों की तरफ रोटी के टुकड़ों की तलाश में भाग रही थी। उस समय बेकारों की तादाद इतनी ज्यादा थी कि जिस किसी को कहीं भी किसी भी दाम पर काम मिला वह स्वयं को भाग्यशाली समझने लगा। बेकारों की तुलना में मजदूर उच्च वर्ग था। किंतु प्रथम महायुद्ध के बाद जब तेजी से औद्योगीकरण हुआ और मजदूर वर्ग बढ़ना शुरू हुआ तो मजदूर संगठित होते चले गए और उन्होंने अपने राष्ट्रीय दायित्व को तथा वर्गहित को जाना। किंतु भारत मे फैक्टरी एक्ट के अंतर्गत आने वाले मजदूरों की संख्या ज्यादा नहीं थी। 1922 मे लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने जब यह घोषित किया कि भारत में 2 करोड़ मजदूर हैं तब वास्तविकता यह थी कि फैक्ट्री एक्ट के अंदर आने वाले मजदूरों की संख्या कुल 13 लाख थी तथा बाकी मजदूर छोटे धंधों, खेती, चाय बागानों आदि में लगे थे। ब्रिटिश शासन का कुटिल प्रभाव ग्राम-व्यवस्था को नष्ट करना था। गाँवों में क्रूर शोषण के कारण करोड़ों लोगों को

नोट

रोटी भी मिलती मुश्किल हो गई, करोड़ों लोग भूमिहीन हो गए, लाखों कारीगर तथा शिल्पी ब्रिटिश उद्योगों द्वारा निर्मित माल की आँधी में बह गए और इस प्रकार ब्रिटिश शासन का सीधा प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर यह पड़ा कि पुरानी व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई। गाँवों मे भी कृषि में पूँजीवादी संबंधों की शुरुआत हुई और वहाँ भी एक बड़ी तादाद में खेतिहर मजदूरों का वर्ग पैदा हुआ। रेलवे तथा आवागमन के साधनों कोयला, लोहा खानों, चाय के बागानो आदि के विकास में मजदूरों की तादाद बढ़ी। शहरों के स्थापित होने पर जाति-प्रथा से त्रस्त लाखों लोगों का शहरों में आना शुरु हुआ और यहाँ की अधिक प्रगतिशील सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था को उन्होंने गाँव की जातिगत व्यवस्था से बेहतर माना। इसलिए बहुत से बटाईदार तथा छोटे भूमिपति भी शहरों में आ गए।

भारतीय मजदूरों का जीवन-स्तर सदैव निम्न रहा है। जहाँ करोड़ों की तादाद में बेकार लोग कम-से-कम मजदूरी पर काम करने के लिए लाइन लगाकर खड़े हों तथा वहाँ निश्चित रूप से मजदूरी तो कम होनी ही थी। अधिकतर मजदूर कर्ज मे डूबे हुए थे और सूदखोरों के चंगुल में रहे।

भारत का मजदूर ग्रामीण संस्कृति, सामाजिक परिवेश तथा पिछड़ेपन का सबसे पिटा हुआ, बर्बाद तथा हारा हुआ प्रतिनिधि था। अतः इस वर्ग में राष्ट्रीय एवं वर्गीय चेतना सबसे बाद में आई तथा शहरों में आने के बाद भी उसके अतीत ने इसका पीछा नहीं छोड़ा। किंतु धीरे-धीरे शहरों की विशिष्ट सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव मजदूरों पर पड़ा, उत्पादन व्यवस्था के उदार पूँजीवादी संबंधों की शोषणकारी प्रवृत्ति उनकी समझ में आई, हजारों मजदूरों के साथ काम करने के कारण उनमें संगठन बने और इसकी संघर्षकारी शक्ति का विकास हुआ। भारतीय मजदूर वर्ग शुरु से ही दो तरफा लड़ाई का पक्षधर था। एक ओर चेतना ने उसे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति जागरूक किया तथा पूँजीवादी विरोधी भूमिका महत्वपूर्ण नहीं रही।

मध्य वर्ग- किसी भी सामाजिक व्यवस्था में मध्य वर्ग का निर्धारण एक कठिन बात है। अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय समाज में मध्य वर्ग के अंतर्गत तीन श्रेणियों के लोग शामिल किए जा सकते हैं : (1) सरकारी तथा ऑफिस कर्मचारी, (2) पेशेवर लोग, वकील, डॉक्टर, अध्यापक, लेखक, पत्रकार आदि और (3) छोटे व्यापारी, कारीगर इत्यादि। सरकारी व ऑफिस कर्मचारी तथा पेशेवर लोग ही इनमें मुख्य हैं।

ब्रिटिश शासन के दौरान एक नई प्रशासनिक व्यवस्था की शुरुआत हुई; जिससे सरकारी कर्मचारियों का जन्म हुआ। व्यापार तथा उद्योगों, बीमा, डाक-तार, रेलवे आदि में बहुत से कर्मचारी नियुक्त हुए। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने भारत मे एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो रंग व राष्ट्रीयता में भारतीय था किंतु मिजाज में अंग्रेज था विदेशी संस्कृति तथा नैतिक मूल्यों में उसकी आस्था थी।

दूसरी ओर डॉक्टर, वकीलों, लेखकों, पत्रकारों, अध्यापकों, विद्वानों तथा समाज सुधारकों का वर्ग उभरा। इस वर्ग में बुद्धिजीवियों का जन्म हुआ। वे तमाम लोग उदारवादी विचारधारा में आस्था रखते थे तथा भारत के पुरातनपंथी अतीत से छुटकारा पाकर नए सामंतवादी समाज की स्थापना की आदर्श इनके सामने थे। राजा राममोहन राय इसके सबसे पहले प्रतिनिधि थे।

मध्य वर्ग का जन्म ब्रिटिश शासन के बाद ही हुआ तथा इसका चरित्र एवं भूमिका भी पेचीदा रही। जहाँ तक प्रशासनिक सेवाओं में लगे मध्य वर्ग का सवाल है, इनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उदासीन रहा क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन में इन्हें तमान सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थी। 19वीं शताब्दी में भारतीयों ने प्रशासनिक सेवाओं में हिस्सेदारी के लिए संघर्ष किया और उसके फलस्वरूप जो लोग

इन सेवाओं में नियुक्त हुए, उन्हें काफी सुविधा, मान-सम्मान उपलब्ध रहा। छोटे-छोटे सरकारी क्लर्क भी बाबूवादी चिंतन की खुमारी में सुखी रहे। आर्थिक तथा सामजिक दृष्टि से ये अच्छी हालत में थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण इनका अंग्रेजी शाासन की न्यायप्रियता मे भी विश्वास था।

नोट

किंतु मध्य वर्ग के वे सदस्य जो अधिक प्रबुद्ध थे। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में शामिल हो गए और उन्होंने भारत में राष्ट्रीयता की भावना और चिंतन को आगे बढ़ाने मे महान् योगदान दिया। वे लोग मध्य वर्गीय चिंतन से उठकर राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से आगे आए। अतः इनकी व्याख्या बुद्धिजीवी वर्ग के साथ की जाएगी।

बुद्धिजीवी वर्ग- भारतीय राष्ट्र आंदोलन के सूत्र उदारवादी उच्च अंग्रेजी प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवी थे। भारतीय पुनर्जागरण के जन्मदाता राजा राममोहन राय उदारवादी मूल्यों से प्रेरित थे और भारतीय समाज को पुरानी रूढ़िवादी दशा से निकालकर नए मूल्यों के आधार पर स्थापित करना चाहते थे। वे पाश्चात्य संस्कृति तथा लोकतांत्रिक आदर्शों एवं भावनाओं से प्रेरित थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार हुआ, वैसे-वैसे ही भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग उभरकर आया। प्रेस की स्वतंत्रता ने भी, चाहे यह कितनी भी सीमित क्यों न रही हो, बुद्धिजीवी वर्ग को उभारा।

बुद्धिजीवी वर्ग निस्संदेह ब्रिटिश शासन की देन था। पाश्चात्य सभ्यता तथा चिंतन से जुड़े हुए मूल्यों के प्रति सम्मान इस वर्ग में मुख्य रहती है। भारत में भी यही हुआ। जब प्रबुद्धवर्ग ने यह महसूस किया कि अंग्रेजों का शासन भारत में उदारवादी लोकतांत्रिक शासन के रूप में नहीं वरन् शोषण ात्मक विदेशी शासन के रूप में है तो उन्होंने भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का स्वर फूँका। पाश्चात्य संस्कृति और दर्शन ने उन्हें अंग्रेजों का गुलाम नहीं बनाया वरन्, अंग्रेजी शासन के खिलाफ लड़ने के वैचारिक हथियार एवं प्रबुद्ध चेतना दी। आरंभ में यह बुद्धिजीवी वर्ग ब्रिटिश शासन की प्रगतिशील भूमिका को भारत के लिए वरदान मानता रहा और इस शासन द्वारा भारत में नई प्रगति की कल्पना करने लगा। जब इनके सुनहरे भविष्य के सपने अंग्रेजों की औपनिवेशिक भूख तथा नंगे शोषण और जुल्म के झटकों से टूटने लगे तो नए वर्ग का मोहभंग हुआ और उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अत्यंत सक्रिय भूमिका निभाकर अंग्रेजी शासन की चूल हिलाकर रख दी। भारत में सारे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुधारों की माँग बुद्धिजीवी ने ही की। सारे राजनीतिक आंदोलनों के सूत्रध ार एवं नेता इसी वर्ग के लोग रहें। साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन आदि क्षेत्र में इसी वर्ग के लोग आए। आधुनिक भारत के निर्माण में तथा इसे पुरानी परंपरागत संस्कृति से निकालकर लोकतांत्रिक समाज बनाने में इसी वर्ग की मुख्य भूमिका रही है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य बात यह है कि बुद्धिजीवी वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन-आधार दिया। किंतु नेतृत्व बुद्धिजीवी तथा विशिष्ट वर्ग (पूँजीवादी वर्ग) के हाथ में होने के कारण जब ब्रिटिश शासन का अंत हुआ तो सत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथ में आई और भारत में मजदूर किसान का शासन स्थापित होने बजाय उदार पूँजीवादी लोकतंत्र की स्थापना हुई।

1.15 सारांश

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की प्रकृति के संबंध मे विद्वानों में विचार-वैभिन्य पाया जाता है। रजनी पाम दत्त की मान्यता है कि भारत में ब्रिटिश शासन भारतीयो के हितों के विरुद्ध था। यहाँ की संपदा और स्त्रोतों को वे बाहर ले गए। भारतीय उद्योगों को नष्ट करते हुए भारत को अपना उपनिवेश बना लिया। दत्त की इस मान्यता को अन्य समाजवादी विचारकों ने भी समर्थन प्रदान किया है। मौरिस और झिनकिन ने दत्त की उपरोक्त मान्यता का विरोध करते हुए यह तर्क देने का प्रयास

नोट

किया है कि भारत पर शासन के दौरान ब्रिटेन को जितना लाभ हुआ, उससे कहीं अधिक उसे हानि हुई। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह कहने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश शासन ने नुकसान सहते हुए भी भारत को आधुनिकता का मार्ग दिखाया। यह मान्यता तर्क संगतता और वास्तविकता से कोसों दूर है। एक तीसरी मान्यता बार्बरा वार्ड की है। उनका मानना है कि ब्रिटेन ने ही भारत में आर्थिक विकास की प्रक्रिया की शुरुआत की लेकिन उसे पूरा नहीं किया। भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का अध्ययन तीन विभिन्न चरणों को परिलक्षित करता है। (1) वाणिज्यिक (1600-1757), (2) औद्योगिक (1757-1850) और (3) वित्तीय-पूंजी (1850-1947)। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की प्रमुख नीति का उद्देश्य था भारत का जबरदस्त आर्थिक शोषण लेकिन स्वयं ब्रिटेन में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तनों ने भारत के प्रति ब्रिटिश नीतियों मे भी परिस्थिति के अनुरूप बदलाव किए।

साम्राज्यवादी देशों ने उपनिवेशवाद के समर्थन में बहुत-सी नैतिक दलीलें दी हैं। इन देशों का कहना है कि औपनिवेशिक शासन के कारण पिछड़े हुए देशों ने ज्ञान व विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति प्राप्त की है। इन देशों में उचित प्रशासन की व्यवस्था की गई तथा उन्हें सभ्य बनाया गया। इसे 'श्वेत मानव का कर्तव्य भार' (white men's burden) कहा जाता है अर्थात् यूरोप की श्वेत जातियों के ऊपर परमात्मा ने यह कर्तव्य-भार लाद दिया है कि वे एशिया और अफ्रीका की पिछड़ी हुई जातियो को आगे बढ़ाएँ। रूडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipking) महोदय का कहना है कि ''परमात्मा का विधान है कि ब्रिटिश जाति भारत के प्रशासन को संचालन करे, विधाता का यह विधान अतर्क्य (Inscrutable) है यानि इस पर कोई बहस नहीं की जा सकती है।'' वास्तव में इस तरह की कहावतें यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों के अहंकार को प्रकट करती हैं। साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ।

1.16 अभ्यास-प्रश्न

1. भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति का मूल्यांकन कीजिए।
2. भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों का वणर्न कीजिए।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक के दुष्प्रभाव की विवेचना कीजिए।
4. ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय उद्योग और व्यापार की दुर्दश का वर्णन कीजिए।
5. ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरणों की समीक्षा कीजिए।

1.17 संदर्भ पुस्तकें

- ताराचंद - भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास।
- बिपिनचंद्र - स्वतंत्रता संग्राम।
- रजनी पामदत्त - आज का भारत।
- भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड
- सरकार, एस (1983), आधुनिक भारत (1885-1847), नई दिल्ली: मैकमिलन
- प्रधान, राम चंद्र (2008) राज टू स्वराज, नई दिल्ली: मैकमिलन

अध्याय-2

राष्ट्रवाद

नोट

(Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 राष्ट्रवाद
2.4 साम्राज्यवादी/कैंब्रिज/उपनिवेशी स्कूल
2.5 राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य
2.6 मार्क्सवादी व्याख्या
2.7 उपाश्रित परिप्रेक्ष्य
2.8 सारांश
2.9 अभ्यास-प्रश्न
2.10 संदर्भ पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राष्ट्रवाद का अर्थ, क्षेत्र एवं उसके प्रकार को समझने में;
- कैंब्रिज/उपनिवेशी स्कूल को जानने में;
- राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य को समझने में;
- मार्क्सवादी व्याख्या को समझने में;
- उपाश्रित परिप्रेक्ष्य को समझने में;

2.2 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद की परिभाषा करते हुए अर्नोल्ड टायनबी का कथन है कि, ''राष्ट्रवाद, एक शक्ति है जो समाज या जाति को राज्य के अन्तर्गत एक निश्चित तौल में निरंकुश शक्तियों के विरूद्ध अपने अधि कारों की रक्षा के लिए तथा वाह्य आक्रमण के विरूद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए एक साथ रहने को बाध्य करती है।'' राष्ट्रीयता उस स्थिति का नाम है, जिसमें लोग अपने को एक राष्ट्र का अंग मानने लगते हैं। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, ''राष्ट्र एक जातीय समूह है, जिसने एक राजनीतिक निकाय के रूप में अपना संगठन बना लिया है तथा जो या तो स्वतन्त्र है या स्वतन्त्रता का इच्छुक है।'' विकास के भिन्न-भिन्न धरातलों पर स्थित देशों में राष्ट्रवाद का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है। मुख्यत: इसकी दो धाराएं रही हैं - औपनिवेशिक राष्ट्रवाद और उपनिवेशवादी राष्ट्रवाद।

नोट

औपनिवेशिक राष्ट्रवाद – पश्चिम के विकसित देशों के राष्ट्रवाद का स्वरूप औपनिवेशिक था। यूरोप के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में राष्ट्रवाद का विकास पोप की लौकिक सत्ता की समाप्ति के बाद हुआ। 1648 की वेस्टफीलिया की सन्धि के बाद यूरोप में राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ। इन्होंने विश्व की तथाकथित असभ्य जातियों को 'सच्चे धर्म और सभ्यता' का प्रकाश प्रदान करने का भार अपने ऊपर ले लिया। श्वेत लोगों के 'भार' के सिद्धान्त ने साम्राज्यवाद का रूप धारण किया। पामर और पार्किन्स के शब्दों में, ''अपने बाद के युग में साम्राज्यवाद की प्रक्रिया का प्रारम्भ राष्ट्रवाद के द्वारा किया गया।'' ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस, जापान आदि विकसित देशों में ''विशुद्ध राष्ट्रवाद ने सरकारों को साम्राज्यवाद के मार्ग पर चलने को विवश कर दिया।''

उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद– पराधीन देशों का राष्ट्रवाद इसके ठीक विपरीत था। इसे हम उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद कह सकते हैं। एशिया और अफ्रीका के निर्धन, दुर्बल और पिछड़े हुए देशों में इस प्रकार के राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जैसा कि पं. जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे – इस प्रकार के राष्ट्रवाद का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट था – विदेशीशासन का अन्त। अफ्रीका और एशिया के पराधीन राष्ट्रों के लोग धीरे-धीरे अपने विदेशीशासकों के विरूद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने स्वशासन की माँग की। इस प्रकार का राष्ट्रवाद अपनी अस्मिता को जागृत करने, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने तथा अपनी इच्छानुसार अपना विकास करने का संकल्प था।

भारतीय राष्ट्रवाद – भारतीय राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद की श्रेणी में आता है। ब्रिटिश अधीनता में आने से पूर्व भारत एक भौगोलिक इकाई था तथा उसके विभिन्न भाग सांस्कृतिक एकता में आबद्ध थे। परन्तु उसमें राजनीतिक और प्रशासनिक एकता का अभाव था। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में राष्ट्रवाद का विकास ब्रिटिश शासन की देन है। प्रो. कूपलैण्ड ने लिखा है, ''भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश राज्य का शिशु था और ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे अपना आशीर्वाद प्रदान किया।'' यह कहा जाता है कि भारत में ब्रिटिशशासन के दो विरोधी स्वरूप थे – 1. क्रान्तिकारी, 2. प्रतिक्रियावादी।

इन दोनों ने ही भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया है। ब्रिटिशशासन के क्रान्तिकारी प्रभावों में राजनीतिक एकता की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात समाचार पत्रों और साहित्य की प्रगति, परिवहन और संचार के साधनों का विकास, विदेश यात्राओं का प्रचलन, औद्योगीकरण, सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आदि का उल्लेख किया जाता है। इसलिए डॉ. बी.आर. पुरोहित का मत है कि, ''भारतीय राष्ट्रवाद का विकास अनेकानेक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिकशक्तियों की क्रिया और परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम था, जो ब्रिटिश युग में विकसित हुई। मध्य युगीन भारतीय समाज आधुनिक राष्ट्रीय समाज में रूपान्तरित हो गया।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियाादी प्रभावों में अंग्रेजों का दमनकारीशासन जातीय विभेद की नीति, भारतीय शिल्पकलाओं का विनाश और आर्थिकशोषण आदि आते हैं। ब्रिटिशशासन के इन दोनों प्रकार के प्रभावों ने भारत में राष्ट्रवाद के विकास को बहुत प्रभावित किया। परन्तु ब्रिटिश राज्य के लिए भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थन और पोषण करना सम्भव ही नहीं था, क्योंकि ब्रिटिश राज्य का अन्त भारतीय राष्ट्रवाद का स्वाभाविक और तार्किक ध्येय था। वास्तव में एक ओर तो अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रवाद के अस्तित्व को नकारने का प्रयत्न किया तथा दूसरी ओर जब भारत में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल होने लगी, तब अंग्रेजों ने इसे कुचलने का भरपूर प्रयास किया। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक एकता और राष्ट्रवाद की भावना को उत्पन्न करने का श्रेय साम्राज्यवादी शासकों को उतना

नोट

नहीं है, जितना कि औद्योगिक क्रान्ति और आवागमन के साधनों की प्रगति से उत्पन्न परिस्थितियों को है। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ 18वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ था। इससे पहले संसार के किसी भी भाग में न तो स्थायी राजनीति एकता की स्थापना हो सकी थी और न ही राष्ट्रीयता की भावना का समुचित विकास हुआ था।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद संसार के उन सभी भागों में राष्ट्रीय भावना का विकास प्रारम्भ हो गया जहाँ एक मूलभूत सांस्कृतिक, जातीय और भौगोलिक एकता पाई जाती थी। फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी आदि ऐसे ही देश थे। भारत हजारों वर्षों से एक सांस्कृतिक और भौगोलिक इकाई रहा है। सम्राट अशोक, समुद्रगुप्त और अकबर आदि के समय देश का अधिकांश भाग एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया था। परन्तु परिवहन और संचार के समुचित साधनों के अभाव के कारण यह राजनीतिक एकता स्थायी नहीं रह सकी। यदि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं भी आया होता, तो भी उसकी सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता के कारण 20वीं शताब्दी में औद्योगीकरण तथा परिवहन व संचार के आधुनिक साधनों के विकास के बाद भारत में राष्ट्रवादी भावना का विकास अवश्यम्भावी था।

यद्यपि मूलत: भारत में राष्ट्रवाद की भावना उसकी भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता तथा आधुनिक औद्योगिक युग कीशक्तियों से उत्पन्न हुई थी, पर उसका सन्दर्भ ब्रिटिश साम्राज्यवाद था। भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन का जन्म ब्रिटिश आधिपत्य की चुनौती का सामना करने के लिए हुआ। विदेशीशासन के अस्तित्व मात्र ने लोगों के मध्य राष्ट्रवादी भावना के विकास में सहयाता दी। पराधीनता की श्रृंखलाओं को तोड़ना देशप्रेमी भारतीयों की प्रेरणा बन गई। भारतीयों और अंग्रेजों के हितों में विरोध था। समय के साथ-साथ धीरे-धीरे भारतवासी इस विरोध को महसूस करने लगे। इससे विदेशीशासन के प्रति कटुता बढ़ी और इस कटुता से विदेशियों को देश से बाहर निकालने के लिए राष्ट्रवादी आन्दोलन का उद्‌भव हुआ।

राष्ट्रवाद की अवधारणा

राष्ट्रवाद की अवधारणा का विश्लेषण विचारकों ने पृथक-पृथक स्वरूपों में किया है। रेनान के शब्दों में - 'राष्ट्र एक आध्यात्मिक सम्पूर्णता है एवं राष्ट्रवाद उससे सम्बद्ध एक आवेग है।'

'कार' ने राष्ट्र की अवधारणा का प्रयोग ऐसे मानव समूह के लिए किया है जिसकी निम्न विशेषताएं हैं -

1. समान सरकार का रूवरूप जो अतीत अथवा वर्तमान में विद्यमान हो अथवा जो भविष्य की आकांक्षा के अनुरूप विकसित हुआ हो।
2. राष्ट्र के सदस्यों के मध्य सम्पर्क एवं समीपता का पाया जाना।
3. निश्चित परिभाषित भू-भाग का होना,
4. भाषा का समान स्वरूप होना,
5. राष्ट्र के सदस्यों का हित समान होना,
6. राष्ट्र की छवि से सम्बद्ध होने के साथ-साथ सदस्यों में सामुदायिक भावना पाया जाना।

नारायण ने राष्ट्रीयता के दो तत्त्वों का उल्लेख किया है - प्रकट एवं अप्रकट तत्त्व।

प्रकट तत्त्व हैं - 1. सुस्पष्ट परिभाषित क्षेत्र, 2. संवैधानिक आधार पर राजनीतिक एकता एवं सामान्य नागरिकता, 3. सम्पूर्ण क्षेत्र पर सरकार की सत्ता जिसके पास दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार विनिमय की शक्ति निहित हो, 4. बहुभाषायी राष्ट्र में विभिन्न संवैधानिक इकाइयों के अन्तर्गत एक कामचलाऊ

नोट

जनसंचार का माध्यम। नारायण की मान्यता यह है कि राष्ट्र का निर्माण वस्तुतः अप्रकट तत्त्वों के आधार पर होता है जिसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर होती है – (क) उस मानसिक प्रवृत्ति का होना जिसके आधार पर समूह एवं सम्प्रदाय की अनुरक्ति की अपेक्षा राष्ट्र की अनुरक्ति की सर्वोच्चता की भावना नागरिकों की सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाए। (ख) उस मानसिक प्रवृत्ति का पाया जाना, जिसके आधार पर राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य अपने समूह अथवा सम्प्रदाय के हितों को राष्ट्रीय हित के समक्ष सहजतापूर्वक गौण माने। (ग) उस मानसिक प्रवृत्ति का होना जिसके आधार पर राष्ट्र को प्रत्येक समूह एवं सम्प्रदाय के नागरिकों के हितों का सहज एवं स्वाभाविक ध्यान हो।

19वींशताब्दी के मध्य में मिल ने राष्ट्रवाद की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है – 1. संतति की एकरूपता, 2. भाषा एवं धर्म की सामुदायिकता, 3. भौगोलिक सीमा, 4. राजनीतिक पूर्वस्थिति की एकरूपता किन्तु इन विशेषताओं को राष्ट्रवाद का आधार मानने में कई समस्याएं उभरती हैं। हिटलर के पतन के पश्चात् राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में प्रजातीय तत्त्वों अर्थात् संतति की एकरूपता को महत्व देने का प्रयास व साहस कोई नहीं करता। भाषा की सामुदायिकता विश्व के केवल विशाल देश अमेरिका की नागरिकता की पूर्वाकांक्षा है। पुनर्जागरण के पश्चात यूरोप तथा 1947 के विभाजन के पश्चात् भारत में धर्म को राष्ट्रीयता के आधार के रूप में अस्वीकार किया जा चुका है।

आधुनिक संचार के विकास के परिणामस्वरूप भौगोलिक सीमा क्षेत्र की अवधारणा भी समाप्तप्राय है। मिल के सभी आधारों को अस्थिर मानते हुए राष्ट्र की यह परिभाषा दी जा सकती है कि यह एक प्रकार का समूह है। पश्चिमी विश्व का आविर्भाव जनजाति से नगर, नगर से साम्राज्य तथा साम्राज्य से राष्ट्र के रूप में हुआ। यद्यपि एक राजनीतिक संवेग के रूप में राष्ट्रवाद का अभ्युदय पुनर्जागरण काल से माना जाता है, किन्तु राष्ट्र राज्य का प्रादुर्भाव नेपोलियन के आक्रमण के परिणामस्वरूप यूरोपीय प्रतिक्रिया की परिणति के रूप में हुआ।

राष्ट्र राज्य की अवधारणा के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय सदस्य की अपने राज्य के प्रति अनुरक्ति स्थायी हो जाती है, इस दृष्टि से एक राष्ट्र का अपने राज्य के प्रति अधिकार एवं कर्तव्य का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। राष्ट्रवाद एक राजनीतिक समस्या तब बना जब उसे राज्य की धारणा के साथ मिश्रित कर दिया गया। राज्य यदि भू-भागीय सत्ता से सम्बद्ध है तो राष्ट्रवाद समूह से सम्बद्ध है। मानव इतिहास में यह सम्बद्धता सर्वप्रथम धार्मिक संक्त तत्पश्चात भाषायी मिलाप तथा हाल के वर्षों में क्षेत्रीय आधार पर जुड़ती हुई परिलक्षित होती है।

क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की विडम्बना यह है कि भू-भाग अथवा क्षेत्र सदैव परिवर्तनशील है। अतः क्षेत्र के प्रति मानव की निष्ठा भी परिवर्तनशील है। जनसंचार के विकास ने क्षेत्रीय अथवा भूभागीय समस्या को और गहन बना दिया है। राष्ट्रवाद के विविध आधारों, धार्मिक, भाषायी, क्षेत्रीय इत्यादि के प्रति मानव की निष्ठा की प्रतिद्वन्द्विता को परिहार करने की दृष्टि से शास्त्रीय मार्क्सवादियों ने राष्ट्रवाद की धारणा का ही परित्याग कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने विभिन्न राजनीतिक स्वायत्त इकाइयों द्वारा निर्मित राष्ट्र का प्रयोग किया। अमेरिकी प्रतिमान का अनुसरण स्वीट्जरलैण्ड ने किया जिसे उन्होंने बहुल साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता की संज्ञा दी। लेनिन ने स्वीटजरलैण्ड के प्रारूप को रूस में बहुराष्ट्रीय राज्य के प्रयोग में अपनाया। इस आधार पर विश्व के विभिन्न समुदायों के राष्ट्र के रूप में एकीकृत होने को प्रक्रिया वस्तुतः एक चिरकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। ऐतिहासिक कारकों के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में राष्ट्रवाद अन्य देशों से पहले विकसित हुआ। व्यापार के विकास,

नोट

निर्माण एवं प्रौद्योगिकी में अग्रणी देश होने के नाते इंग्लैण्ड में विनिमय सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में आबद्ध होने का अवसर लोगों में विकसित हुआ तथा वहाँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास का मार्ग सर्वप्रथम प्रशस्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप वहाँ जनतांत्रिक एवं राष्ट्रीय विचारधारा का अभ्युदय भी हुआ, जिसके आधार पर राज्य, समाज तथा व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका के प्रति सामंतवादी अवधारणाओं पर प्रहार आरम्भ हुआ।

कालान्तर में विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में राष्ट्रवाद का उदय विश्व के अन्य देशों सहित भारत में भी हुआ। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् लीग ऑफ नेशन्स तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के गठन के साथ-साथ ये धारणा मान्य हो गई कि मानव-विश्व-वस्तुतः विभिन्न राष्ट्रों का एकीकरण है। वर्तमान अवधि में राज्यों को समुदाय के संप्रभु स्वरूप के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है। वास्तव में सामाजिक विश्व से कलह मिटाने एवं मानव समूहों की स्वतंत्र तथा सम्पूर्ण रचनात्मकशक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए समसामयिक समाज वैज्ञानिकों, राजनयिकों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा तैयार की गयी विभिन्न राजनीतिक एवं अन्य पुनर्निर्माण सम्बन्धी योजनाओं में राष्ट्रवाद की वैचारिकी प्राथमिकी एवं आधारभूत बन गयी है।

इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि वर्तमान अवधि में राष्ट्र को एक प्राथमिक तथ्य तथा राष्ट्रीय संवेग को मनुष्य की प्रधान भावना मान लिया गया है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में होने वाले समसामयिक आन्दोलनों का लक्ष्य भले ही सम्बद्ध राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, संस्कृति की सुरक्षा एवं विकास करना हो अथवा दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं संस्कृति को ग्रहण करना हो, किन्तु वे चेतना राष्ट्रीय मुद्दों, प्रेरकों अथवा निमित्तियों से प्रेरित रहे हैं। विश्व के पुनर्निर्माण सम्बन्धी समस्त आधुनिक कार्यक्रमों, जिसमें मानवीयता को चाहे पूँजीवादी अथवा समाजवादी आधार पर संगठित करने का लक्ष्य निहित हो, में राष्ट्र एक महत्वपूर्ण इकाई तथा राष्ट्रवाद एक प्रमुख वैचारिकी बन गया है।

2.3 राष्ट्रवाद

''राष्ट्रवाद'' राजनीतिक चिंतन तथा विचारो में एक उभयभावी अवधारणा रही है। सभी प्रकार के मौजूदा 'वादों' के विमर्श में चाहे साम्राज्यवाद से धर्मनिरपेक्षवाद, उदारवाद से समुदायवाद, क्षेत्रवाद से अंतर्राष्ट्रीयवाद हो, राष्ट्रवाद की अवधारणा इनमें सबसे अधिक विमर्शित तथा प्रतिस्पर्धात्मक रही है। यह एक द्वैध्वृत्तिक (उभयभावी) अवधारणा है और इसकी द्वैधवृत्ति इसकी दोहरी प्रकृति में स्थित है। जैसा कि पीटर आल्टर ने सुझाया है, राष्ट्रवाद सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक उत्पीड़न तथा मुक्ति दोनों बलों के रूप में कार्य करता है। एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद तथा साम्राज्यवाद-विरोध-दोनों की व्याख्या की प्रक्रिया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रवाद ने यूरोप के साम्राज्यिक विस्तार तथा उत्पीड़न की लोलुपता का समर्थन किया, हालांकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसी राष्ट्रवाद ने एशिया तथा अफ्रीका मे रहने वाले लोगों के साम्राज्यवाद-विरोधी-संघर्ष में नैतिक बल का कार्य किया।

अर्नेस्ट गैलनर के अनुसार राष्ट्रवाद राजनीतिक वैधता का सिद्धांत है जो यह मांग करता है कि नृजातीय सीमाएं राजनीतिक सीमाओं को सीमित न करें। सिद्धांततः राष्ट्रीय तथा राजनीतिक इकाई समनुरूप होनी चाहिए। राष्ट्रवाद एक भावना और आंदोलन के रूप मे इस सिद्धांत पर पूर्णतया आधारित है। कई इतिहासवेत्ता यह तर्क देते हैं कि राष्ट्रवाद एक विचारधारा या भावना के रूप में ब्रिटिश

नोट

शासन से पहले अस्तित्व में नहीं था। इस प्रकार राष्ट्रवाद का उदय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान हुआ। इस लेख में हमारा केन्द्रीय विषय भारत में राष्ट्रवाद का इतिहास है। राजनीति के विद्यार्थी के रूप में हम राष्ट्रवाद के इतिहासलेखन की राजनीति को ढूँढ़ने और जांचने का प्रयास करेंगे। राष्ट्रवाद एक आधुनिक संकल्पना है। प्रत्येक आधुनिक संकल्पना, शक्ति या विचारधारा अपने को इतिहास के आधार पर सत्यापित करने का प्रयास करता है। संकल्पनाओं को इतिहास हमेशा वैधता प्रदान करता है, इसलिए लोगों का हरेक समूह, जिनका संबंध भारत के राष्ट्रवाद से है अपने लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए संकल्पना का इतिहासलेखन करने का प्रयास करते हैं। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहासलेख न ही पक्षपातरहित है और न ही निरपेक्ष। इस विषय का मुख्य उद्देश्य भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासलेखन की विभिन्न विचारधाराओं को समझना है।

इस विषय को भारतीय राष्ट्रवाद को समझने के उपागम से संबद्ध न करके हम उन विभिन्न परिप्रेक्ष्यों या विचारों को समझने का प्रयास करेंगे, जिनका इतिहासवेत्ताओ ने भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या के लिए प्रयोग किया है। प्रत्येक इतिहास लेखन इस पर सहमत है कि भारत का एक आधुनिक राज्य के रूप में उभरना औपनिवेशिक आधुनिकता का परिणाम है। वे इस विचार का समर्थन करते हैं कि एक आधुनिक, एकीकृत, प्रभुत्ववान, एकल, सत्ता के रूप में भारत की कल्पना उपनिवेश विरोधी संघर्ष के दौरान विकसित हुई। इस विचार से परे इतिहासवेत्ताओं की अपनी अलग विचाराधारात्मक, सैद्धांतिक तथा बौद्धिक गुटता और सामाजिक प्रतिबद्धता है। मैं इस बिंदु पर भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहासलेखन के चार मुख्य परिप्रेक्ष्यों से परिचय कराना चाहूंगी –

क औपनिवेशिक/साम्राज्यवादी/कैंब्रिज स्कूल

ख राष्ट्रवादी स्कूल

ग मार्क्सवादी स्कूल

घ उपाश्रित स्कूल।

हमें यहाँ पर यह समझने की आवश्यकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद के प्रत्येक परिप्रेक्ष्य का अपना सामार्जिक ऐतिहासिक संदर्भ है। इस पर्चे में ऐतिहासिक तथा सामाजिक संदर्भों के विस्तार मे न जा कर हम इनकी व्याख्याओं का वर्णन करेंगे तथा राजनीति विज्ञान का छात्र होने के नाते इसके पीछे की राजनीति को प्रकट करेंगे। इस अध्याय में हम पहली दो विचारधाराओं के बारे में विस्तार से विमर्श करेंगे परंतु इससे पहले यह आवश्यक हो जाता है कि हम संक्षिप्त में उपर्युक्त चारों परिप्रेक्ष्यों पर विमर्श करें।

औपनिवेशिक/साम्राज्यवादी/कैंब्रिज स्कूल इस तथ्य को नकारते हैं कि औपनिवेशिक शक्ति के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध भारत में राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ और इसने अपने आप को विकसित तथा मजबूत किया। यह स्कूल मानता है कि साम्राज्यवाद, सभ्यता तथा सामाजिक सुधारों के साथ भारत आया और इसने भारतीयों का आधुनिकता तथा जागरण के आधारभूत सिद्धांतों तथा नियमों से अवगत कराया। साम्राज्यवादी स्कूल के अनुसार राष्ट्रवादी आंदोलन जन आंदोलन न होकर अभिजात वर्ग की आवश्यकताओं का उत्पाद था जो अपने संकीर्ण हितों या अपने समूह-हितों की पूर्ति करता था। इस स्कूल के अनुसार राष्ट्रवादी वह लोग थे जिन्होंने जाति तथा धार्मिक पहचानों के आधार पर समूह निर्माण किया और राष्ट्रवाद का इस्तेमाल अपने निजी स्वार्थपूर्ण हितों की पूर्ति के लिए किया।

नोट

भारतीय इतिहासलेखन के राष्ट्रवादी स्कूल ने राष्ट्रवाद को एक मुख्य सत्ता तथा भावना के रूप में देखा जिसने स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता की भावना को मजबूत किया। इस स्कूल ने साम्राज्यवादी विचारधारा की शोषक प्रकृति को प्रकट किया। यह स्कूल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की एक राष्ट्रीय आंदोलन तथा जन आंदोलन के रूप मे व्याख्या करता है।

मार्क्सवादी स्कूल भारतीय इतिहासलेखन के क्षैतिज पर कुछ देर में उभरा। इस स्कूल ने अपने आप को कार्ल मार्क्स के मूलभूत मौलिक विचारों पर विकसित किया। मार्क्सवाद साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को उस पूंजीवाद की परिणति बताता है जो यूरोप मे औद्योगिक क्रांति की वजह से विकसित हुआ। व्लादिमीर लेनिन, रोजा लक्जमबर्ग आदि ने इस विचार को प्रतिपादित किया। उन्होंने साम्राज्यवाद की सबसे अधिक शोषणकारी व्यवस्था के रूप में व्याख्या की। मार्क्सवादी स्कूल ने राष्ट्रवाद का उच्चवर्गीय देशी बुर्जुआ की विचारधारा के रूप में विश्लेषण किया रजनी पाम दत्त तथा ए.आर.देसाई भारतीय राष्ट्रवाद के मार्क्सवादी इतिहासलेखन के संस्थापक थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के वर्ग चरित्र की आलोचना की। उन्होंने यह तर्क दिया कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग ने किसानों तथा अन्य निम्न वर्ग के लोगों की अनदेखी की है। यह स्कूल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की व्याख्या भारतीय अभिजात वर्ग के आंदोलन के रूप में करता है। वे तर्क देते हैं कि भारत में राष्ट्रवाद विरोधाभासी और द्वैधवृत्तिक है।

राष्ट्रवादी इतिहासलेखन के चौथे स्कूल, उपाश्रित स्कूल ने भी राष्ट्रवाद की शोषणकारी तथा प्रभुत्ववादी विचारधारा के रूप में व्याख्या की है। मार्क्सवादी स्कूल की तरह यह स्कूल भी साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रवादी विचारधारा की शोषणकारी प्रकृति की आलोचना करता है। यह स्कूल मार्क्सवादी स्कूल से काफी प्रभावित रहा है हालांकि मार्क्सवादी तथा उपाश्रित स्कूल में सूक्ष्म अंतर है। उपाश्रित स्कूल इस मार्क्सवादी व्याख्या में विश्वास करता है कि भारतीय राष्ट्रवाद प्रभुत्ववादी तथा शोषणकारी प्रकृति का था। यह न तो सजातीय है और न ही एकीकृत जैसा कि इसको दिखाने की कोशिश की गई है। परंतु शोषण के आधार तथा प्रकृति को लेकर यह मार्क्सवादियों से भिन्न मत रखता है। यह स्कूल तर्क देता है कि भारतीय समाज की व्याख्या केवल वर्ग के आधार पर नहीं की जा सकती, क्योंकि उस समय भारत में पूंजीवाद अपने आरंभिक चरण में था। बुर्जुआ वर्ग के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या करने की बजाय यह समझना होगा कि भारतीय राष्ट्रवाद जाति, लिंग, धर्म तथा नस्ल आधारित विभाजन के कारण शोषणकारी प्रकृति का था। उपाश्रित स्कूल यह दावा करता है कि भारतीय राष्ट्रवाद ने राष्ट्र के भीतर विद्यमान आंतरिक विरोधों से परहेज किया और अपने एकीकृतत गौरवशाली इतिहास की विस्तृत व्याख्या में उपेक्षित आवाजों की अनदेखी की है।

यह स्कूल दावा करता है कि राष्ट्रवादी इतिहासलेखन ने इतिहास की सूक्ष्म आवाजों की अनदेखी की है, जैसे दलितों, महिलाओं तथा आदिवासी लोगों का इतिहास। उपाश्रित स्कूल विभिन्न तरीकों से निम्न पायदान पर खड़े तथा उपाश्रितों के इतिहास को आगे लाना चाहते हैं। इन चारों विचारधाराओं पर संक्षिप्त विमर्श के बाद हम पहली दो विचारधाराओं पर विस्तृत विमर्श के लिए लौटते हैं क्योंकि इस अध्याय का क्षेत्र इन दोनों तक ही सीमित है।

2.4 साम्राज्यवादी/कैंब्रिज/उपनिवेशी स्कूल

जैसा कि बिपिन चंद्र तर्क देते हैं, साम्राज्यवादी परिप्रेक्ष्य सबसे पहले वायसरायों – लार्ड डफरिन, कर्जन तथा मिंटो, तथा सचिव जॉर्ज हैमिल्टन के लेखों, वक्तव्यों तथा घोषणाओं से उजागर हुआ। सर्वप्रथम

वी.चिरोल और रॉलेट कमेटी की रिपोर्ट ने इसे प्रस्तुत किया। अमेरिकन विद्वान ब्रुस टी.मैक्कली ने 1940 में इस दृष्टिकोण का सैद्धांतीकरण करने का प्रयास किया। तत्पश्चात यह स्कूल उदारवादियों एवं रूढ़िवादियो में बंट गया। इसके रूढ़िवादी अंग ने स्वयं को कैंब्रिज स्कूल में विकसित कर लिया। अनिल सील और जे.ए गैलेघर ने 1968 के बाद इस स्कूल को भारत में विकसित किया।

नोट

कैंब्रिज स्कूल

कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय

अनिल सील के शोध प्रबंध इमरजेंस ऑफ इंडिया नेशनलिज्म (1968) का निर्देशन कैम्ब्रिज के जॉन गेलेधर ने किया था। इस शोध ग्रंथ में जॉन गेलेधर की अभिधारणा को ही आगे बढ़ाया गया। अनिल सील के प्रथम पीढ़ी के छात्रों खासतौर पर जुडिथ ब्राउन, जिन्होंने गांधीजी राईज टू पावर (कैम्ब्रिज 1972) लिखी, ने भी इस परंपरा को आगे बढ़ाया। इनके अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे संभ्रांत वर्ग के लोग सबसे पहले बंगाल बंबई और मद्रास के अल्पसंख्यक उच्च जाति के थे और पिछड़ी जातियों और क्षेत्रों की राजनीति इस अंग्रेजी शिक्षित राष्ट्रवाद के खिलाफ अल्पसंख्यकों का प्रतिरोध था। हालांकि बाद में जॉन गेलेधर और उनके विद्यार्थियों ने अपने विचार में तेजी से परिवर्तन किया और कैम्ब्रिज सम्प्रदाय इसी बदले हुए विचार का प्रतिफलन है। जॉन गेलेधर ने रोनाल्ड रॉबिन्सन के साथ पहले 'अफ्रीका एण्ड द विक्टोरियन्स' (1961) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसमें 1960 के दशक के आरंभ में साम्राज्यी अध्ययन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का काम किया।

संक्षेप में गेलेधर और रॉबिन्सन ने यह कहा था कि साम्राज्यवाद यूरोप में नई आर्थिक शक्तियों का प्रतिफलन नहीं था बल्कि अफ्रीका और एशिया में स्थानीय कारणों से हुए राजनीतिक ह्रास का परिणाम था। देशी समाजों के आंतरिक कलह से पैदा हुई राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए साम्राज्यवाद को मजबूरन आगे आना पड़ा। गेलेधर के एक कुशाग्र युवा शिष्य अनिल सील ने भारत में आधुनिक राजनीति के उदय की व्याख्या करते हुए भारतीय समाज के आंतरिक राजनीतिक कलह पर प्रकाश डाला और खासतौर पर जाति तथा विभिन्न क्षेत्रों, समुदायों और जातियों के बीच अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की होड़ को जाएज बताया। 1970 के दशक के आरंभ में जॉन गेलेधर, अनिल सील और गार्डन जॉनसन के इर्द-गिर्द शोधार्थियों का एक नया समूह खड़ा हुआ। (गार्डन जॉनसन मॉर्डन एशियन स्टडीज के संपादक थे और ये अनिल सील के छात्र थे जिन्होंने महाराष्ट्र की राजनीति पर शोध किया था इनका शोध अनिल सील और जुडिथ ब्राउन से काफी मिलता जुलता है)। यह समूह कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के नाम से जाना गया। इस समूह ने अपने को पहले से चले आ रहे संभ्रांत सिद्धांत से अलग किया और जारी बहस के सवालों के नए जवाब पेश किए।

हालांकि इनका भी यह मानना था कि राष्ट्रवाद मूलत: सत्ता प्राप्त करने का एक खेल था। इस दौरान जो नई दृष्टि विकसित हुई उसमें आधुनिक राजनीति के पीछे अंग्रेजी शिक्षा की उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं थी और न ही औपनिवेशिक शासन के दौरान हुए आर्थिक परिवर्तन। बल्कि इसके विपरीत उपमहाद्वीप में सरकार का बढ़ता केन्द्रीकरण और इसके ढाँचे के तहत प्रतिनिधित्व के बढ़ते तत्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में सरकार की मौजूदगी महसूस की गई और विधाई प्रतिनिधित्व की नई शैली के जरिए दूर-दराज के इलाकों को केन्द्र से जोड़ा गया। सरकार के हस्तक्षेप से अंग्रेजी राज में आधुनिक राजनीति के लिए जगह बनी। दूसरे क्षेत्र या राष्ट्र के बजाए स्थानीय स्थल विशेष को राजनीति का वास्तविक आधार माना गया। राजनीति से जुड़े ये 'वास्तविक हित' स्थानीय हित थे न कि ये मिथकीय राष्ट्रीय हित या यहाँ तक कि क्षेत्रीय-सांस्कृतिक हित भी

नोट

नहीं थे। स्थानीय हित ने सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय हित या क्षेत्र के सांस्कृतिक हित को विस्थापित कर दिया। तीसरे, राजनीति में जाति या समुदाय या वर्ग के आधार पर नहीं बल्कि स्थान विशेष से संरक्षक-आश्रित संबंध के आधार पर निर्मित गुटों के रूप में इकाइयाँ स्थापित हुईं। मालिक-ग्राहक का यह गठजोड़ वर्ग, जाति या समुदाय की सीमाओं का अतिक्रमण करता था। स्थान के अनुसार संरक्षक जिनके हित में गुटबंदी की जाती थी वह स्थानीय तौर पर बाहुबली लोग होते थे, वे या तो शहर में रहने वाले नामी-गिरामी होते थे या गाँव में रहने वाले प्रभावशाली लोग थे। स्थानीय बाहुबलियों को अंग्रेजी पढ़े-लिखे पेशेवर शिक्षित संभ्रांतों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली माना जाता था। सरकार में बढ़ती प्रतिनिधिकता और सभी स्थलों पर सरकार की बढ़ती मौजूदगी के फलस्वरूप राष्ट्रीय राजनीति में स्थानीय संरक्षकों का महत्त्व बढ़ गया।

कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताएँ

कैम्ब्रिज सम्प्रदाय में स्थानीयता और वहाँ मौजूद संबंधों पर विशेष बल दिया गया है। सी.ए. बेली ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इलाहाबाद शहर की राजनीति का विश्लेषण करते हुए स्थानीय राजनीति का हवाला दिया है और बताया है कि किस प्रकार प्रभावशाली लोग अपने प्रभाव में रहने वाले लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। शहर में बड़े-बड़े सेठ साहूकार रहा करते थे जिन्हें रईस यानी प्रसिद्ध व्यक्ति का दर्जा प्राप्त था। इन सेठ साहूकारों और रईसों के विभिन्न प्रकार के प्रभाव क्षेत्र थे जिनमें कई प्रकार के समूह शामिल थे। रईसों के सम्पर्क में सभी जातियों और समुदायों के लोग थे। बाद में यही सम्पर्क इलाहाबाद की राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो गई। बंबई की राजनीति का अध्ययन करते हुए गोर्डन जॉनसन ने इससे सहमति व्यक्त की।

प्रत्येक भारतीय राजनीतिज्ञ की एक खास विशिष्टता यह थी कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को भारतीय समाज के सभी स्तरों से जुड़े विविध और एक-दूसरे के विपरीत हितों की देखभाल करनी पड़ती थी और ऐसा करते हुए वे वर्ग, जाति, क्षेत्र और धर्म का अतिक्रमण करते थे। अनिल सील ने अपनी पुस्तक लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन्स की प्रस्तावना लेख 'इम्पेरियलिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया' में इसी बात पर विशेष बल दिया था। इनके अनुसार राजनीतिक मूलत: एक स्थानीय मामला था। वहाँ प्रभाव, हैसियत और संसाधनों के लिए होड़ मची हुई थी। इस होड़ में संरक्षक अपने मातहतों को अलग-अलग गुटों में बाँटकर मदद करता था। इस प्रकार उसके मातहतों में किसी प्रकार का तालमेल या साँठगांठ नहीं हुआ करती थी। इसकी बजाए वह बड़े लोगों और उनके अनुयायियों के संघ हुआ करते थे। दूसरे शब्दों में ये गुट एक-दूसरे से जुड़े तो थे परन्तु इनका संबंध खड़ी रेखा (अर्थात् ऊपर से नीचे) में था न कि पड़ी रेखा (अर्थात् अगल-बगल) का। स्थानीय टकराव कि स्थिति की विरल ही जमींदार और जमींदार का, शिक्षित और शिक्षित का, मुसलमान के साथ काम करते थे। ब्राह्मण गैर-ब्राह्मणों के साथ गुट बनाया करते थे।

कैम्ब्रिज व्याख्या के अनुसार, राजनीति की जड़ स्थानीयता अर्थात् जिला, नगरपालिका, गाँव में निहित होती थी। शहर के प्रभावी लोग और गाँव के बाहुबली तथाकथित कमजोर साम्राज्यी सरकार द्व ारा बिना किसी हस्तक्षेप के संसाधनों का वितरण किया करते थे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में स्थिति बदलने लगी। डेविड वाशब्रक के अनुसार प्रगति करने, अधिक धन कमाने और अधिक जनकल्याण और अच्छे कार्य करने के लिए साम्राज्यी शासन ने कई नौकरशाही और संवैधानिक सुधार किए जिसने ज्यादा से ज्यादा स्थानीय राजनीतिज्ञों को स्थानीय राजनीति छोड़कर केन्द्र की ओर बढ़ने के लिए बाध्य किया।

नोट

जॉन गेलेधर का मानना था कि इसी सरकारी हस्तक्षेप से भारतीय राजनीति का काम करने का ढंग बदल गया। उन्होंने गलतफहमी दूर करते हुए कहा कि 'इसका मतलब यह नहीं है कि भारतीय राजनीति को सामाजिक समूहों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रमों के साथ दलों से जोड़ दिया गया। अभी भी संरक्षक और आश्रितों के संबंधों की प्रमुखता थी इसके अलावा स्थानीय जगहों पर फैले सम्पर्कों और विभिन्न गुटों के बीच संधि की उलट-फेर अभी भी प्रमुख तत्व थे। इस प्रकार ये विभिन्न प्रकार की सतही एकताओं के ऊपर स्थित थे। इसके बावजूद एक परिवर्तन यह हुआ कि अधिक से अधिक इलाकों का गठबंधन हुआ और इन्हें राजनीति के बड़े क्षेत्रों से जोड़ा गया। इन चुनावी पद्धतियों के फलस्वरूप प्रशासनिक परिवर्तन भी करने पड़े।' (जॉन गेलेधर, कांग्रेस इन डेकलाइन : बंगाल 1930 टू 1939 लोकेलिटि, प्रोविन्स और नेशन में)। अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में अनिल सील ने भी यही बात कही है। केन्द्रीकृत और प्रतिनिधिक सरकार बनने से अब भारतवासियों के लिए राजनीतिक लाभ केवल स्थानीय इलाकों तक ही सीमित ही नहीं रह गया। सरकार के लिए केन्द्र से ज्यादा से ज्यादा मोल-भाव करने में बढ़ती शक्ति से प्रान्तीय और अखिल भारतीय राजनीति का निर्माण हुआ। गाँव जिला और छोटे शहरों की राजनीति बढ़कर केन्द्र तक पहुँचने लगी। परन्तु मद्रास नेटिव एसोसिएशन या भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राजनीतिक संगठन प्रांतों और केन्द्र में राजनीति का नया खेल खेलने लगे। 'सरकार के औपचारिक ढाँचा ने राजनीति का ढाँचा निर्मित किया और इसी ढाँचे के तहत काम करते हुए भारतवासी सत्ता और संरक्षण के वितरन का निर्धारण कर सकते थे।' (अनिल सील, इम्पेरियल्ज्म एण्ड नेशनलिज्म, लोकेलिटि, प्रोविन्स एण्ड नेशन) सी.जे. बेकर के अनुसार अभी तक स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति अपनी सत्ता का उपयोग मनमर्जी से करता था।

अब उसे ब्रिटिश राज के नए प्रशासनिक और प्रतिनिधिक ढाँचे के अनुसार बदलना पड़ा। बड़ी चौहदियों के आधार पर बने संगठनों पर आधारित राष्ट्रीय राजनीतिक ढाँचे के अनुसार उन्हें बदलना पड़ा। जस्टिस पार्टी, हिन्दू महासभा, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ ऐसे ही बड़े संगठन थे। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय से जुड़े विद्वानों का मानना था कि गांधी के आने के बाद राजनीतिक बदलाव तो आया परन्तु यह भी संभ्रांत लोगों के हाथ में था, यह जब आंदोलन नहीं बना। उनके अनुसार प्रत्येक चरण में किए जाने वाले संवैधानिक सुधार अखिल भारतीय राजनीति को स्फूर्ति प्रदान करते रहे। मौटफोर्ड सुधारों ने असहयोग आंदोलन के लिए, साइमन कमीशन ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन और क्रिप्स मिशन ने भारत छोड़ो आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया। जब भी सरकार केन्द्र में नया सुधार लागू करने का प्रस्ताव करती थी जो स्थानीय इलाकों में संरक्षण के बँटवारे को प्रभावित करती थी, उसी समय राजनीतिज्ञ नए राजनीति आंदोलन छेड़ने को उठ खड़े होते थे। गोर्डन जॉनसन के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद का विकास कालानुक्रम नहीं दिखता है।

साम्राज्यवादी दृष्टिकोण

रूढ़िवादी उपनिवेशिक प्रशासकों, जिन्होंनें ब्रिटिश साम्राज्य का साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से अध्ययन किया और ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में सभ्यता के स्त्रोत के रूप में समर्थन किया, को कैंब्रिज स्कूल के रूप में जाना जाता है। अनिल सील, जे.ए.गैलेघर, गौडिन जॉनसन, रिचर्ड गौर्डन, तथा डेविड वॉशब्रुक इस स्कूल के अग्रज हैं।

इस स्कूल ने भारतीय अतीत की व्याख्या साम्राज्यी आवश्यकताओं के आधार पर की है। इस स्कूल के इतिहासलेखन का उद्देश्य भारतीय अतीत की इस प्रकार से व्याख्या करना है जो ब्रिटिश

नोट

साम्राज्य को सुगमता प्रदान कर सके। यह स्कूल साम्राज्यवाद की शोषकारी प्रकृति को नकारता है। इस स्कूल के इतिहासकार इस तथ्य को नहीं मानते हैं कि भारतीय उपनिवेश-विरोधी संघर्ष ब्रिटिश उपनिवेशवाद द्वारा भारत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक शोषण का परिणाम था। वे साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय संघर्ष को एक कृत्रिम अंग या स्वांग युद्ध के रूप में देखते हैं। वे साम्राज्यी विरोधाभासों को, भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के कारण के रूप में पूर्णत: नामंजूर करते हैं। साम्राज्यवादी लेखक इससे इंकार करते हैं कि भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था। उन्होंने भारत को विभिन्न जातियों, धर्मों, नस्लों तथा समुदायों के समूह के रूप में समझा। उन्होंने तर्क दिया कि भारत में राजनीतिक संगठन का आधार इन समूहों की लामबंदी पर आधारित है तथा ये समूह अपने स्वार्थी तथा व्यक्तिगत हितों को ढँकने के लिए राष्ट्रवाद का इस्तेमाल कर रहे थे। उनके विचार मे राष्ट्रीय आंदोलन, लोगों का आंदोलन नहीं था बल्कि अभिजात समूह की आवश्यकताओं तथा हितों का उत्पाद था। इसलिए, अभिजात समूह और उनके निजी हितों ने राष्ट्रवाद के विचार को, विचारधारा तथा आंदोलन का रूप दिया। इस समूह के दो मुख्य निर्माणकारी तत्व जाति तथा धार्मिक पहचान थे अथवा संरक्षण के इर्द-गिर्द बने राजनीतिक संबंध थे। वे तर्क देते हैं कि प्रत्येक समूह के अपने कई संकीर्ण स्वार्थी हित थे तथा वे राष्ट्रवाद का उपयोग, एक विचारधारा के रूप में जन-लामबंदी और जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए करते थे।

डफरिन, कर्जन, चिरौल, लोवेट, मैक्कली और बी.बी.मिश्रा तर्क देते हैं कि भारत के शिक्षित मध्यवर्ग ने राष्ट्रवाद को 'परोपकारी राज्य' के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रयोग किया। अनिल सील ने अपनी पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद का उदय' में इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने तर्क दिया है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध नहीं लड़ा गया था बल्कि यह ब्रिटिश समर्थन के लिए, एक अभिजात समूह से दूसरे अभिजात समूह के विरुद्ध संघर्ष को दर्शाता है। इस प्रकार अनिल सील ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को आपसी प्रतिद्वंद्विता तथा द्वेष के रूप में वर्णित किया है। जातीय तथा धार्मिक पहचानों के साथ, अनिल सील तथा जॉन गैलेघर ने व्याख्या की है कि भारतीय अभिजात समूह संरक्षक-आश्रित संबंध के आधार पर बना था। वे लिखते हैं कि जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनी प्रशासनिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता को स्थानीय इलाकों तथा प्रांतों तक विस्तृत किया, स्थानीय अभिजातों ने संरक्षकों और आश्रितों को, जिनके हितों का वे संरक्षण करते थे और जो बदले में उनके हितों को पूरा करते थे, राजनीतिक आधार पर संगठित करना आरंभ किया।

इस प्रकार, भारतीय राजनीति संरक्षक-आश्रित संबंध के आधार पर निर्मित होनी प्रारंभ हो गई। इतिहासकार यह तर्क देते हैं कि बाद में बड़े नेता उदित हुए, जिन्होंने दलालों के रूप में कार्य किया और स्थानीय जनता और ब्रिटिश राज्य के बीच कड़ी के रूप में कार्य किया। अनिल सील कहते हैं कि राजनीतिक सौदाकारों में गांधी, नेहरू तथा पटेल प्रमुख थे। वे यह विश्वास करते थे कि स्थानीय लोग, जिनकी तरफ से ये राजनीतिक सौदेबाजी कर रहे थे, 1918 के बाद ही इस आंदोलन से जुड़े। इन इतिहासकारों का यह भी मानना है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का ब्रिटिश उपनिवेशवाद की शोषणकारी प्रवृत्ति से कोई लेना देना नहीं था बल्कि यह आंदोलन स्वयं अपनी समस्याओं के कारण विकसित हुआ जैसे कि युद्ध, मुद्रास्फीति, बीमारी, सूखा तथा मंदी। वे वही शिकायतें थीं, जो राष्ट्रवादियों द्वारा उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष में शामिल करने के लिए प्रयोग में लाई गई। रोमिला थापर अपने लेख 'भारतीय इतिहास की व्याख्या : उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और

नोट

उत्तर-उपनिवेशवादी' में चर्चा करती हैं कि भारत के आधुनिक इतिहासलेखन का सूत्रपात ब्रिटिश सत्ता द्वारा हुआ है। भारत में अपने साम्राज्यवादी शासन को वैध बनाने के लिए उन्होंने आधुनिक भारत के अतीत का पता लगाना शुरू किया। यह प्रक्रिया आगे चलकर राष्ट्रवादी इतिहासकारों और उत्तर-उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा आगे बढ़ाई गई (भारतीय इतिहाास की मार्क्सवादी और उपाश्रित व्याख्या)। थापर ब्रिटिश इतिहासलेखन को उपनिवेशवादी स्कूल घोषित करती है। वह तर्क देती है कि भारत का इतिहासलेखन भारत के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की उपनिवेशवादी शक्ति की तीव्र आकांक्षा पर आधारित था। और साम्राज्यवादी इतिहासलेखन 'ज्ञान सत्ता' के विचार पर आधारित था। भारत में सत्ता प्राप्त करने के लक्ष्य को वैधता प्रदान करने के लिए उन्होंने भारतीय तथा यूरोपीय अतीत के बीच संबंध खोजना शुरू कर दिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने न केवल भारतीय अतीत की खोज की, अपितु उन्होंने भारत के अतीत के बारे में एक भिन्न ज्ञान रचित भी किया। साम्राज्यवादी सत्ता की इस विचारधारात्मक मंशा ने विमर्शों, और 'प्राच्य' के विषय में चर्चा का सूत्रपात किया। थापर ने इस संबंध में उपनिवेशवादी इतिहासलेखन को दो मुख्य शाखाओं में विभाजित किया है। ये दो शाखाएं हैं -

1. इतिहासलेखन का प्राच्यवादी स्कूल।
2. इतिहासलेखन का उपयोगितावादी स्कूल।

प्राच्य का अर्थ है पूरब का। परंपरागत रूप से इस शब्द का इस्तेमाल लोगों ने पूरब (पूर्व) से संबंधित किसी भी वस्तु या वार्तालाप के लिए किया। यह एक लैटिन शब्द है। इसका विपरीतार्थक शब्द पश्चिम है।

प्राच्यवाद बोधक है, पश्चिम द्वारा किया गया पूर्वी क्षेत्र का अध्ययन। एडवर्ड सैड ने 1978 में अपनी पुस्तक 'ओरियन्टलिज्म' में पहली बार इस प्रक्रिया का सैद्धांतीकरण किया। उसने इस शब्द का इस्तेमाल पाश्चात्य शिक्षाविदों के पक्षपाती रवैये को दर्शाने में किया जो पूर्व को एक ऐसी निश्चित श्रेणी में स्थापित करता है जो बहुत भिन्न, दुर्लभ तथा पश्चिम से दूसरी तरह का है। सैड का दावा है कि प्राच्यवाद पश्चिम के भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण का परिणाम है। एडवर्ड सैड एन्टोनियो ग्राम्शी की आधिपत्य की अवधारणा तथा माइकेल फूको के विमर्श तथा सत्ता और ज्ञान के बीच संबंध की समझ से अभिप्रेरित है।

इतिहासलेखन का प्राच्यवादी स्कूल

प्लासी का युद्ध (1757) आधुनिक भारत के इतिहाास का निर्णायक क्षण था। इस युद्ध के बाद भारत में सही मायने में औपनिवेशिक शासन की स्थापना हुई। युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश शासकों ने इस देश में अपने औपनिवेशिक शासन के औचित्य स्थापन की ओर ध्यान दिया। इसके लिए इन्होंने इतिहास का सहारा लिया। भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण औपनिवेशिक प्रशासन की आधारभूत आवश्यकता थी। भारतीय इतिहास पर उपनिवेशीय परिप्रेक्ष्य कई चरणों में विकसित हुआ। भारतीय इतिहासलेखन का आरंभिक स्त्रोत ईसाई मिशनरियों का लेखन था। उन्होंने भारतीयों को पूर्व-आधुनिक, आदिजन, जंगली आदि के रूप में चित्रित किया। यद्यपि उनका ज्ञान पंडितों तथा मुल्लाओं से बातचीत तथा भारतीय ग्रंथों तथा धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन पर आधारित था। फिर भी उन्होंने हमें आदिजन तथा जंगली के रूप में ही देखा। इस प्रकारी की जानकारी का उद्देश्य इस तथ्य को चित्रित करना था कि भारतीय इतिहास थमा हुआ तथा गैर प्रगतिशील था। वस्तुतः इस प्रकार के इतिहासलेखन का उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक शासन को न्यायोचित ठहराना था। वे इस तथ्य को बताना चाहते थे

कि केवल वे ही भारतीय समाज में सभ्यता तथा तरक्की ला सकते हैं। इस प्रकार से उन्होंने अपनी साम्राज्यवादी सत्ता को न्यायोचित ठहराया। परंतु शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि इस प्रक्रिया से वे अधिक दूर तक नहीं जा पाएंगे।

नोट

इस परिस्थिति (संकटकाल) में उन्होंने प्राच्यवादी मोड़ लिया। प्राच्यवाद जैसा कि एडवर्ड सैड तर्क देते हैं सत्ता प्राप्त के लिए यूरोपियों की ज्ञान पिपासा थी, इसलिए यूरोपियों ने ऊपरी तौर सेही इतिहास लिखने का प्रयास किया। पर भारत में स्थिति भिन्न थी। यूरोपियों ने भारतीय इतिहास की जानकारी, भारतीय ब्राह्मणों, पंडितों तथा मुल्लाओं, जिसका भारतीय ज्ञान व्यवस्था पर आधिपत्य था, से ली, परंतु यहां भी अतीत के ज्ञान को प्रस्तुत करने का उद्देश्य सत्ता की वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करना था। उस समय की आवश्यकता थी–औपनिवेशिक राज्य की सेवा करना। इस स्कूल ने आरंभ मे भारतीय इतिहास तथा यूरोपीय इतिहास के संबंध को स्थापित करना शुरू किया। उन्होंने भारतीय भाषाओं तथा धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन शुरू किया। उनका विश्वास था कि यूरोप की तरह भारत का भी महान तथा गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। सर विलियम जोंस अपने समय के महान ब्रिटिश भाषाशास्त्री तथा दार्शनिक थे। उन्होंने संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाओं में संबंध स्थापित किया तथा ऐसा करके उन्होंने भाषाओं के परिवारों में संबंध बनाया। इसके पीछे उनकी मंशा इस तथ्य को स्थापित करने की थी कि भारतीय इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना कि यूरोप का तथा भारत का भी यूरोप की तरह गौरवपूर्ण दुर्लभ अतीत है। उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत का बचाव किया और बाईबिल की कहानियों के साथ जोड़ने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए प्राच्यवादियों ने नोह आर्क की कहानी को मनु की कहानी के समानांतर रखा है।

रोमिला थापन ने यह तर्क दिया कि इतिहासलेखन का यह स्कूल, यूरोपीय तथा एशियन समाजों में आर्यन संबंध के जरिये एशिया और यूरोप के मध्य नस्लीय संबंधों को स्थापित करता है। यकीनन उनका उद्देश्य भारतीय तथा यूरोपीय अतीत को एकीकृत करना था, परंतु इस प्रक्रिया में वे नस्ल के साथ जाति को लेकर भ्रमित हुए। उन्होंने इस तथ्य को स्थापित करने की कोशिश की कि उच्च जातीय भारतीय मूलत: आर्यन नस्ल के लोग हैं। इस प्रकार उन्होंने भारतीय समाज को नस्ल की श्रेणी से अवगत कराया। शेखर बंदोपाध्याय ने तर्क दिया कि हम प्राच्यवाद की व्यावहारिकता को वॉरेन हैस्टिंग्ज के कार्यक्रमों तथा नीतियों में देखते हैं। उनका मूलभूत नियम था भारत को भारतीय कानूनों और नियमों द्वारा शासित करना जिससे कि वे वैधता प्राप्त कर सकें। इस उद्देश्य के लिए उनके लिए यह आवश्यक था कि वे भारतीय समाज के बारे में जानकारी प्राप्त करें। वे भारतीयों को भी ब्रिटिश राज के बजाय ब्रिटिश शासन की अधीनता मे रखना चाहते थे। थॉमस ट्राटमैन तर्क देते हैं कि प्राच्यवादी रक्त संबंधों (नस्लीय संबंध) को बढ़ावा देकर उपनिवेशवादियों ने प्रेम के शब्दाडंबरों के जरिये नैतिक रूप से जोड़ने की कोशिश की है। प्राच्यवादियों के दो पक्ष थे। लार्ड कार्नवालिस एक प्राच्यवादी प्रशासक के रूप में भारत के गौरवपूर्ण अतीत में विश्वास करता है परंतु समकालीन भारत को गिरती स्थिति में पाता है। कार्नवालिस समकालीन भारतीय प्रशासन के आंग्लीकरण के पक्ष में था। वह भारतीय समाज में हस्तक्षेप के पक्ष में था। परंतु थॉमस मुनरो जैसे प्रशासकों का अलग पक्ष था, जिन्होंने भारतीय समाज के रीति रिवाजों और परंपराओं का बचाव किया और अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया।

अत: साम्राज्यवादी परिप्रेक्ष्य के इस चरण के मुख्य मुद्दे इस प्रकार हैं :

उस चरण में प्राच्यवादी भारतीय अतीत के रूमानीवादी तथा श्रेण्यवाद से प्रेरित थे।

नोट

1. उनकी परियोजना का मुख्य उद्देश्य भारत की विजातीय छवि का निर्माण करना था। भारत के ऐतिहासिक चित्रण के जरिए उन्होंने भारत की तात्विक तथा आध्यात्मिक कल्पना का निर्माण किया। इस प्रक्रिया में प्राच्यवादी यह संदेश देते हैं कि भारत देश यूरोप से पूर्ण रूप से भिन्न है। भारत आध्यात्मिक है, तथा उत्कृष्टता में विश्वास करता है, वहीं यूरोप वैज्ञानिक है तथा तथ्यों और सत्यों में विश्वास करता है। इस प्रकार उन्होंने भारत को ''यूरोपीय स्व'' से ''अन्य'' के रूप में चित्रित किया।

2. इस चरण में अधिकतर यूरोपियों ने भारतीय सामाजिक रीतियों और परंपराओं में अहस्तक्षेप के दृष्टिकोण का अनुसरण किया।

उन्हीं के सिद्धांतानुसार, भारत के संदर्भ में मिल ने भारत में उपनिवेशवाद की उपस्थिति और साम्राज्यवादी उपयोगितावादी उदार नीति को न्यायोचित ठहराया।

इतिहासलेखन का उपयोगितावादी स्कूल :

रोमिला थापर तर्क देती हैं कि 19वीं शताब्दी के अंत में साम्राज्यवादी विचारधारा बदल गई थी क्योंकि इसकी आवश्यकता बदल गई थी। इस समय तक भारत पर उपनिवेशी विजय पूर्ण हो गई थी। अब ब्रिटिश साम्राज्य भारत की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण प्राप्त करना चाहता था जिससे कि वह इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त कर सके तथा तैयार माल के लिए बाजार भी। सीधे शब्दों में वह भारतीय अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण प्राप्त करना चाहता था। इस कारण उन्होंने अपने अहस्तक्षेपवादी दृष्टिकोण के हस्तक्षेपवादी दृष्टिकोण में बदल दिया। अपने दृष्टिकोण में इस बदलाव को उचित ठहराने के लिए समर्थन (औचित्य)की आवश्यकता थी। साम्राज्यवादी इतिहासलेखन का यह चरण इसी बात पर केन्द्रित था और इसने अपने परिवर्तित दृष्टिकोण की औचित्यता के लिए एक नए स्कूल का निर्माण किया।

नए स्कूल को, उपयोगितावादी स्कूल कहा गया। इस स्कूल के प्रमुख प्रतिनिधि जेम्स मिल, लार्ड विलियम बैंटिक और लॉर्ड डलहौज़ी थे। जैसे ही जेम्स मिल ने लंदन में ईस्ट इंडिया कंपनी का कार्यभार संभाला उन्होंने अपने उपयोगितावादी सिद्धांतानुसार भारत के लिए नीतियां निर्देशित करना प्रारंभ कर दीं। 1817 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' में सबसे पहली बार उन्होंने तर्क दिया कि सर विलियम जोन्स जैसे लोगों ने भारत के गौरवशाली अतीत के विषय में मिथक (कल्पित कथा) की रचना की। मिल ने भारत की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और पारंपरिक संपन्नता की सभी गौरवशाली व्याख्याओं को नकार दिया। उसने भारतीय समाज को कमजोर तथा गतिहीन परिस्थितियों पर बल दिया और यह तथ्य स्थापित किया कि भारतीय समाज में प्रगति लाने के लिए भारत को परिवर्तन की आवश्यकता है। वह आगे तर्क देते हैं कि केवल ब्रिटिश विधान ही भारतीय समाज के लिए परिवर्तन का कारक हो सकता है। उनका अनुसार करते हुए, विचार के उपयोगितावाद स्कूल ने इसी तर्ज पर अपना स्कूल विकसित किया। वे शिक्षा तथा कानूनों के माध्यम से परिवर्तन लाना चाहते थे तथापि, इस स्कूल में आंतरिक विरोधाभासों (विरोधाभास का अर्थ अस्पष्टता या द्वैतवाद) का अस्तित्व था। टी.बी.मैकाले जैसे व्यक्ति अंग्रेजी शिक्षा माध्यम से परिवर्तन लाना चाहते थे, लेकिन मिल स्वयं स्थानीय भाषा में शिक्षा देने के पक्ष में थे। इस विरोधाभास का द्वितीय उदाहरण था – लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा सती प्रथा और शिशु-हत्या को समाप्त करने के लिए कानून का निर्माण। वह उपयोगितावादी दर्शन और विचार का महान समर्थक था, जो कानून के माध्यम से परिवर्तन लाता है। इसके बावजूद उसने इस तथ्य को बनाए रखा कि उसके हृदय में भारतीय परंपरा के लिए बहुत सम्मान है। उसने भारतीयों को उनका सच्चा धर्म वापस दिलाने का

विचार रखा। इस प्रकार प्राचीन हिंदू धर्म ग्रंथों के आधार पर उसने सती-प्रथा समाप्ति के कार्य को न्यायोचित ठहराया और यह स्थापित किया कि यही सच्चा हिंदू धर्म है। इस प्रकार परिवर्तन के इस द्वैतवाद में, निरंतरता के वेश में, उपयोगितावाद स्कूल का विरोधाभास निहित है।

नोट

जेम्स मिल ने भारत के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया - हिंदू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश भारत। वह तर्क देता है कि हिंदू और मुस्लिम सभ्यताएं पिछड़ी तथा गतिहीन थीं। वे भारतीय तथा यूरोपीय सभ्यता के बीच कोई संबंध नहीं ढूंढ सके। उन्होंने श्वेत आर्यनों जैसे यूरोपीय और काले चर्म (रंग) वाले भारतीय लोगों के सिद्धांत को प्रस्थापित किया। इस प्रकार उनके लिए भारत अंधकारपूर्ण महाद्वीप का भाग था और भारतीय समाज मूलतः जातिग्रस्त, कर्मकांडवादी और अपरिवर्तनशील स्थिर समाज था। वह तर्क देते हैं कि भारतीय 'आधुनिकता' के क्रांतिकारी विचार-वैज्ञानिकता, तार्किकता और व्यक्तिवादिता के विचार से अनभिज्ञ थे। उपयोगितावादी सिद्धांतकारों ने भारत के लिए ''प्राच्य निरंकुशता'' की अवधारणा रचित की थी। यहां पर हम बहुत ही संक्षेप मे प्राच्य स्वेच्छाचारी शासन की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे।

''ओरिएंटल डेस्पोटिज्म (प्राच्य तानाशाही)'' : ओरिएंटल का अर्थ है पूरब का, और ''डेस्पौट'' एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है - अत्याचारी शासक। विभिन्न यूरोपीय राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा इस विचार का प्रयोग पूर्वी समाज की प्रशासकीय परिस्थितियों को दर्शाने के लिए किया गया था। पहली बार अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉलिटिक्स' में इस शब्द का प्रयोग प्राच्य प्रशासकीय व्यवस्था की प्रक्रिया को परिभाषित करने के लिए किया था। बाद में इस शब्द का प्रयोग, राजनीतिक विचारकों मांटेस्क्यू, मैक्यावली और हीगल जैसे विचारकों द्वारा हुआ। इस प्रकार 'पूर्वी स्वेच्छाचारी शासन' एशियाई प्रशासकीय समाज को परिभाषित करने के लिए एक अवधारणात्मक ढांचा बन गया। यह एशिया, अफ्रीका और मध्यपूर्व की यूरोकेन्द्रीय व्याख्या का मार्गदर्शक विचार बन गया। आगे मार्क्स ने यह तर्क दिया कि 'पूर्वी तानाशाही' एशियाई उत्पादन की प्रणाली के लिए आवश्यक था। एशिया एक कृषि समाज है और कृषि प्रधान समाजों के लिए व्यक्तिगत संपत्ति स्वीकार नहीं हो सकती। इस प्रकार विश्व के इस भाग को पूर्वी स्वेच्छाचारी शासन की आवश्यकता थी।

इस प्रकार, प्राच्यवादी स्कूल की तरह उपयोगितावादी स्कूल ने भी भारत के 'अनिवार्यीकरण' का विचार रखा। वह प्राच्यवादियों की तरह वैधता भी प्राप्त करना चाहते थे, दोनों स्कूल भारत को यूरोप से भिन्न के रूप में चित्रित करना चाहते थे लेकिन दोनों के बीच बहुत थोड़ा सा अंतर था। उपयोगितावादी स्कूल ने इसी तथ्य को नकार दिया था कि भारतीय अतीत जैसा कि प्राच्यवादियों ने चित्रित किया था, कभी भी गौरवशाली रहा था।

दूसरे, उन्होंने यह तथ्य स्थापित किया कि केवल उपनिवेशवादी प्रशासनिक प्रक्रियाओं से ही भारतीय समाज में परिवर्तन, एकीकृत पहचान और सामजिक सुधार लाया जा सकता है।

इस प्रकार, साम्राज्यवादी दृष्टिकोण ने राष्ट्रवादियों और भारत के एकीकृत क्षेत्र के विचार को और भारतीय राष्ट्रवाद को कभी मान्यता नहीं दी।

2.5 राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य

इतिहासलेखन का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण, स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं द्वारा उसके अतीत की पुनर्व्याख्या का परिणाम था। यह स्कूल, साम्राज्यवादी स्कूल के साथ-साथ उदित हुआ था। अपने प्रसिद्ध लेख ''राइटिंग पोस्ट ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्रीज ऑफ थर्ड वर्ल्ड : परस्पैक्टिवज ऑन इंडियन हिस्टोग्राफ'' में

नोट

उत्तर-उपनिवेशवादी विद्वान ज्ञानप्रकाश यह तर्क देते हैं कि भारत के उत्तर-प्राच्यवादी इतिहास को लिखने के प्रयास रूप में राष्ट्रवादी इतिहासलेखन सामने आया। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने 'भारत एक अपरिवर्तनशील और स्थिर समाज है', के साम्राज्यवादी विचार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की। वह तर्क देते हैं कि, साम्राज्यवादी इतिहासलेखन से विश्राम लेने के प्रयास में, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने प्राच्यवादी इतिहास में निरंतरता और परिवर्तन प्रदर्शित किया। राष्ट्रवादियों ने 'अनिवार्यीकरण प्रक्रिया' को जारी रखते हुए, भारत को, वैज्ञानिक पश्चिम की तुलना में आध्यात्मिक और तात्विक प्रदेश के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से उन्होंने भारत को पश्चिम से ''इतर'' के रूप में भी देखा। उन्होंने साम्राज्यवादी दावे, कि केवल उपनिवेशवादी प्रशासन भारतीय क्षेत्र में परिवर्तन ला सकता है, को नकार दिया। इस प्रकार राष्ट्रवादी इतिहासकार, साम्राज्यवादी इतिहासकारों के इस दावे से प्रतिस्पर्धा कर रहे थे कि भारत आधुनिक राष्ट्र राज्य के रूप में केवल औपनिवेशिक प्रशासन के द्वारा ही उभर सकता है। ज्ञानप्रकाश कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकारों जैसे एच.सी.राय चौधरी, बेनी प्रसाद, आर.सी.मजूमदार, का हवाला देते हुए कहते हैं कि इन इतिहासकारों ने प्राचीन भारतीय इतिहास में, गुप्त तथा मौर्य राजवंश के इतिहास में, भारत को एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में देखा। रोमिला थापर के अनुसार राष्ट्रवादी इतिहासकारों के दावे, कि भारत में सब कुछ अच्छा है, जैसे आध्यात्मिकता, आर्य उद्‌गम, राजनीतिक विचार, कला और शानदार परंपरा, पूर्ण रूप से भारतीय मौलिक विचार हैं। राष्ट्रवादी यहां तक दावा करते हैं कि भारत के स्वर्ण युग ने दक्षिणपूर्व एशिया की संस्कृति के विकास में सशक्त योगदान दिया है। इस प्रकार राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने ''प्राच्य स्वेच्छाचारी शासन'' की अवधारणा को छिन्न-भिन्न कर दिया।

ज्ञानप्रकाश और रोमिला थापर-दोनों तर्क देते हैं कि राष्ट्रवादी इतिहासकार भारतीय इतिहास की कालावधियों को हिंदू, मुस्लिम तथा ब्रिटिश कालों मे विभाजित किए जाने से सहमत थे। भारतीय अतीत के इस साम्राज्यिक विभाजन ने भारत में धार्मिक राष्ट्रवाद को और बढ़ाया। उपर्युक्त वर्णन से हम साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रवादी स्कूलों के बीच निरंतरता और असहमति के बारे में समझ सकते हैं। अब हम राष्ट्रवादी स्कूल की विभिन्न शाखाओं की व्याख्या करेंगे। जवाहर लाल नेहरू, वी.डी. सावरकर, दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपत राय, आर.सी मजूमदार, एस.एन.बनर्जी और बी.आर.नंदा इस स्कूल के प्रख्यात विद्वान तथा अंग्रेज रहे जिन्होंने इस स्कूल के चिंतन तथा दर्शन को प्रस्तुत किया, विकसित किया तथा व्याख्या की। हम इस स्कूल को तीन हिस्सों में समझेंगे :

1. धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य
2. धार्मिक राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य
3. आर्थिक राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य,

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य :

हालांकि भारतीय ज्ञान पर पूर्वी विशेषज्ञता को राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य के प्रत्येक पक्ष ने चुनौती दी परंतु धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का उदय भारतीय अतीत से जुड़े एक विशेष धर्म (हिंदू) के साथ विशिष्ट पहचान के प्रत्युत्तर के रूप में हुआ। ज्ञान प्रकाश का मत है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू की कृति 'भारत एक खोज' इस गुट के राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य के विकास का मुख्य स्त्रोत हो सकती है। इस पुस्तक में पंडित नेहरू ने तर्क दिया ''भारतीय संस्कृति के लिए हिंदू या हिंदू धर्म का प्रयोग अवांछित था।'' वे अपनी पुस्तक में भारत को एक सांस्कृतिक विविधताओं का देश कहते हैं। यह धर्म, संस्कृति तथा सामाजिक विविधताओं के महान मिश्रण का देश रहा है। नेहरू के अनुसार भारत

नोट

विविधता में एकता का देश है। हिंदू धर्म और भारत के प्राचीन अतीत के मध्य किसी विशेष संबंध को उन्होंने नकारा था। ज्ञान प्रकाश के अनुसार, 'भारत एक खोज' इतिहास के दौरान भारतीय एकता का दस्तावेज था। इस प्रकार उन्होंने भारत के लिए एक धर्मनिरपेक्ष तथा एकीकृत प्रदेश की छवि का निर्माण किया। हालांकि भारत में धार्मिक, नस्लीय विभाजन भी दृष्टिगोचर होते रहे हैं, परंतु अंत में इसने इस पर विजय प्राप्त की। अब भारत एक एकीकृत, अविभाजित तथा गौरवपूर्ण देश है।

धार्मिक राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य :

राष्ट्रवादी इतिहासलेखन का धार्मिक दृष्टिकोण हिंदू पुनरुद्धार पर आधारित है। इस स्कूल के विद्वान यह तर्क देते हैं कि भारत आवश्यक रूप से हिंदू राष्ट्र था। यह वेदों तथा उपनिषदों का स्थान रहा है। यह आध्यात्मिकता तथा महान सांस्कृतिक परंपरा का देश रहा है। उन्होंने भारत को हिंदुओं की पितृभूमि के रूप में बताया। फिर वे तर्क देते हैं कि बाद में (मध्य युग) भारत में इस्लाम आया और मुसलमानों के आगमन के पश्चात, भारतीय इतिहास का पतन वर्तमान स्थिति तक हुआ।

उनका राष्ट्रवाद हिंदू गौरव तथा धार्मिक भावनाओं पर आधारित था। भारतीय नेता जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासलेखन के इस गुट का प्रतिनिधित्व किया वे थे – विनायक दामोदर सावरकर, बाल गंगाधर तिलक तथा अन्य। अरविंदो घोष सरीखे नेताओं ने भौतिकवादी पश्चिम के विपरीत आध्यात्मिक भारत की छवि निर्मित की। उन्होंने भारत की साम्राज्यिक व्याख्या, जिसमें भारतीय समाज सामाजिक बुराइयों-सती, बालविवाह तथा दहेज व्यवस्था, से ग्रसित माना था, के विरुद्ध भारत की गौरवपूर्ण आध्यात्मिक छवि बनाने में सहयोग दिया। उन्होंने इन राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ाने के लिए धार्मिक पर्वों तथा परंपराओं का उपयोग किया। धार्मिक राष्ट्रवाद के विकास ने भारत में सांप्रदायिकता को उभारा। इसने भारत में हिंदू-मुस्लिम विभाजन को बढ़ावा दिया और भारत में धार्मिक पहचान के विचार को सुगम बनाया। इन नेताओं ने औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध क्रांति लाने के लिए सत्ता तथा बल प्रयोग का भी समर्थन किया।

ज्ञान प्रकाश आगे तर्क देते हैं कि हालांकि धार्मिक राष्ट्रवाद प्रकृति से हिंसक था परंतु धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादियों की तरह वे भी प्रकृति से भारत के सजातीय एकल अस्तित्व के विचार के समर्थक थे। यह हम एक उदाहरण के जरिये समझ सकते हैं। विनायक दामोदर सावरकर ने 1909 में 'इंडियन वॉर ऑफ इंडिपेन्डेन्स: 1857'' नामक पुस्तक लिखी। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने प्राच्यविदों के इस दृष्टिकोण की निंदा की जिसमें इन्होंने 1857 के भारतीय संग्राम को सैन्य विद्रोह (बगावत) बताया था। सावरकर ने सैन्य विद्रोह के स्थान पर विप्लव शब्द का इस्तेमाल किया। उन्होंने आगे व्याख्या की कि 1857 का सशस्त्र संघर्ष वास्तव में औपनिवेशिक शोषण और दमन के विरुद्ध अखिल भारतीय विप्लव था।

चेतन भट्ट ने अपनी पुस्तक ''हिंदू नेशनल्जिम : ओरिजन, आइडियोलोजी एंड मॉडर्न मिथ्स'' में भारत में हिंदू राष्ट्रवाद की कड़ी आलोचन की है। वे कहते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद इस दावे पर आधारित है कि यह भारत के प्रामाणिक, आध्यात्मिक, जातीय तथा धार्मिक परंपरा का उत्पाद है, परंतु यह मिथक है। इन्होंने यह सुझाया है कि हिंदू राष्ट्रवाद एक आधुनिक मिथक है और हिंदुत्व की विचारधारा यूरोपीय रोमांसवाद और पुनर्जागरण के विचारों के प्रभाव का परिणाम है। भट्ट के अनुसार भारतीय धार्मिक पहचान आदिमवाद, अवयववाद, सक्रियतावाद तथा साथ ही नस्लवाद पर आधारित है।

हालांकि क्रिस्टॉफर जाफरेलोट सरीखे विद्वानों का मत है कि 'भारतीय राष्ट्रवाद' मुख्यत: उच्चजातीय

सुधारकों के ब्राह्मणवादी विचारों को प्रतिबिंबित करता है। वह हिंदू राष्ट्रवाद की प्रभुता तथा इसके द्वारा की गई अन्य जातीय, नस्ल आधारित, धार्मिक संघर्ष, जो उपनिवेश-विरोधी संघर्ष के दौरान हुए, की आलोचना करता है।

नोट

आर्थिक राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य

दादा भाई नौरोजी ने एक पुस्तक ''पोवर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया'' लिखी। नौरोजी, रानाडे तथा आर.सी.दत्त ने ''द इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया'' प्रकाशित की। उन्होंने इस पुस्तक के तीन खंड लिखे। बाद में यह पुस्तक आर्थिक राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य का एक स्त्रोत बनी।

आर्थिक राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना पर आधारित था। आर्थिक राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक सत्ता द्वारा किए गए आर्थिक शोषण की कठोर निंदा की। दादा भाई नौरोजी, न्यायाधीश एम.जी.रानाडे तथा आर.सी.दत्त ने इस स्कूल का प्रतिनिधित्व किया। आर्थिक राष्ट्रवादियों का यह तर्क कि भारत में गरीबी मुक्त व्यापार के परंपरागत आर्थिक सिद्धांत को लागू करने का परिणाम है। ब्रिटिश साम्राज्य ने कच्चे माल के प्रत्यक्ष दोहन की नीति को बदला और विदेशी पूंजी निवेश तथा मुक्त व्यापार के जरिये शोषण की अल्प दृश्यमान नीति को अपनाया। अब भारत कृषि के कच्चे माल के स्त्रोत के रूप में उभरा और ब्रिटिश पूंजी निवेश के क्षेत्र के रूप में बदल गया। इन विद्वानों का यह मानना था कि भारतीय विकास औद्योगिकरण के जरिए और वह भी केवल भारतीय पूंजी के इस्तेमाल से ही संभव हो सकता है, जबकि विदेशी निवेश लाभ कमाने के उद्देश्य से संपदा के निकास की ओर अग्रसर होगा। दादा भाई नौरोजी का निकास सिद्धांत साम्राज्यिक शक्ति के छिपे आर्थिक शोषण को दर्शाने के लिए एक प्रमुख शब्दावली बन गया।

निकास सिद्धांत : निकास सिद्धांत आर्थिक राष्ट्रवाद की मुख्य अवधारणा है। यह तर्क दिया गया कि घरेलू शुल्क, सैनिक शुल्क तथा रेलवे निवेश पर ब्याज भुगतान के जरिये भारत से संपदा का प्रत्यक्ष निकास हुआ है। ब्रिटिश भारतीय सरकार का बजट घाटा इसका परिणाम था। फलस्वरूप ब्रिटिश भारत ने कठोर कस्नीतियां अपनाई। उच्च भूमि राजस्व की मांग ने किसानों में भूमि से अलगाव तथा निर्धनता को बढ़ावा दिया।

आर्थिक राष्ट्रवादियों ने यह सलाह दी कि ब्रिटिश साम्राज्यों खर्चों और करों को घटाए, सैन्य शुल्क को पुनर्निर्धारित करें, भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिए एक संरक्षणवादी नीति, भूमि राजस्व के मूल्यांकन में कमी, रैयतवारी और माहलवारी क्षेत्रों में स्थाई बंदोबस्त का विस्तार, हस्तकरघा तथा कुटीर उद्योगों की रक्षा आदि से संबंधित नीति अपनाए।

शेखर बंदोपाध्याय का मत है कि पैतृक साम्राज्यवाद की पूर्ण अवधारणा को चुनौती देकर, अन्य राष्ट्रवादियों की तरह आर्थिक राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक शक्ति की संपूर्ण नैतिक सत्ता पर प्रश्न उठाया। आर्थिक राष्ट्रवादियों का मत था कि भारत के स्वदेशी पूंजीवाद को बढ़ावा देने से ही भारत विकास के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

इस अध्याय के अंत मे हम राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य के कुछ आधारभूत लक्षणों को समझने की कोशिश करेंगे। ज्ञान प्रकाश ने इसका बहुत ही साधारण शब्दों में सार प्रस्तुत किया है। उन्होंने राष्ट्रवादी इतिहासलेखन के दो मुख्य लक्षणों को चिन्हित किया है। प्रथम, वे तर्क देते हैं कि प्राच्यविदों की तरह राष्ट्रवादियों ने भी भारत के गौरवपूर्ण अतीत में विश्वास रखा लेकिन उसके बाद अन्य विचारों में उनमें मतभेद था। प्राच्यवादियों के लिए भारत 'ज्ञान का विषय' था, परंतु राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य में भारत एक अविभाजित, संयुक्त और संप्रभु प्रदेश था। दूसरे, राष्ट्रवादियों ने भारत को सत्तामूलक की

पदवी दी, जिसको प्राच्यवादी विद्वानों ने नकार दिया था।

पार्था चटर्जी के अनुसारर भारतीय राष्ट्रवाद यूरोपीय राष्ट्रवाद का 'व्युत्पन्न विमर्श' (लेकिन उससे भिन्न) था। आशीष नंदी भी यह तर्क देते हैं, हालांकि भारतीय राष्ट्रवाद पाश्चात्य साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में उभरा परंतु इस प्रक्रिया में इसने स्वयं को उसी जाल में पाया। राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य वैश्विक आधुनिकता के शोषणवादी ढांचे को नहीं नकारता है। इसने भारत की निम्न जाति, निम्न वर्ग, आदिवासी जीवन तथा स्त्रियों की आवाज़ों की अनदेखी की है जिसकी हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

नोट

2.6 मार्क्सवादी व्याख्या

भारतीय राष्ट्रवाद की मार्क्सवादी व्याख्या करने से पहले हमें स्वतंत्रता आंदोलन के सामाजिक चरित्र, उसकी उत्पत्ति और विकास की अवस्थाओं, सामाजिक समर्थन और लोकप्रिय भागीदारी की प्रकृति और तैयार किए गए अथवा प्रयोग किए गए दाव पेंचों और रणनीतियों को समझना पड़ेगा। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की गिनती आधुनिक समाज के बड़े आंदोलनों में की जाती है। विभिन्न विचारधाराओं और वर्गों करोड़ों लोगों को इस आंदोलन ने राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के प्रेरित किया और शक्तिशाली औपनिवेशिक साम्राज्य को घुटने टेकने के लिए विवश किया। भारतीय राष्ट्रवाद कई चरणों में विकसित हुआ। जैसे-जैसे यह एक चरण से दूसरे चरण की तरफ बढ़ा, इसका सामाजिक आधार भी व्यापक होता गया। इसके लक्ष्य अधिकाधिक साहसिक हुए और अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित हुए, और यह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ। भारत और सारे विश्व में विभिन्न शक्तियों के विकास के फलस्वरूप भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई और वे राष्ट्रीय आंदोलन की परिधि में आए। राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक हर क्षेत्र में यह राष्ट्रीय जागरण्ए परिलक्षित हुआ। नए वर्गों ने जो नए अर्थतंत्र के फलस्वरूप पैदा हुए थे और एक ही राजसत्ता के अधीन रहे थे, अपने युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में अपना मुक्त और पूर्ण विकास अवरुद्ध पाया। इसलिए अपने विकास के रास्ते के अवरोधों को हटाने के लिए उन्होंने अपने अखिल भारतीय संगठन बनाये और आंदोलन किए। इन कारणों से भी भारतीय आंदोलन विकसित होता रहा और उसमें अधिकाधिक शक्ति आती गई।

1880 के दशक में अपनी शुरुआत के समय से ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य विशेषता यह रही कि उपनिवेशवाद के शोषणकारी और अल्प विकासकारी स्वरूप की संपूर्ण समझ पर आधारित था। भारतीय आवाम और उपनिवेशवाद (या औपनिवेशिक शासन) के बीच केन्द्रीय या प्राथमिक अंतर्विरोध को सबसे पहले साफतौर पर आर्थिक क्षेत्र में और उसके बाद धीरे-धीरे राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में समझा गया। दादाभाई नौरोजी से तिलक और गांधी से नेहरू तक राष्ट्रीय आंदोलन उपनिवेशवाद के स्वरूप और इस केन्द्रीय अंतर्विरोध की बढ़ती हुई समझ पर आधारित था। इन दो आधारों के कारण आंदोलन को बुद्धिजीवी और जनसमूह दोनों के लिए आकर्षक बनाया जा सका।

केन्द्रीय अंतर्विरोध को राष्ट्रीय आंदोलन के बुनियादी कारण के रूप में समझने के मामले में विशेष रूप से 1947 से पहले का राष्ट्रवादी इतिहासलेखन उतना आगे नहीं था जितना कि स्वयं आंदोलन। ऐसा आंशिक रूप से इसलिए था कि नेताओं और अनुयायियों द्वारा इस अंतर्विरोध की पहचान लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। उपनिवेशवाद के स्वरूप और उसके आर्थिक प्रभाव के प्रति जागरूकता दिखाते हुए भी उदारवादी लेखक कुल मिलाकर इतिहास के बिना विचार को आधार बनाते रहे और

नोट

राष्ट्रीय आंदोलन को राष्ट्रवाद या स्वतंत्रता के विचार या भावना के प्रसार और पहचान का परिणाम बताते रहे। उदाहरण के लिए, लाजपत राय ने 'आंदोलन की जड़ें', तथा 'स्वतंत्रता के लिए इच्छाऔर 'शर्म और अपमान' की भावना, 'अवनति और पतन' की भावना में देखी। स्वतंत्रता की इस इच्छा, के कारण 1857 तक कई विद्रोह हुए। 1856 के बाद विदेशी शासन के खिलाफ आक्रोश की भावना अभिव्यक्ति के नए मार्ग खोजने लगी। अन्य कई राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने कांग्रेस की स्थापना से पहले ब्रिटिश शासन के सशस्त्र विरोध के बारे में विस्तार से चर्चा की है; लेकिन उन्होंने इसे विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष के रूप में देखा है ना कि राष्ट्रवादी या साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की शुरुआत के रूप में।

इसलिए भारत में निर्माणाधीन राष्ट्र की प्रक्रिया की ताकत और कमजोरियां राष्ट्रीय आंदोलन की ताकत और कमजोरियां हैं। साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष इस प्रक्रिया की उपज और उसके भीतर सक्रिय तत्व दोनों था। राष्ट्रीय चेतना ने राष्ट्रवादी संघर्ष को अभिप्रेरित किया और इस संघर्ष ने चेतना को प्रेरित किया। विभिन्न सांप्रदायिक वर्गों, स्तरों और समूहों पर उपनिवेशवाद का प्रभाव और उपनिवेशवाद से उनका मोहभंग विभेदी और असमान तरीके से हुआ। इसका मतलब यह नहीं है कि भारत में प्रत्येक वर्ग का अलग राष्ट्रीय आंदोलन या राष्ट्रवाद था - उदाहरण के लिए बूर्जुआ राष्ट्रवाद। किसान राष्ट्रवाद, श्रमिक वर्ग का राष्ट्रवाद, मध्यवर्गीय राष्ट्रवाद, पैटी बूर्जुआ राष्ट्रवाद या सामंती राष्ट्रवाद। न ही, इसका मतलब है कि राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद केवल एक वर्ग मध्य वर्ग या बूर्जुआ या हिंदुओं का विशेषाधिकार था। किसी विशेष चरण में आंदोलन में विभिन्न सामाजिक वर्गों या स्तरों या समूहों के वास्तविक मोहभंग या भागीदारी की चाहे जो सीमा रही हो, आंदोलन ने उपनिवेशवाद के खिलाफ भारतीय लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व किया। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन का अध्ययन वस्तुपरक वास्तविकता की मान्य या वैध चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाले आंदोलन के रूप में किया जाना चाहिए। वस्तुपरक वास्तविकता का अर्थ है आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए भारत के लोगों के सामान्य हितों वाले वास्तविक जीवन की उभरती हुई पहचान और विशेष रूप से सामान्य शत्रु विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ सामान्य संघर्ष में एकजुट होने की आवश्यकता की पहचान।

मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद :

गत सौ से अधिक वर्षों में इतिहास लेखन की चार विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आंदोलन का अलग-अलग पहचाना जा सकने वाला विश्लेषण किया है। इन चार विचारधाराओं को क्रमशः साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी और सबलटर्न नाम दिया जा सकता है।

पहला, रूढ़िवादी औपनिवेशिक प्रशासक और कैंब्रिज सम्प्रदाय के नाम से विख्यात इतिहासकारों का साम्राज्यवादी खेमा भारत में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के रूप में उपनिवेशवाद के अस्तित्व को नकारता है। उनके लिए उपनिवेशवाद मुख्यतः विदेशी शासन से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार उनके द्वारा किया गया राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण भारतीय जनता और उपनिवेशवाद के आपसी हितों के आधारभूत अंतर्विरोधों के अस्वीकरण पर टिका हुआ है। साम्राज्यवादी इतिहासकार नहीं मानते हैं कि भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था। उनका मानना है कि जिसे भारत कहा जाता है, वास्तव में वह धर्मों, जातियों, समुदायों और अलग-अलग हितों का समुच्चय था। साम्राज्यवादी इतिहासकारों में प्रमुख नाम : डफरिन, कर्जन और मिंटों के हैं।

नोट

दूसरा, राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दृष्टि में राष्ट्रीय आंदोलन में जनता की भागीदारी बहुत प्रभावपूर्ण एवं स्वाभाविक थी क्योंकि मूलत: सभी भारतीयों के हित सदैव विदेशी सत्ता के प्रतिकूल ही थे, केवल एक चमत्कारी नेता की कमी थी। लेकिन यह कहना आवश्यक है कि इतिहास-लेखन की एक प्रवृत्ति के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन पर राष्ट्रवादी लेखन कुल मिलाकर अपर्याप्त ही रहा था। राष्ट्रवादी आंदोलन के बारे में लिखने का काम लाला लाजपत राय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आर.जी प्रध ान, सुभाषचंद्र बोस, पट्टाभिसीतारमैया, सी.एफ.एंड्रूज और गिरिजा मुखर्जी ने किया।

तीसरा, सबलटर्न इतिहास अर्थात् 'इतिहास को नीचे से देखने की' अवधारणा है जो राजनीतिक और अन्य नेताओं पर नहीं बल्कि साधारण लोगों के परिप्रेक्ष्य पर फोकस करती। काफी लंबे समय तक इतिहास वही माना जाता था जिससे शक्तिशाली, प्रसिद्ध और धनवान लोगों की बात होती थी। यह 'ऊपर से इतिहास' जैसी बात थी जिसमें साधारण लोग जो सोचते थे और करने की कोशिश करते थे, उन्हें महत्वहीन समझा जाता था और इतिहास का हिस्सा नहीं माना जाता था। 1980 के दशक में भारत के इतिहास लेखन पर सब्लाटर्न अध्ययन का प्रभाव शुरू हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन में सर्वहारा, किसान, स्त्री, जनजाति के लोगों पर महत्वपूर्ण योगदान का अध्ययन किया जाता है, जो 1980 के पहले तक हाशियो पर रहे थे। इस विचारधारा के प्रमुख इतिहासकार रामचंद्र गुहा, सुमित सरकार, रणजीत गुहा, ज्ञानेंद्र पांडे और शाहिद अमीन हैं।

चौथा, मार्क्सवादी सम्प्रदाय है जो प्रस्तुत अध्याय का मुख्य विषय है मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के वर्गीय चरित्र का विश्लेषण करने और उसकी व्याख्या उपनिवेश काल के आर्थिक विकासक्रमों के आधार पर करने की कोशिश की, मुख्यत: भारत में औद्योगिक पूँजीवाद के उदय और एक बाजारमुखी समाज के विकास पर आधार पर। इन इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन की पूँजीवादी नेतृत्व की पहचान की, जिसने अपने वर्गीय हितों के अनुसार इस आंदोलन को संचालित किया और जनता के हितों को अनदेखा किया, बल्कि एक सीमा तक उसे धोखा भी दिया। रजनी पाम दत्त और सोवियत इतिहासकार वी.आइ.पारलोव जैसे आरंभिक मार्क्सवादियों के इस वर्गीय दृष्टिकोण को एस.एन,मुखर्जी, सुमित सरकार और विपिनचंद्र की परवर्ती मार्क्सवादी रचनाओं में संशोधित किया गया।

रजनी पाल दत्त अपनी पुस्तक (आज का भारत 1940) में भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हैं और साम्राज्यवादी इतिहासकारों की दलील को खारिज करते हैं कि 'भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की संतान है और इसका परिणाम है।' दत्त का तर्क है कि यदि जापानी हमलावर चाहहें तो यह दावा कर सकते हैं कि अपने आक्रमण के जरिए उन्होंने चीन की जनता में राष्ट्रीय एकता कायम करने में मदद की और वस्तुपरक दृष्टि से देखें तो उनका यह दावा सही है। इसी तरह चूंकि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म और विकास साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दौरान हुआ है, इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी यह दावा कर सकता है कि उसने ही इसके लिए स्थितियां तैयार कीं। इसी तरह जार भी रूस में मजदूर वर्ग की विजय की परिस्थितियां तैयार करने का दावा कर सकता हैं। मार्क्सवादी इतिहासकारो की दूसरी दलील है कि ब्रिटिश शासन की सकारात्मक उपलब्धियों ने भारत के राजनीतिक एकीकरण और आधुनिक केन्द्रीकृत प्रशासन के जरिए ही नहीं बल्कि ब्रिटिश वैधानिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को आरोपित करके और शिक्षा प्राप्त करने वाले एक मामूली अल्पमत के लिए 'अंग्रेजी ढ़ंग की' शिक्षा ललागू करके अनिवार्य रूप से भारतीय राष्ट्रवाद का बीज बोया और पढ़े-लिखे लोगों के बीच संसदीय सरकार तथा जनतांत्रिक स्वतंत्रता के अंग्रेजी आदर्शों को आरोपित किया। अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा से और उससे भी ज्यादा स्वतंत्रता, समानता और सद्भाव

नोट

के आदर्शों से ओतप्रोत फ्रांस की महान क्रांति से 19वीं सदी के जनतांत्रिक आंदोलन ने जितनी प्रेरणा प्राप्त की, उतनी उसने इंग्लैंड से नहीं की जहाँ सम्राट और संसद के बीच समझौता हो गया था। 20वीं सदी में 1905 और 1917 की रूसी क्रांति ने जनता के बीच और खासतौर से एशिया तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग करने वाले सभी उपनिवेशों की गुलाम जनता के बीच जागृति की लहर पैदा करने मे विशिष्ट भूमिका अदा की। भारत में जनता की जागृति का विकास संसार की इन्हीं धाराओं के साथ-साथ हुआ है। और विकास के विभिन्न चरणों द्वारा इसे दिखाया जा सकता है।

भारतीय राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विकास, संघर्ष की तीन बड़ी लहरों से गुजरा है। इनमें से प्रत्येक लहर पहले की अपेक्षा अधिक ऊंची थी और प्रत्येक लहर ने आंदोलन पर स्थाई चिन्ह छोड़े तथा एक नए दौर का सूत्रपात किया। जैसा हमने देखा है, भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभिक दौर ने केवल बड़े पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्य किया जिसमें जमींदारों के प्रगतिशील तत्व; नए औद्योगिक पूंजीपति और खुशहाल बुद्धिजीवी शामिल थे। 1914 के पहले के वर्षों मे पहली बार इस शांत जल में उस समय हलचल पैदा हुई जब देश में बड़े पैमाने पर असंतोष की अभिव्यक्ति सामने आई। इसमें शहरों में रहने वाले निम्न पूँजीपति वर्ग का असंतोष व्यक्त हुआ लेकिन वह आम जनता तक नहीं पहुँच सका। 1914-18 के युद्ध के बाद ही यह स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों और देश की नई शक्ति औद्योगिक मजदूरों अर्थात् आम जनता की क्या भूमिका है। इसके बाद जनसंघर्षों की दो बड़ी लहरें आई पहली लहर युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में और दूसरी लहर विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद संघर्ष के इस इतिहास के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद आज अपनी शुरुआत के बाद से शक्ति के सर्वोच्च बिंदु पर पहुंच चुका है।

इस प्रकार भारत का राष्ट्रीय आंदोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियों और उसकी शोषण प्रणाली से पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई है। उसके पैदा होने का कारण यह है कि भारत में पूँजीपति वर्ग का उदय हो चुका है। चाहे शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था क्यों न होती, ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग के प्रभुत्व के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा अनिवार्य थी। यदि भारत के पूँजीपति वर्ग ने केवल संस्कृत में लिखे वेदों का अध्ययन किया होता अथवा सभी तरह की विचारधाराओं से अलग हटकर मठों से ज्ञान प्राप्त किया होता तो निश्चय ही उसे संस्कृत वेदों में भी अपनी आजादी के संघर्ष की प्रेरणा से भरपूर सिद्धांत मिल जाते।

ए.आर.देसाई अपनी पुस्तक (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, 1976) में भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि संगठित आंदोलन के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव, उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में हुआ। लेकिन इसके प्रथम अंकुर 19वीं सदी के प्रारंभ में भी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रबुद्ध हिंदू बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजों द्वारा लाई गई आधुनिक शिक्षा पाई थी और इस शिक्षा के माध्यम से इस वर्ग के लोग आधुनिक पाश्चात्य, प्रजातांत्रिक विचारधाराओं के संपर्क में आए थे। इस वर्ग की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना का 1828 में स्थापित ब्रह्म समाज के रूप में धार्मिक प्रस्फुटन हुआ। इसी काल में 1843 में स्थापित ब्रिटिश इंडिया सोसायटी और 1851 में स्थापित ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन जो उन दिनों के राजनीतिक दलों के एकीकरण से बना हुआ था, जैसे धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक संगठनों का जन्म हुआ। शुरू के राजनीतिक दल भारतीय राजनीतिक राष्ट्रवाद के उद्भव के परिचायक हैं। लेकिन ये दल महज कुछेक व्यक्तियों से बने थे और इनका कोई सामूहिक आधार नहीं था।

नोट

भारतीय और ब्रिटिश हितों में विरोध था, इसलिए ब्रिटेन और भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों और दलों में, विभिन्न अंशों में, पारस्परिक द्वंद्व का जन्म हुआ। राजनीतिक राष्ट्रवाद हितों के इस संघर्ष का परिणाम था, और इसके कारण देश में कई राजनीतिक आंदोलनों का उद्‌भव हुआ। इन आंदोलनें के लक्ष्य थे - राजनीतिक सत्ता में अधिकाधिक सहभागिता और फिर क्रमशः डोमिनियन स्टेटस होमरूल और पूर्ण स्वराज्य। अपने विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, एवं अन्यान्य हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने के भारतीय जनता और उसके विभिन्न अंगों के प्रयास राजनीतिक आंदोलन में मूर्तिमान हैं।

भारत पर ब्रिटेन के निरंकुश शासन के कारण औद्योगिक बूर्जुआजी को भारत का अनियंत्रित औद्योगिक विकास करने में समस्या पैदा हो रही थी। राज्य व्यवस्था के प्रमुख पदों पर अंग्रेजों के एकाधि कार के कारण, शिक्षित वर्ग के लोगों को नौकरियों प्राप्त करने की अपनी न्यायसंगत आकांक्षा की पूर्ति में दिक्कत हो रही थी। धरती के बेटे किसान यह देखते थे कि अंग्रेजों द्वारा लाई गई नई भू-राजस्व व्यवस्था उनकी बढ़ती हुई गरीबी का कारण थी। सर्वहारा मजदूर वर्ग देखता था कि यह विदेशी अप्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था उन्हें अपनी हालत सुधारने और जिस मजदूरी तंत्र में उनका शोषण हो रहा था, उसे बदलने के लिए आवश्यक वर्ग संघर्ष को विकसित करने से रोक रही थी। फिर समस्त भारत जनता ने यह भी देखा कि इस विदेशी शासन के कारण उनका अपना साध ारण सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास नहीं हो पा रहा था। राजनीतिक सत्ता से उनकी यह भी अपेक्षा थी कि दक्षिण अफ्रीका, केन्या, मलाया, लंका, आदि उपनिवेशों या अर्द्ध उपनिवेशों मे प्रचलित जाति विभेद और भारतीय हितों की अवहेलना आदि कुरीतियां समाप्त की जाएँ। चूंकि विदेशी शासन गुलात देश का स्वतंत्र विकास अवरुद्ध करता है, इसलिए साधारण जनता में राष्ट्रीय भावनाएँ स्वतः उभरती हैं।

आलोचना

विपिनचंद्र अपनी पुस्तक (आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद 1979) में बताते हैं कि मार्क्सवादी इतिहास-लेखक अपने विवेचन में, मुख्य अंतर्विरोध तथा रूपाकार ग्रहण कर रहे राष्ट्रवाद की प्रक्रिया दोनों का ध्यान रखते हैं और राष्ट्रवादी इतिहासकारों की तरह वे भारतीय समाज के अंदर के अंतर्विरोधों को भी नजरअंदाज नहीं करते।

बहरहाल, इनमें से भी कई इतिहासकार खासतौर से रजनी पाम दत्त, उपनिवेशवाद विरोधी मुख्य अंतर्विरोध और भारतीय समाज के भीतर के गौण अंतर्विरोधों के विश्लेषण में एक-दूसरे के साथ सामंजस्य नहीं बैठा सके हैं और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को वर्ग संघर्ष अथवा सामाजिक संघर्ष से बराबरी करने की प्रवृत्ति इनमें भी दिखाई पड़ती है।

इस समूचे आंदालने को बूजुर्आ आंदोलन के साँचे में रखकर देखने की प्रवृत्ति भी इनमें है। यद्यपि वे इसको सिर्फ बूजुर्आ वर्ग का आंदोलन नहीं मानते हैं, इसका मुक्त स्वरूप और सर्ववर्गीय विशेषता उनके विश्लेषण में गायब हो जाती है। उनकी समझ के मुताबिक इस आंदोलन में बूजुर्आ वर्ग की भूमिका प्रभावशाली है। बूर्जुआजी के साथ राष्ट्रीय नेतृत्व की समानता दर्शाते हैं अथवा इन दोनों को एक साथ मिला देने की प्रवृत्ति इनमें है। इस आंदोलन के संघर्ष के रूपों के आधार पर ही ये लोग इसके वर्गीय स्वरूप का विवेचन भी करते हैं और इस तथ्य के आधार पर कि रणनीति के तहत यह संकीर्ण है उनका सुझाव है कि वित्तीय संसाधनों तक पहुँच से राष्ट्रीय राजनीति का रास्ता तय करने और उसको दिशा देने की शक्ति निर्धारित होती थी। बहुत से मार्क्सवादी इतिहासकार भी

राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति, कार्यक्रम, विचारधारा, उसने किस सीमा तक आम जनता को लामबंद किया है तथा रणनीति एवं कार्यनीति संबंधी दांवपेंच आदि की वास्तविक विस्तृत और ऐतिहासिक छानबीन नहीं करते हैं।

नोट

विपिन चंद्र का अपना दृष्टिकोण है वे मोटे तौर पर मार्क्सवादी परंपरा के अंतर्गत रहकर विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण करते हैं उपनिवेशवादी भारत में अंतर्विरोधों का स्वरूप, मुख्य तथा गौण अंतर्विरोधों को संबंध, आंदोलन का वर्ग चरित्र, बूर्जुआजी (पूँजीपति वर्ग) तथा अन्य सामाजिक वर्गों के बीच संबंध तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा उसका नेतृत्व वर्ग चरित्र पार्टी के बीच संबंध, संघर्ष के विभिन्न रूपों (इसमें अहिंसात्मक रूप भी है)। और वर्ग चरित्र, विचारधारा, रणनीति तथा आंदोलन का जनाधारित रूवरूप आदि।

विपिन चंद्र के अनुसार भारत का मुक्ति संग्राम मूलतः भारतीय जनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के हितों के बीच आधारभूत अंतर्विरोधों का नतीजा था। एकदम शुरु से ही भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने इन अंतर्विरोधों को समझा था। इस बात को समझने की उनमें क्षमता क्षमता थी कि भारत अल्प विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है। समय रहते उन्होंने उपनिवेशवाद के वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति का विकास किया। उन्नीसवीं शताब्दी के सचमुच वे पहले लोग थे जिन्होंने उपनिवेशवाद की आर्थिक समीक्षा का विकास कर इसकी जटिल संरचना का रहस्य लोगों के सामने रखा। वे उपनिवेशवादी नीति और उपनिवेशवादी ढ़ाँचे की अनिवार्यताओं के अंतर को भी समझने में सक्षम थे। औपनिवेशिक प्रजा के रूप में भारतीय जनता का अनुभव लेकर और उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के सामान्य हितों की पहचान कर राष्ट्रीय नेताओं ने क्रमशः एक सुस्पष्ट उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा विकसित की जिसको उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बनाया। आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान करने वाले चरण में उपनिवेशवाद विरोधी इस विचारधारा और उपनिवेशवाद की आलोचना को प्रचारित किया गया। ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी राष्ट्रीय आंदोलन की केन्द्रीय भूमिका थी जिसके माध्यम से भारतीय जनता ने अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित किया। राष्ट्रीय आंदोलन उभरते हुए राष्ट्र की प्रक्रिया का परिणाम है। भारत की क्षेत्रीय, भाषाई, प्रजातीय पहचान कभी भी इसके राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के विरोध में नहीं खड़ी हुई। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रीय अस्मिता के उत्थान के साथ ही ये अन्य छोटी अस्मिताएं भी उभरीं और इन दोनों से एक-दूसरे को शक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार विपिनचंद्र ने अपने लेखन (प्दकपंष्ठै जतनहहसम वित प्दकमचमदकमदबम (1989) में मार्क्सवादी व्याख्या को एक सुस्पष्ट राष्ट्रवादी रुझान प्रदान किया है। उनका तर्क है कि भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन विभिन्न वर्गों का एक जन आंदोलन था, जो पूरी तरह पूंजीपतियों द्वारा नियंत्रित नहीं था। उन्होंने उपनिवेशी भारत में दो प्रकार के अंतर्विरोध दिखाए हैं। प्रमुख अंतर्विरोध भारतीय जनता के और ब्रिटिश राज के हितों के बीच था, पर उससे अलग हटकर भारतीय समाज के अंदर वर्गों, जातियों और धार्मिक समुदायों के बीच अनेक गौण अंतर्विरोध पर समझौते कर लिए और इस तरह एक राष्ट्रवादी विचारधारा का वर्चस्व स्थापित हुआ। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन किसी एक का जाति या धार्मिक समुदाय का आंदोलन नहीं था और गांधी या जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं ने माना कि भारत कोई ढ़ाँचाबद्ध राष्ट्र न होकर एक निर्माणाधीन राष्ट्र था। परस्पर विरोधी हितों वाले अनेक समूह यहाँ थे और इसलिए वर्ग या जातिगत या साम्प्रदायिक टकरावों से बचने और इन सभी असंबद्ध समूहों को एकछत्र नेतृत्व के अंतर्गत लाने के लिए हमेशा समझौते करने पड़ते थे। फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक व्यापक आंदोलन बन गया। सुमित सरकार (आधुनिक भारत 1993) का कहना है कि 20वीं सदी में राष्ट्रीय आंदोलन अंततः अपनी मूल अभिजात तथा

नोट

बुद्धिजीवी वर्गीय सीमाओं को पार कर गया। 1936 तक कांग्रेस के अध्यक्ष यह उचित रूप से दावा कर सकते थे कि कांग्रेस अब ''आम जनता का सबसे बड़ा संगठन बन गई है और इसके सदस्य अधिकांशत: ग्रामीण क्षेत्रों के हैं जिनमें लाखों किसान और काश्तकार हैं और थोड़े-बहुत औद्योगिक एवं खेत मजदूर भी।'' कांग्रेस का आंदोलन भौगोलिक एवं सामाजिक, दोनों ही दृष्टियों से फैला और लहर-लहर आगे बढ़ा जिसके स्पष्ट उच्च बिंदु 1905-1908, 1919-1922, 1928-1934, 1942 और 1945-1946 थे। उग्रवाद के चरण में इसका केन्द्र अगर बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब था तो गांधीवादी चरण में यह हटकर गुजरात, बिहार, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत एवं आंध्र जैसे नए प्रदेशों में पहुँच गया। यह आंदोलन शहरी बुद्धिजीवियों से आरंभ होकर छोटे शहरों के निम्न मध्य वर्गों, किसान वर्ग के बड़े भागों एवं प्रभावशाली बूर्जुआ समूहों तक पहुँचा। साथ ही आंदालेन के नए-नए रूप भी उभरे स्वदेशी, बहिष्कार और सविनय अवज्ञा आंदोलन, गांधीवादी सत्याग्रह और रचनात्मक ग्रामोत्थान कार्य। साथ ही कुछ ऐसे थे जिन पर अनेक नेता नाक-भौं सिकोड़ते थे, किंतु जो कभी-कभी बड़े महत्वपूर्ण हो जाते थे, जैसे क्रांतिकारी आतंक, हड़तालें, नगरों, गांवों और आदिवासी क्षेत्रों में हिंसा का भड़क उठना। चौथे दशक तक देश के अनेक भागों में किसान सभाएं एवं ट्रेड यूनियनें एक ताकत बनती जा रही थीं, और अनके रजवाड़ों में भी जन-आंदोलन उभरने लगे थे। इस प्रकार तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद एक ऐतिहासिक तथ्य का जन्म हुआ और वह था जनसामान्य का सक्रिय राजनीतिक जीवन में प्रवेश।

मुखर्जी ने राष्ट्रवाद की जटिलताओं, उसके अनेक स्तरों और उसके साथ-साथ एक आधुनिक भाषा के विकास की ओर संकेत किया। सुमित सरकार ने भारतीय शिक्षित वर्गों की गैर-पूँजीवादी पृष्ठभूमि को दर्शाया और तर्क दिया कि उनका कर्म उत्पादन की प्रक्रियाओं से संबद्ध, ''पारंपरागिक बुद्धिजीवियों'' जैसा था, वे विश्व की उदारवाद या राष्ट्रवाद जैसी वैचारिक धाराओं का प्रत्युत्तर दे रहे थे और उन्होंने अभी तक निष्क्रिय पड़े भारतीय जनसमूहों की जगह ली।'' अपनी परवर्ती पुस्तक मॉडर्न इंडिया (1983) में सुमित सरकार ने हमें चेताया है कि ''वर्ग और वर्ग चेतना विश्लेषण के उपकरण हैं, जिनका पहले से अधिक कौशल और सोच के साथ उपयोग करना होगा'' वे राष्ट्रवाद की वैधता को स्वीकार करते हैं, पर उसके 'अंदरूनी तनावों' की उपेक्षा नहीं करते। उनका कहना कि भारत में भी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दो स्तर थे : एक कुलीनों का और दूसरा जनता का। दोनों में से किसी को भी अनदेखा करने की जरूरत नहीं है बल्कि ''इन (दोनों) स्तरों के जटिल घात-प्रतिघात'' को देखा जाना चाहिए, जिसके माध्यम से ''परिवर्तन के द्वारा निरंतरता का जटिल पैटर्न'' पैदा हुआ, वही पैटर्न जो उस काल का प्रमुख विषय था।

प्राय: ये देखा जाता है कि इतिहास लेखन में अधिकांश का आधार प्रकाशित गौण स्त्रोत थे क्योंकि सरकारी अभिलेख केवल हाल ही के काल तक सीमित थे और निजी अभिलेखों को प्राप्त करने का व्यवस्थित प्रयास नहीं किया गया था। दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर होने के बावजूद सीतारमय्या, ताराचंद अथवा आर-सी मजुमदार के बीच मोटे तौर पर एक प्रकार की सहमति दिखाई पड़ती है। इन लेखकों के अनुसार भारत में एक ऐसे अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त मध्य वर्ग का उदय हुआ जिसका पोषक था ब्रिटिश शासन, और जो नवजागरण की विभिन्न गतिविधियों में लगा हुआ था, लेकिन जो कुंठित स्वार्थी महत्वाकांक्षाओं, पश्चिमी संस्कृति से सीखे हुए जनतंत्र के आदर्शों, अथवा विदेशी शासन के विरुद्ध स्वाभाविक घृणा के कारण अंतत: अपने स्वामियों के विरुद्ध हो गया और इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ।

नोट

पार्थ चटर्जी का तर्क है कि भारत में राष्ट्रवाद, जिसे पश्चिम में शिक्षाप्राप्त राजनीतिक नेताओं ने एक विशिष्ट स्थान दिया था, पश्चिम से एक ''भिन्न'' मगर उससे व्युत्पन्न संवाद था। आशीष नंदी की सोच भी यही है कि पश्चिमी साम्राज्यवाद के एक प्रत्युत्तर के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद ''ऐसे सभी प्रत्युत्तरों की तरह उसी चीज से निर्धारित हुआ जिसका वह प्रत्युत्तर था।''

निष्कर्ष :

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद को विभिन्न वैचारिक कोणों से और विभिन्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में देखा गया है। दूसरे शब्दों में, भारतीय राष्ट्रवाद तीखे विवादों से ग्रस्त एक क्षेत्र है, जहाँ से किसी द्वंद्ववादी मध्यमार्ग तक पहुँचना या ऐसा कोई दृष्टिकोण विकसित कर सकना कठिन है, जो सबको स्वीकार्य है। अगर ब्रिटिश राज भारतीय मानस का उपनिवेशीकरण करना चाहता था, जो उपनिवेशी वर्चस्व का प्रतिरोध करने के लिए भारतवासियों ने भी उस उपनविेशी ज्ञान को चुनिंदा ढंग से ग्रहण किया, उसे आत्मसात और उसमें फेरबदल किया। मुख्यधारा के राष्ट्रवाद ने एक ऐसे समरस राष्ट्र के अस्तित्व की मान्यता रखी जो एक ही वाणी में बोलता था। दूसरी तरफ असहमति के स्वरों जैसे स्त्रियों या दलित के बहिर्गमन के दावे, उनको खामोश किए जाने और कुचल जाने के दावे भी लगातार किए जाते रहे हैं। दूसरे शब्दों में, इतिहासकारों का एक विकासमान समूह आज यह तर्क दे रहा है कि उपनिवेशवाद विरोधी प्रतिरोध के रूपों और उनके पीछे मौजूद विचारधाराओं को अनेकानेद ढंगों से समझा या निरूपित किया गया। अनिया लुंबा की इस टिप्पणी की सच्चाई को अस्वीकार कर पाना कठिन है कि ''यहाँ स्वयं 'राष्ट्र' ही विवाद और बहस का एक मैदान है, विभिन्न वैचारिक और राजनीतिक हितों की परस्पर-विरोधी परिकल्पनाओं का अखाड़ा है। भारत एक बहुलवादी समाज था और इसलिए निश्चित था कि भारतीय राष्ट्रवाद के अनेक स्वर होते, क्योंकि विभिन्न वर्गों, समूहों, समुदायों और क्षेत्रों ने अपने 'राष्ट्र' की व्याख्या विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी ढंग से की। भारतवासियों की अनेक पहचान थीं, जैसे वर्गीय पहचान, जातिगत पहचान, ध ार्मिक पहचान आदि। विभिन्न ऐतिहासिक मोड़ों पर भिन्न-भिन्न पहचानों को अभिव्यक्ति मिलती थी और वे एक-दूसरे से घात-प्रतिघात करती थी। जब अविवेकी राजसत्ता ने इन टकरावों को तीखा बनाने और बढ़ाने की कोशिशें कीं, तो भारतीय राष्ट्रवादियों ने एकता के एक वैकल्पिक संवाद का प्रचार करने के प्रयास किए। जवाहरलाल नेहरू ने ''भिन्न-भिन्न तत्वों के संश्लेषण और एक साझी राष्ट्रीयता में उनके विलय के प्राचीन आदर्श'' की बातें कीं।

2.7 उपाश्रित परिप्रेक्ष्य

उपाश्रित परिप्रेक्ष्य ने भारतीय राष्ट्रवाद के विश्लेषण में एक नई शैली प्रस्तुत की है। उपाश्रित वर्गवादियों ने भारतीय राष्ट्रवाद का विश्लेषण करने में (यूरोपीय मार्क्सवादियों की तरह) ''इतिहास को नीचे से देखने'' का दृष्टिकोण अपनाया। एन्टोनियो ग्राम्शी ने 'उपाश्रित' शब्द का इस्तेमाल अधीनस्थ वर्ग को वर्ग, लिंग, नस्ल, भाषा तथा संस्कृति के आधार पर दर्शाने में किया। भारतीय संदर्भ में रंजीत गुहा ने अपनी पुस्तक 'ऐलमेन्ट्री आस्पैक्ट्स ऑफ पीजेन्ट्स इनसर्जेन्सी इन कोलोनियल इंडिया' में किसान-संघर्ष के 'स्वायत्त क्षेत्र' पर प्रकाश डाला है, जो अभिजात वर्ग से स्वतंत्र रहा है। गुहा के अनुसार अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखक किसानों की दशा तथा उनके विद्रोहों को सही परिप्रेक्ष्य में रखने में असफल रहे और उन सीमाओं से आगे नहीं गये जो औपनिवेशिक भारत में विद्यमान थी। अभिजात वर्गवादी इतिहास-लेखन यह मानता था कि भारतीय राष्ट्रवाद अभिजात वर्ग का उत्पाद है।

नोट

गुहा भाारतीय राष्ट्रवाद के अभिजात वर्गवादी इतिहास-लेखन की व्याख्या के दो बिंदुओं पर प्रश्न उठाते हैं : पहला भारतीय चेतना के निर्माण का अभिजात विचार, दूसरा भारत का एक राष्ट्र के रूप में निर्माण। उन्होंने ''आधुनिकता और प्रगति की राष्ट्रवादी विचारधारा'' में मार्क्सवादी विचाराधारा के समाहित होने की प्रवृत्ति को लेकर प्रश्न किया। उपाश्रित इतिहास-लेखकों का मानना है कि चिंतन के मार्क्सवादी स्कूल ने ''जाति तथा धर्म की विचारधारा'' को भारतीय इतिहास में एक कारक मानने की अनदेखी की है। इसलिए उपाश्रित इतिहास-लेखन ने ''इतिहास को नीचे से देखने'' के तरीके को अपनाकर भारतीय समाज के हाशिये पर विद्यमान वर्ग की आवाज तथा योगदान को स्थापित करने का प्रयास किया।

उपाश्रित अध्ययन समूह का निर्माण 1980 के दशक में हुआ था। इसका प्रमुख लक्ष्य अभिजात पूर्वाग्रह को दुरुस्त करना था, जो दक्षिण एशियाई अध्ययनों के अधिकतर अकादमिक कार्यों में दिखाई देता रहा है। रंजीत गुहा, गायत्री स्पीवक, पार्था चटर्जी, शाहिद अमीन, सुमीत सरकार, ग्यानेन्द्र पांडे, डेविड ऑरनल्ड, डेविड हार्डीमैन इस समूह के प्रमुख विद्वान हैं।

अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखन चाहे वह औपनिवेशिक हो या देशी बुर्जुआ दोनों का यह मानना था कि भारतीय राष्ट्रवाद प्रधानत: अभिजातवर्ग की उपलब्धि है। उपनिवेशवादी विद्वान यह मानते थे कि उनके ब्रिटिश शासकों, प्रशासकों, नीतियों, संस्थानों तथा संस्कृति ने भारत का एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में निर्माण किया, वहीं पर राष्ट्रवादी विद्वानों का विचार था कि भारतीय अभिजात वर्ग की शख्सियतों ने संस्थानों, गतिविधियों तथा उनके विचारों का विकास औपनिवेशिक कारगुजारियों का विरोध करने के लिए किया, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को आकार दिया।

रंजीत गुहा के अनुसार, दोनों अभिजात वर्गवादी इतिहास-लेखन को मुख्यत: प्रेरक तथा प्रतिक्रिया के कार्य के रूप में समझा जा सकता है। गुहा के अनुसार भारतीय राष्ट्रवादियों ने आदर्शवाद या परहितवाद से निर्देशित न होकर औपनिवेशिक शासकों द्वारा सृजित एवं संबद्ध संपदा, शक्ति और प्रसिद्धि में हिस्सेदारी पाने की कोशिश की। इसके लिए औपनिवेशिक मालिकों तथा देशी अभिजात वर्ग के मध्य स्पर्धा और गुटबंदी का आंतरिक खेल होता था। गुहा का यह विचार है कि भारतीय राष्ट्रवाद का संपूर्ण देशी अभियान उस आदर्शवाद से निर्देशित था जिसमें ''भारतीय अभिजात वर्ग ने जनता का पराधीनता से स्वाधीता के लिए नेतृत्व किया।'' अन्य शब्दों में, यदि कोई भारतीय राष्ट्रवाद की अभिजात वर्गवादी व्याख्या के संपूर्ण तर्कों को देखता है तो यह मात्र अभिजात वर्ग द्वारा किये गए योगदान को उजागर करता है, चाहे वह औपनिवेशिक हो या देशी बुर्जुआ। यह अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखन जन समुदाय के अपने बूते पर किए गए उन सब योगदानों की अनदेखी करता है जो अभिजात वर्ग से स्वतंत्र (अलग)थे।

भारतीय राष्ट्रवाद की उपाश्रित व्याख्याएँ

उपाश्रित वर्गवादी स्कूल ने भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण तथा विकास में अपने बूते पर सहयोग करने वाले लोगों के योगदान को उजागर किया है। यह चिंतन सम्प्रदाय मानता है कि अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखन ने जन-विद्रोहों को या तो कानून और व्यवस्था की समस्या के रूप में देखा या किसी विशिष्ट नेता के करिश्मे से प्रभावित जन-प्रतिक्रिया के रूप में। इसका यह अर्थ हुआ कि अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखन ने लोगों द्वारा अपने बूते पर दिए गए योगदान की अनदेखी की, हालांकि कई आंदोलनों -जैसे रॉलेट ऐक्ट-विरोध, 1919 का जन-उभार या 1942 का 'भारत-छोड़ो' आंदोलन, में लोग बिना किसी नेता की अगुवाई के सक्रिय रूप से सहभागी बने। दूसरे शब्दों में, अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखन इस अवधारणा की व्याख्या करने में असफल रहा कि क्यों भारत छोड़ो आंदोलन बिना

नोट

नेताओं के ही लामबंदी करने में सफल रहा।

यहां पर उपाश्रित वर्गवादी इतिहासलेखक तर्क देते हैं कि अभिजात वर्गवादी इतिहासलेखने ने ''जन-राजनीति'' की अनदेखी की। गुहा के अनुसार पूरे औपनिवेशिक काल के दौरान अभिजात-राजनीति के प्रभाव क्षेत्र के साथ-साथ उपाश्रित वर्गों तथा समूहो का स्वायत्त प्रभाव क्षेत्र भी अस्तित्व में रहा। इस स्वायत्त प्रभाव क्षेत्र में, मुख्य नायक ''औपनिवेशिक सत्ता या देशी समाज के प्रभावशाली समूह नहीं थे बल्कि उपाश्रित वर्ग तथा समूह थे'', जो ''देशी और कस्बाई मेहनतकश जनता तथा मध्यवर्ती सामान्य तबके से निर्मित थे।'' गुहा ने अभिजात वर्गीय राजनीति तथा लोक-राजनीति में भी अंतर करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार, अभिजात वर्गीय राजनीति के प्रभावक्षेत्र में लामबंदी लम्बवत् रही है, जबकि उपाश्रित राजनीति का प्रभाव क्षेत्र क्षैतिजीय था।

इस स्वायत्त प्रभाव क्षेत्र में, मुख्य नायक औपनिवेशिक सत्ता या घरेलू समाज के प्रभावशाली समूह नहीं थे, बल्कि उपाश्रित घरेलू वर्ग तथा समूह थे जो मेहनतकश जनता तथा शहर और देश के मध्यवर्ती तबके अर्थात आम लोगों से निर्मित थे। जिनको 'प्रभुत्ववादी सत्ता' की पहुंच से वंचित रखा जाता है।

अन्य अंतर यह था कि अभिजात वर्गवादी राजनीति संवैधानिकता तथा विधिक सुधारों की तरफ झुकी हुई थी जबकि उपाश्रित लामबंदी अपेक्षाकृत अधिक उग्र थी। अभिजात वर्गवादी राजनीति ब्रिटिश संसदीय संस्थानों तथा पूर्व औपनिवेशिक काल के अर्ध सामंती राजनीति संस्थानों पर ज्यादा निर्भर थी, दूसरी ओर उपाश्रित वर्गवादी राजनीति शासन तथा प्रदेशों के संगठन या उन वर्ग संगठनों पर आधारित थी जो सम्मिलित लोगों की चेतना के स्वर पर निर्भर करती थी। पहली किस्म की राजनीति अधिक सर्तक तथा नियंत्रित थी जबकि दूसरी अधिक स्वत: स्फूर्त। औपनिवेशिक काल में जन सक्रियता किसान उपद्रवों के विस्तृत रूप में सामने आयी जो शहरी क्षेत्रों मे निम्न बुर्जुआ वर्ग तथा मेहनतकश लोगों की बड़ी संख्या में लामबंदी का स्त्रोत बनी। विचाराधारात्मक आधार पर उपाश्रित वर्गवादी राजनीति विविध सामाजिक संगठनों का प्रतिनिधित्व करती है तथा जो अभिजात वर्गवादी राजनीति से स्पष्टत: अलग है।

भारतीय इतिहास की सही समझ के लिए इस द्विविभाजन का ध्यान रखा जाना चाहिए। तथापि समय समय पर, देशी अभिजात वर्ग ने अपनी राजनीति में उपाश्रित वर्गों को एकीकृत करने का प्रयास किया है इसलिए अभिजात वर्ग की राजनीति तथा जन-राजनीति में कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उपाश्रितों की राजनीति के स्वतंत्र प्रभाव-क्षेत्र का अस्तित्व रहा है, फिर भी समय-समय पर यह अभिजात्य राजनीति के प्रभाव मे आया जिसने उनकी स्वपहचान को आरक्षित किया।

अभिजात वर्ग की राजनीति तथा जन-राजनीति में अंतर

1.	अभिजात वर्ग की राजनीति के प्रभाव क्षेत्र में लामबंदी लंबवत् रूप में हासिल की जा सकती है।	उपाश्रित वर्गवादी राजनीति के प्रभाव क्षेत्र में इसे क्षैतिज रूप में हासिल किया जा सकता है।
2.	अपने लक्ष्यों में अभिजात वर्ग की राजनीति कानून तथा संवैधानिकता की तरफ अधिक झुकी होती है।	उपाश्रित वर्ग की लामबंदी अपेक्षाकृत उग्र रही है।

नोट

3.	अभिजात वर्गवादी राजनीति की निर्भरता ब्रिटिश संसदीय संस्थाओं तथा प्राक् औपनिवेशिक काल की अर्ध सामंती संस्थाओं पर रही है।	उपाश्रित वर्गवादी राजनीति की निर्भरता, शासन तथा प्रदेशों के संगठन या उन वर्ग संगठनों पर आधारित थी जो सम्मिलित लोगों के चेतना स्तर पर निर्भर करती थी।
4.	अभिजात राजनीति अधिक सतर्क तथा नियंत्रित रही है।	उपाश्रित वर्गवादी राजनीति अधिकांशत: स्वत:स्फूर्त थी। औपनिवेशिक काल में जन उभार विस्तृत रूप में सामने आया जो शहरी क्षेत्रों में निम्न बुर्जुआ तथा मेहनतकश लोगों की व्यापक सक्रियता का स्त्रोत बना।

गुहा ने अपनी पुस्तक 'एलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट्स इनसरजेन्सी इन कोलोनियल इंडिया' में औपनिवेशिक भारत में किसान-विद्रोह के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की है। उन्होंने बताया कि औपनिवेशिक भारत में जमींदारों, महाजनों तथा औपनिवेशिक सरकारी अफसरों के विरुद्ध किसान-विद्रोहों की गतिशीलता का अलग व्याकरण था। गुहा ने जोर देकर कहा है कि यूरोपीय किसान विद्रोहों से भिन्न, जिन्हें हॉब्सबॉम ने इन नातेदारी, धर्म तथा जाति से जुड़े होने के कारण ''पूर्व-राजनीतिक'' की संज्ञा दी है, भारत में किसानों विद्रोहों का चरित्र राजनीतिक था। रंजीत गुहा ने उदाहरण के लिए इस संदर्भ में 1783 से 1900 के बीच के सौ से अधिक प्रमुख विद्रोहों की जांच की।

गुहा के अनुसार इन विद्रोहों में किसानो को बड़े पैमाने पर एकजुट किया गया जिसमें उनके तयशुदा पोशाकों, भाषण तथा व्यवहार के जरिए मालिकों के उन कायदे-कानूनों को पलटने की कोशिश की गई, जिसके माध्यम से उनके रोजमर्रा के जीवन में मालिकों ने आधिपत्य स्थापित कर रखा था। सत्ता के चिह्नों को पलटना विद्रोही किसानों द्वारा लगभग अनिवार्य रूप से विद्रोह का प्रथम कार्य था। एक तरहह से गुहा इस बात को उभारने की कोशिश करते हैं कि किसानों में भी प्रगतिशील चेतना थी। दूसरे शब्दों में, उपाश्रित समुदायों में यह जागरूकता थी कि वे क्या कर रहे हैं और किसलिए। उनका एक अपना क्षेत्र था जो दूसरों से स्वतंत्र था। उदाहरण के लिए, यदि उपाश्रित वर्ग किसी आंदोलन या विद्रोह में भाग लेता है तो वह इस बात से पूरी तरह परिचित था कि वह क्या कर रहा है। इस कारण रंजीत गुहा अनेक प्रचलित इतिहास-लेखन की कमजोरियों का हवाला देते हुए उनका विरोध करते हैं कि - उन्होंने उपाश्रित समूहों द्वारा दिए गए योगदान को मान्यता नहीं दी। उनको उद्धृत करते हुए ''हम वास्तव में इतिहासलेखन'' में प्रचलित अकादमिक अभ्यास का उपाश्रितों को अपना भाग्यविधाता स्वयं होने की स्वीकृति देने में असफल होने के लिए विरोध करते हैं। यह समालोचना हमारी परियोजना मे आत्मा की तरह से है।

अत: किसानों के विद्रोह की प्रकृति से संबंधित चर्चा, कि यह पूर्व-राजनीतिक थी या राजनीतिक, उपाश्रित अध्ययन का अभिन्न भाग है। कई अभिजात वर्गीय इतिहास लेखों में, विभिन्न किसान विद्रोहों के महत्वपूर्ण संकेतों की इस आधार पर अनदेखी करके आलोचना की गई कि इनमें विशिष्ट राजनीतिक सामग्री का अभाव था। कैंब्रिज इतिहासकार जैसे अनिल सील, तर्क देते हैं कि किसान विद्रोह अपने रूप में पारंपरिक था क्योंकि किसान डंडों तथा पत्थरों का प्रयोग करते थे, जो उनके पास संकट के विरुद्ध विरोध करने का एकमात्र रास्ता था। गुहा के अनुसार कोई भी देख सकता है कि प्रत्येक किसान आंदोलन के आरंभ में, किस प्रकार विद्रोहियों ने सामाजिक और शासक वर्ग की सत्ता और प्रतिष्ठा के सभी चिह्नों को नष्ट करने की कोशिश की। ऐसे कृत्य कुछ और नहीं बल्कि राजनीतिक और आधुनिक थे जिसके द्वारा उपाश्रित समूह अपनी 'उपाश्रितता' को समाप्त करने को

नोट

अभिप्रेरित थे। गुहा ने इस मुद्दे को भी उठाया है कि यद्यपि देशी बुर्जुआ यह दावा करता है कि उन्होंने भारत को एक प्रकार के पूर्व राजनीतिक मंच से ''आधुनिकता'' के वैश्विक ऐतिहासिक चरण में प्रविष्ट करवाया है जो आधुनिक अवधारणा-जैसे लोकतंत्र, नागरिक अधिकार, बाजार अर्थव्यवस्था और कानून का शासन आदि के साथ जुड़ा हुआ है तथापि उस समय ''प्रभुत्व और अधीतना के अलोकतांत्रिक संबंध'' भी अस्तित्व में थे। अत: गुहा के अनुसार, वहां दो राजनीतिक क्षेत्रों का सह अस्तित्व था जहां - 'बुर्जुआ वर्ग राष्ट्र के लिए बोलने में असफल'' था। वास्तव में, किसान या उपाश्रित स्वयं अपने भाग्य विधाता थे।

उपाश्रित वर्गवादी इतिहासलेखन का पूरा जोर उपाश्रित वर्ग के 'स्वायत्त क्षेत्र' पर था। गुहा ने स्पष्ट रूप से पुष्टि की थी कि जो लोग विभिन्न आंदोलनों में सम्मिलित थे वे अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयास कर रहे थे और साथ ही, वे कुलीन वर्ग का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे। गुहा कहते हैं कि विद्रोही किसी भी विद्रोह में केवल तभी भाग लेते थे जब उनकी अन्य सभी याचनाएं-दलीलें असफल हो जाती थीं। चाहे फैक्टरी के कामगार हों, या पहाड़ों के आदिवासी या मैदानों के किसान-सभी तभी विद्रोह करते थे जब उनकी परिस्थितियां असहनीय हो जाती थीं। अत: गुहा ने यहाँ इस तथ्य की पुष्टि करने का प्रयास किया है कि उपाश्रितों का किसी भी विद्रोह मे भाग लेने का निर्णय सोच-समझकर लिया गया निर्णय था, जो कुलीनों से स्वतंत्र था। दूसरे शब्दों में, विद्रोही किसी भी प्रकार के आंदोलन में केवल दर्शक नहीं थे। वास्तव में, उनका सक्रिय रूप से भाग लेने का अपना स्वतंत्र निर्णय था।

निष्कर्ष

एक प्रकार से, उपाश्रित वर्गवादी इतिहासलेखन यूरोपीय मार्क्सवादी शैली पर आधारित नए प्रकार से इतिहासलेखन के विकास का प्रयास था। 'कुलीनों से स्वतंत्र' उपाश्रित समूह की भूमिका पर बल देकर उन्होंने विभिन्न प्रकार के विद्रोहों मे उपाश्रितों द्वारा दिए गए योगदान को उभारा है। उन्होंने इस महत्व को भी दर्शाया है कि उपाश्रित समूह किसी भी विद्रोह में दर्शक मात्र नहीं थे। दरअसल, वे चेतना संपन्न कार्यकर्त्ता थे। उपाश्रित जन जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। यद्यपि उपाश्रित इतिहासलेखन व्यवस्थित अध्ययन उपलब्ध कराने में असफल रहा है और यह उप-इतिहास-स्थानीय इतिहास का एक हिस्सा समझा गया। तथापि इसने कई स्थानीय दस्तावेजों को ढूंढ़कर और भारतीय इतिहास के पन्नों को उधेड़ कर इतिहासलेखन के खाली अंशों को भरने का कार्य किया है।

2.8 सारांश

राष्ट्रवाद की परिभाषा करते हुए अर्नोल्ड टायनबी का कथन है कि, ''राष्ट्रवाद, एक शक्ति है जो समाज या जाति को राज्य के अन्तर्गत एक निश्चित तौल में निरंकुश शक्तियों के विरूद्ध अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तथा वाह्य आक्रमण के विरूद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए एक साथ रहने को बाध्य करती है।'' राष्ट्रीयता उस स्थिति का नाम है, जिसमें लोग अपने को एक राष्ट्र का अंग मानने लगते हैं। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, ''राष्ट्र एक जातीय समूह है, जिसने एक राजनीतिक निकाय के रूप में अपना संगठन बना लिया है तथा जो या तो स्वतन्त्र है या स्वतन्त्रता का इच्छुक है।''

विकास के भिन्न-भिन्न धरातलों पर स्थित देशों में राष्ट्रवाद का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है। मुख्यत: इसकी दो धाराएं रही हैं - औपनिवेशिक राष्ट्रवाद और उपनिवेशवादी राष्ट्रवाद।

नोट

साम्राज्यवादी स्कूल के अनुसार राष्ट्रवादी आंदोलन जन आंदोलन न होकर अभिजात वर्ग की आवश्यकताओं का उत्पाद था जो अपने संकीर्ण हितों या अपने समूह-हितों की पूर्ति करता था। इस स्कूल के अनुसार राष्ट्रवादी वह लोग थे जिन्होंने जाति तथा धार्मिक पहचानों के आधार पर समूह निर्माण किया और राष्ट्रवाद का इस्तेमाल अपने निजी स्वार्थपूर्ण हितों की पूर्ति के लिए किया।

भारतीय इतिहासलेखन के राष्ट्रवादी स्कूल ने राष्ट्रवाद को एक मुख्य सत्ता तथा भावना के रूप में देखा जिसने स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता की भावना को मजबूत किया। इस स्कूल ने साम्राज्यवादी विचारधारा की शोषक प्रकृति को प्रकट किया। यह स्कूल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की एक राष्ट्रीय आंदोलन तथा जन आंदोलन के रूप मे व्याख्या करता है।

मार्क्सवादी स्कूल भारतीय इतिहासलेखन के क्षैतिज पर कुछ देर में उभरा। इस स्कूल ने अपने आप को कार्ल मार्क्स के मूलभूत मौलिक विचारों पर विकसित किया। मार्क्सवाद साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को उस पूंजीवाद की परिणति बताता है जो यूरोप मे औद्योगिक क्रांति की वजह से विकसित हुआ। व्लादिमीर लेनिन, रोजा लक्जमबर्ग आदि ने इस विचार को प्रतिपादित किया। उन्होंने साम्राज्यवाद की सबसे अधिक शोषणकारी व्यवस्था के रूप में व्याख्या की। मार्क्सवादी स्कूल ने राष्ट्रवाद का उच्चवर्गीय देशी बुर्जुआ की विचारधारा के रूप में विश्लेषण किया रजनी पाम दत्त तथा ए.आर.देसाई भारतीय राष्ट्रवाद के मार्क्सवादी इतिहासलेखन के संस्थापक थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के वर्ग चरित्र की आलोचना की। उन्होंने यह तर्क दिया कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग ने किसानों तथा अन्य निम्न वर्ग के लोगों की अनदेखी की है। यह स्कूल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की व्याख्या भारतीय अभिजात वर्ग के आंदोलन के रूप में करता है। वे तर्क देते हैं कि भारत में राष्ट्रवाद विरोधाभासी और द्वैधवृत्तिक है।

राष्ट्रवादी इतिहासलेखन के चौथे स्कूल, उपाश्रित स्कूल ने भी राष्ट्रवाद की शोषणकारी तथा प्रभुत्ववादी विचारधारा के रूप में व्याख्या की है। मार्क्सवादी स्कूल की तरह यह स्कूल भी साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रवादी विचारधारा की शोषणकारी प्रकृति की आलोचना करता है। यह स्कूल मार्क्सवादी स्कूल से काफी प्रभावित रहा है हालांकि मार्क्सवादी तथा उपाश्रित स्कूल में सूक्ष्म अंतर है। उपाश्रित स्कूल इस मार्क्सवादी व्याख्या में विश्वास करता है कि भारतीय राष्ट्रवाद प्रभुत्ववादी तथा शोषणकारी प्रकृति का था। यह न तो सजातीय है और न ही एकीकृत जैसा कि इसको दिखाने की कोशिश की गई है। परंतु शोषण के आधार तथा प्रकृति को लेकर यह मार्क्सवादियों से भिन्न मत रखता है। यह स्कूल तर्क देता है कि भारतीय समाज की व्याख्या केवल वर्ग के आधार पर नहीं की जा सकती, क्योंकि उस समय भारत में पूंजीवाद अपने आरंभिक चरण में था।

2.9 अभ्यास-प्रश्न

1. राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का उल्लेख कीजिए।
2. संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
3. मार्क्सवादी विचारधारा पर प्रकाश डालिए।
4. मार्क्सवादी स्कूल का विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।
5. उपाश्रित स्कूल से आप क्या समझते हैं?
6. 'साम्राज्यवादी स्कूल' पर एक टिप्पणी लिखिए।

7. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय किस प्रकार हुआ?
8. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताओं का वर्णन कीजिए।

नोट

2.10 संदर्भ पुस्तकें

- सिंह करण (1970): प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे।
- ताराचंद - भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास।
- बिपिनचंद्र - स्वतंत्रता संग्राम।
- भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड
- सरकार, एस (1983), आधुनिक भारत (1885-1847), नई दिल्ली: मैकमिलन
- प्रधान, राम चंद्र (2008) राज टू स्वराज, नई दिल्ली: मैकमिलन

अध्याय-3

सुधारवादी

नोट

(Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 ब्रह्म समाज एवं राजाराम मोहनराय के राजनैतिक विचार
3.4 दयानन्द सरस्वती – सुधारवादी
3.5 स्वामी विवेकानन्द के राजनैतिक विचार
3.6 सिंह सभा आन्दोलन
3.7 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा
3.8 विश्व संस्कृति को विवेकानंद का योगदान
3.9 सारांश
3.10 अभ्यास-प्रश्न
3.11 संदर्भ पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- ब्रह्म समाज एवं राजाराम मोहनराय के राजनैतिक विचार को समझने में;
- दयानन्द सरस्वती – सुधारवादी को जानने में;
- स्वामी विवेकानन्द के राजनैतिक विचार को समझने में;
- राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा को समझने में;

3.2 प्रस्तावना

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा सिंह सभा आन्दोलन जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में सुधार का प्रयत्न किया। वह पुनर्नवीकरण आन्दोलन जैसा कि आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, तथा देवबन्द आन्दोलन जिनका मुख्य उद्देश्य अपने पक्ष का पुनरुद्धार करना था। दोनों प्रकार के आन्दोलन भिन्न-भिन्न सीमा तक अपने धर्म को सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे और अपने प्राचीन पवित्र धर्म की दुहाई देते थे। दोनों में भेद केवल मात्रा का था जो अपनी-अपनी परम्परा, तर्क तथा अंतरात्मा पर निर्भर थी।

इन सुधार आन्दोलनों का एक अन्य पक्ष यह भी था कि वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक सुधार चाहते थे, जिनके लिए प्राचीन विश्वासों व परम्पराओं को चुनौती देनी पड़ती थी। भारत में लगभग सभी सामाजिक कुरीतियां धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थीं और इसीलिए धर्म को सुधारे बिना समाज-सुध

नोट

ार संभव नहीं था। एक अन्य कारण यह भी था कि भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न सुधार एक-दूसरे के बिना संभव नहीं थे और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया। उदाहरण के रूप में समाज में स्त्री-उद्धार के साथ-साथ उसका धार्मिक कल्याण भी हुआ। सती, शाश्वत वैधव्य तथा देवदासी प्रथा के समाप्त हुए बिना उसका सामाजिक कल्याण संभव नहीं हुआ और इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उसे मताधिकार मिला और वह देश के उच्चतम पद अर्थात् प्रधानमंत्री जैसे पद प्राप्त करने में सक्षम हुई।

3.3 ब्रह्म समाज एवं राजाराम मोहनराय के राजनैतिक विचार

बंगाल के राजाराम मोहन राय नवयुग के उल्लेखनीय समाज सुधारक थे, वे उन पहले व्यक्तियों में थे जिन्होंने राजनीतिक प्रश्नों को सामाजिक बहस के चक्र में डाला। उनकी आत्मिक सभा, जिसकी स्थापना 1814 में हुई थी, ने आवश्यक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों की चर्चा की। 1828 में इस सभा का वृहद स्वरूप, जिसको **ब्रह्मसभा** कहा गया, का नाम बदलकर ब्रह्म समाज कर दिया गया। शीघ्र ही उन्होंने समाज के कई ज्वलंत विषयों को छूना शुरू किया जिसमें व्यापक रूप से प्रचलित सती प्रथा थी। उन्होंने विलियम वेंटिक (गवर्नर जनरल) के इस प्रथा के बदलने के प्रयासों के समर्थन किया और इस विषय पर व्यापक लेख लिखे। सन् 1829 में यह प्रथा समाप्त हुई। उन्होंने बहुविवाह और कई स्त्री विरोधी प्रथाओं का विरोध किया। राय ने सन् 1825 में एक अंग्रेजी विद्यालय की स्थापना की जिसका नाम वेदांत विद्यालय था। वे एकेश्वरवाद के मत के प्रबल समर्थक थे। वे मूर्ति पूजा के विरोधी थे और उन्होंने उपनिषदों को हिंदुत्व का मूल माना। उनकी इच्छा थी कि हिन्दुत्व की उन सारी बुराइयों से मुक्त करके शुद्ध किया जाए जो कि सदियों से हिन्दुत्व में मिली हुई थी। वे अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार के विरोधी नहीं थे।

सन् 1833 में राय की मृत्यु के बाद ब्रह्म समाज के विसंगठन की शुरुआत हुई। सन् 1842 में देवेंद्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में उसको एक निश्चित आकार दिया गया और इसकी प्रसिद्ध कलकत्ता के बाहर भी फैल गयी। एक साल के पश्चात उन्होंने ब्रह्म वाच लिखी। यह वाच समाज, पंथ और सदस्यों के कर्तव्यों की सूची का विवरण था।

केशव चन्द्र सेन (1838-1884) ब्रह्म समाज से सन् 1858 में जुड़े, जोकि बहुत ही वाकपटु और प्रेरक नेता थे, वे समाज की गति विधियों को बंगाल से बाहर वी.पी., पंजाब, मद्रास और बॉम्बे ले गये। उन्होंने जातिप्रथा का विरोध करके, स्त्री आधिकारों को चिन्हित करके, विधवा विवाह को बढ़ावा देकर, ब्राह्म प्रचारकों के जाति प्रथा के मुद्दों को उठाकर, जो पहले ब्राह्मणों के लिए आरक्षित थे समाज को आंदोलित किया उन्होंने धर्म की सार्वभौमिकता पर जोर दिया। इनके कट्टरपंथ ने देवेद्रनाथ को इनका विपक्षी बना दिया। सन् 1866 में समाज का विघटन दो भागों, आदिब्रह्म समाज (देवेंद्रनाथ की अध्यक्षता में) और ब्रह्म समाज (केशवचंद्र की अध्यक्षता में) हो गया।

धार्मिक सुधारक के रूप में राय

धर्म की समीक्षा और पूनर्मूल्यांकन राय की चिंता का सबसे प्रमुख विषय था। उनका यह मत था कि धर्म के क्षेत्र में बौद्धिकता और आधुनिकता को लाया जाना चाहिए, और ''बौद्धिकता से विहीन धर्म'' कई सामाजिक बुराइयों की जड़ था। उनके अनुसार इस देश की राजनीतिक प्रगति मुख्य तौर पर धार्मिक सोच और व्यवहार में सफल क्रांति पर निर्भर थी। उनकी दिलचस्पी न केवल हिन्दू ध

नोट

र्म में सुधार करने में थी, बल्कि उन्होंने दुनिया के विभिन्न धर्मों से पाये जाने वाले अंतर्विरोधों को खत्म करने की भी कोशिश की। उन्होंने तुलनात्मक धर्मों का गंभीर अध्ययन किया और उन्होंने इस बात को महसूस किया कि सच्चा हिन्दुत्व, सच्चा इस्लाम और सच्ची ईसाइयत बुनियादी तौर पर एक दूसरे से अलग नहीं हैं। उनकी आशा थी कि तमाम धर्मों को सबसे अच्छी बातों को मिलाकर मानव जाति के लिए सार्वभौमिक धर्म की इस अवधारणा का अर्थ न केवल सहिष्णुता थी, बल्कि यह भी कि अलग-अलग धर्मों की दीवारों के पार इसे रखा जाये।

इस तरह से, राय ने एक आध्यात्मिक संश्लेषण की कोशिश की, जिसमें उन्होंने तमाम धर्मों के अनुभव की एकता पर जोर दिया। वह एक पक्के ईश्वरवादी हो गये। 19वीं शताब्दी में उन्होंने ब्रहमो समाज की स्थापना की। समाज ने धार्मिक और दार्शनिक चिंतन और चर्चा के मंच का काम किया। राय की धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास की आलोचना ने सभी संगठित धर्मों के पुरोहित वर्गों को उनके खिलाफ कर दिया। लेकिन समय ने निसंदेह राय के सोच और कार्यों की प्रासंगिकता को सिद्ध कर दिया है।

राय पर पड़ने वाले प्रभाव

बंगला और संस्कृत के अलावा राय ने अरबी, फारसी, इब्रानी, यूनानी लातीनी और दुनिया में बोली जाने वाली 17 और प्रमुख भाषाओं में महारत हासिल कर ली थी। ऐसी अलग-अलग किस्म की भाषाएं जानने के कारण राय का परिचय पश्चिम के विभिन्न किस्म के सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक अनुभवों से हुआ। उन्होंने इस्लाम का गहरा अध्ययन किया। सामान्य तौर पर अरबी साहित्य और विशेष तौर पर, मुताजिल की बौद्धिकता और तार्किक सुसंगति ने राय को बहुत प्रभावित किया। सादी और हाफिज जैसे सूफी कवियों ने उनके मन पर काफी प्रभाव डाला। कुरान की तौहीद या ईश्वर की एकता की अवधारणा ने राय को चमत्कृत किया।

इस तरह, इस संदर्भ में, जब राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों और प्रथाओं पर गौर किया तो उन्हें बहुत तकलीफ हुई। उन्हें बहु-ईश्वरवाद, मूर्ति पूजा और बौद्धिकता से विहीन अंधविश्वास बिल्कुल असहनीय लगे। उन्होंने इन सदियों पुरानी बुराइयों से जूझने का निश्चय किया।

संस्कृत के विद्वान होने के नाते, राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था, और वहीं से उन्हें रूढ़ीवादी हिन्दू धर्म को उसके पुरातनपंथी तत्वों से मुक्त करने की प्रेरणा मिली।

राय ने बौद्ध धर्म के उपदेशों का भी अध्ययन किया था कहा जाता है कि अपनी सभाओं के दौरान वह तिब्बत पहुंचे उन्हें ये देख कर तकलीफ हुई कि किस तरह से बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का घोर उल्लंघन हो रहा था और भगवान बुद्ध के धर्म वर्जित मूर्ति पूजा को स्वीकार कर लिया गया था। उन्होंने इन प्रथाओं का जमकर विरोध किया।

राजस्व विभाग में दीवान की हैसियत से जब राजा राममोहन राय को रंगपुर जाने का संयोग प्राप्त हुआ तो, उन्हें तांत्रिक साहित्य और जैनियों के कल्पसूत्रों और दूसरे ग्रंथों को पढ़ने का मौका मिला। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी महारत हासिल कर ली, और इंग्लैंड और यूरोप के बुद्धिवाद और विमोचन जैसे विचारों एवं राजनीतिक घटनाओं से अपने आपको परिचित कराया। अंग्रेजी के ज्ञान से राय को न केवल अंग्रेजों से सम्पर्क बनाने में सुविधा हुई, बल्कि उनके लिये एक पूरी नयी दुनिया के द्व ार खुल गए। राय के ही शब्दों में, उन्होंने अब अंग्रेजों के प्रति शुरूआती पूर्वाग्रहों को छोड़ दिया और यह महसूस किया कि अज्ञानी और अंधविश्वासी जन साधारण की दशा सुधारने के लिये इन

प्रबुद्ध शासकों की मदद लेना कहीं अच्छा होगा। वह अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज के जबरदस्त हिमायती हो गये।

नोट

राय के मन में वेदांत और कुरान की तरह बाईबिल के लिए भी प्रशंसा का भाव था। उनके अनेक आलोचकों का सोचना था कि राय के ब्रहमों समाज के दो प्रमुख सिद्धांत, मूर्ति पूजा का विरोध और सामूहिक प्रार्थना की रीति, ईसाई धर्म से ही लिये गये थे। राय पर यह आरोप लगाया गया कि वह परोक्ष रूप में हिंदुस्तान का ईसाईकरण कर रहे थे। यह सही है कि राय ने भारतीयों को ईसा के उपदेशों का पालन करने का सुझाव दिया। राय ने खुद स्वीकार किया कि, ''मेरी जानकारी में जितने धर्म सिद्धांत हैं, उनमें से ईसा के सिद्धांतों को मैंने नैतिकता में कहीं अनुरूप और बौद्धिक जन के लिये अधिक अनुकूल पाया है।'' उन्होंने ईसा के सिद्धांतों को एकत्र कर के यह भी प्रमाणित करने की कोशिश की कि ईसा के उपदेशों को बौद्धिक जन के उपयोग के लिये किस तरह बेहतर ढंग से अपनाया जा सकता है। साथ ही, यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि वह ईसाई धर्म के अंध भक्त नहीं थे। उन्होंने ईसा के दिव्यता के सिद्धांत को इस तर्क के साथ अस्वीकार कर दिया कि अगर ईसा दिव्य हैं तो, राम भी दिव्य हैं। उन्होंने मिश्नरियों द्वारा प्रचारित ''पिता-पुत्र पवित्रता'' के सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि राय पर हिन्दू धर्म के ईसाईकरण का आरोप लगाना गलत है। बल्कि राय की उत्कंठ इच्छा तो हिन्दू धर्म के पवित्र और सार्वभौम स्वरूप को फिर से उभारने की थी। उन्होंने जाति, मूर्ति पूजा और अंधविश्वासी रीतियों और कर्मकांडों को खारिज करने वाले अद्वेत दर्शन की हिमायत की।

इस तरह, राय एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने धर्मों के संकीर्ण विभाजनों को पीछे छोड़ दिया। उन्होंने हिन्दूत्व, ईसाई धर्म और इस्लाम के सबसे महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक तत्वों को गले लगाया।

हिन्दूत्व की पुनर्विवेचना

राय ने अपने सारी उर्जा हिन्दू समाज में व्याप्त अनेकीश्वरवाद, मूर्ति पूजा, जातिवाद और अंधविश्वासों जैसी मध्य युगीन प्रवृत्तियों से जूझने में लगा दी। उनका अटूट विश्वास अद्वैतदर्शन में था, जिसमें इस तरह की प्रवृत्तियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। राय को पूरा विश्वास था कि जब तक हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक बदलाव नहीं होता, वह राजनीतिक प्रगति के काबिल नहीं होगा। उनके अनुसार, उस समय हिन्दुओं में जो धर्म-व्यवस्था व्याप्त थी, उसके रहते हिन्दुओं के राजनीतिक हितों को आगे बढ़ाना मुश्किल था। राय का तर्क था कि हिन्दुओं में जो ढेरों धार्मिक रीतियां और अनुष्ठान थे और जाति के अस्वाभाविक भेदभाव और शुद्धीकरण के नियम थे, उनके कारण हिन्दु किसी भी किस्म की समान राजनीतिक भावना से वंचित रह गये थे। हिन्दुओं के लिए वह जरूरी था कि वे कम से कम अपने राजनीतिक लाभ और सामाजिक सुविधा के लिए ही अपने धर्म में कुछ बदलावों को स्वीकार कर लें। इस तरह, राय के लिये हिन्दुत्व के लिए हिन्दुत्व की पूर्ण विवेचना सामाजिक-राजनीतिक सुधार के कार्यक्रम का प्रस्थान बिंदु था। राय की कोशिश आध्यात्कि जीवन के गहन अनुभवों को सामाजिक जनवाद के बुनियादी सिद्धांत से मिलाने की थी। वह तमाम अंधविश्वासों और उन पर आधारित कुरीतियों की भर्त्सना करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि अर्से से चली आ रही ये पारम्परिक प्रथाएं वास्तव में उनके धर्म का आधार बिंदु नहीं था। उनके लिये, इस शुद्धता की सच्चाई तो यह थी कि हिन्दू धर्म ग्रंथों में उनके लिये कोई स्थान या समर्थन नहीं था। राय अपने देशवासियों का ध्यान उसके धर्म की प्राचीन शुद्धता की ओर आकृष्ट

करना चाहते थे। उनके लिये, इस शुद्धता का वेदों और उपनिषदों में मिलता है।

शुद्ध हिन्दू धर्म में अंधविश्वास और अंधविश्वासी मान्यताओं और प्रथाओं की शुद्ध हिन्दू धर्म में कोई बुनियाद नहीं थी, यह सिद्ध करने के लिए राय ने उपनिषदों के बंगाली और अंग्रेजी में अनुवाद का कठिन काम हाथ में लिया। उन्होंने इन अनुवादों के साथ विस्तार से टिप्पणियां भी दीं और उन्हें लोगों में मुफ्त बांटा।

नोट

जब राय 16 साल के थे, तो उन्होंने मूर्ति पूजा की वैधता को चुनौती देते हुए एक किताब लिखी। उनके अनुसार, मूर्ति पूजा कई और सामाजिक बुराइयों का मूल कारण थी। इससे अनेक देवी-देवताओं और पूजा के अनेक तरीकों को जन्म मिलता था। इसके कारण समाज ऐसी असंख्य जातियों और समूहों में बंट गया था, जो एक दूसरे से भिन्न-भिन्न मूर्तियों की पूजा में लगे थे। विभाजन और उप-विभाजन की इस प्रक्रिया का कोई अंत नहीं था। राय मूर्ति पूजा को तार्किकता और सामान्य बोध के खिलाफ मानते थे। इसके अलावा, इसे प्राचीन धर्म ग्रंथों में कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। राय ने ब्रहम समाज के मंच से एकेश्वरवाद और सामूहिक प्रार्थना का प्रचार किया।

राय ने इन अंधविश्वासों के खिलाफ संघर्ष किया, जो हिन्दू समाज में कई अमानवीय और क्रूर प्रथाओं और परंपराओं को जन्म देने का कारण बने। उन्होंने लोगों में यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि अंधविश्वासों का बुनियादी हिन्दू धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। राय ने केवल उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि अपने उपदेशों का खुद पालन भी किया। पुरातनपंथ हिन्दू, समुद्र की यात्रा को पाप मानते थे। राय इस अंधविश्वास को तोड़ने वाले पहले हिन्दू थे। उन्होंने खुद समुद्र यात्रा की। उनकी इस साहसिकता ने उनकी कोशिशें को और प्रभावशाली

बना दिया।

समाज सुधारक के रूप में राय

राय धार्मिक पिछड़ेपन के बाद भारत के सामाजिक पतन को उसके राजनीतिक ह्रास का कारण मानते थे। उन्हें इस बारे में कोई शक नहीं था कि यहां सामाजिक सुधार राजनीतिक मुक्ति की एक जरूरी शर्त थी। उन्होंने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अग्रणी काम किया।

राय ने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरूआत आत्मीय सभा की स्थापना के साथ की। इस सभा ने कुलीन परम्परा के नाम पर कुछ विशेष हितों के कारण, कमसिन लड़कियों को धनी पतियों के हाथों बेचे जाने की प्रथा का जम कर विरोध किया। इसने बहुविवाह प्रथा का भी विरोध किया और जातिगत अयोग्यताओं को खत्म करने के लिये काम किया।

राय भारत में अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका में विश्वास करते थे और उन्होंने, विशेषतौर पर सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील विधानों के रूप में, सामाजिक सुधारों के मामले में सरकारी मदद की मांग की। राय का यह विश्वास था कि सरकार के सक्रिय समर्थन के बिना अमानवीय सती प्रथा को खत्म करना असंभव होगा।

राय का लक्ष्य एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना था जो सहिष्णुता, सहानुभूति और तार्किकता के सिद्धांतों पर आधारित हो और जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भाई चारे के सिद्धांत सभी को स्वीकार हों, और जिसमें मनुष्य उन पारंपरिक बेड़ियों से मुक्त हो जाये, जिनका वह युगों से गुलाम है। वह एक ऐसे नये समाज की कामना करते थे, जो तमाम संकीर्ण सीमाओं से परे और आधुनिक हो।

राय के समाज सुधार के तरीके बहुविध थे। उन्होंने सभी संभव साधनों को मिला दिया, उन्हें भी

जिन्हें आमतौर पर एक दूसरे का विरोधी समझा जाता था। उन्होंने अपने देशवासियों की बौद्धिकता को संबोधित किया और वह अक्सर प्रस्तावित सुधारों के समर्थन में धर्मग्रंथों की पंक्तियों और पदों का उद्धरण देते थे।

नोट

राय संस्कृत के विद्वान होने के नाते, यथा स्थिति की हिमायत करने वालों की आपत्तियों का जवाब देने के लिये मूल संस्कृत पाठों से उद्धरण देते थे और उन्हें निरूत्तर कर देते थे। मिसाल के तौर पर, बहुविवाह प्रथा की निंदा करने के लिये उन्होंने यज्ञनावालकल्य की मिसाल दी जिन्होंने दूसरी पत्नी की अनुमति केवल आठ विशिष्ट आधारों पर दी थी, जैसे अगर पत्नी शराब पीने की आदी हो, उसे कोई लाइलाज बीमारी हो, उसे कोई संतान न हो रही हो आदि। फिर भी उनका मत था कि कोई भी ग्रंथ परमेश्वर का लिखा हुआ नहीं था इसलिये उसमें किसी गलती का होना असंभव भी नहीं था। राय ने समाज सुधार के विषयों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे और अहम धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद और पुरर्विवेचना भी की।

उन्होंने शासकों को स्मरण पत्र और अपीलें भेज कर सामाजिक बुराइयों की ओर उनका ध्यान भी खींचा। संगठित मोर्चों के मंचों से उन्होंने लोगों के आगे धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के आदर्श रखे। उन्होंने मानव मुक्ति का लक्ष्य ले कर दुनिया में कहीं भी चलने वाले आंदोलनों में गहरी दिलचस्पी ली और उनका समर्थन किया। उनमें यह ऐलान करने का भी साहस था कि अगर संसद में पड़े किसी विशेष सुधार विधेयक को पारित नहीं किया गया तो वह अंग्रेजों से अपना नाता तोड़ लेंगे। उन्होंने बेसहारा विधवाओं और गरीब छात्रों की जरूरतों को पूरा करने वाले कई सामाजिक संगठनों की स्थापना की या उनमें कई तरह से मदद की।

जाति व्यवस्था पर

राजा राममोहन राय की जाति व्यवस्था पर सबसे बड़ी आपत्ति इन आधारों पर थी कि इससे समाज का विभाजन और उपविभाजन होता है। जाति विभाजनों से सामाजिक एकरूपता और समाज के अखंडित स्वरूप का नाश होता है और समाज राजनीतिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। जाति विभाजन के कारण लोग पूरी तौर पर राजनीतिक भावना, यानि समानता की भावना, एकजुटता की भावना, से वंचित रह जाते हैं। इस तरह से विभाजित कौम कोई बड़ा जोखिम उठा सकने के काबिल नहीं रह जाती। जाति व्यवस्था की विभाजनकारी भूमिका के अलावा राय इसके भेदभाव वाले स्वरूप की भी आलोचना करते थे। वह जाति की पारम्परिक श्रेणीबद्धता में निहीत असमानताओं के खिलाफ थे। वह जाति की पारम्परिक इस बात को तर्क के विरुद्ध मानते थे कि किसी व्यक्ति की योग्यता को उसके गुणों के आधार पर न आंक कर उसके जन्म के आधार पर आंका जाये। वह अंतरजातीय और अन्तरप्रजातीय विवाह के पक्ष में थे, उनका सोचना था कि इससे जाति विभाजनों की दीवारों को असरकारी ढंग से तोड़ा जा सकता है।

महिलाओं के अधिकारों पर

राजा राममोहन राय भारत में महिलाओं के अधिकारों के समर्थक थे। उन्होंने इस देश में महिलाओं की स्वतंत्रता के आंदोलन की नींव रखी। उन्होंने महिलाओं की दासता के खिलाफ विद्रोह किया और उन्हें उनके अधिकार दिये जाने की वकालत की। उन दिनों हिन्दू महिलाओं की हालत बहुत दयनीय थी। वे तमाम किस्म के अन्याय और अभावों की शिकार थी। राय के अनुसार हिन्दू महिलाओं की दुर्दशा का मूल कारण था उन्हें सम्पत्ति का बिल्कुल भी अधिकार न दिया जाना। हिन्दू कन्या को उसके मृत पिता की सम्पत्ति में उसके भाईयों के साथ साझा करने का पारम्परिक अधिकार नहीं

नोट

था। विवाहित महिला को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्र के साथ साझा करने का अधिकार नहीं था।

सन् 1822 में राय ने 'ब्रीफ रिमार्क्स रिगार्डिंग मॉडर्न एनक्राचमैंट ऑन द एनसिएंट राइट ऑफ फीमेल' शीर्षक से एक किताब लिखी। उन्होंने यह बताया कि प्राचीन हिन्दू विधिदाताओं ने मां को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्रों के साथ साझा करने का अधिकार दिया था, और पुत्री को पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति में पुत्र को मिलने वाले अंश का एक चौथाई पाने अधिकार था। राय ने बताया कि किस तरह धीरे-धीरे ये अधिकार आधुनिक विधिदाताओं ने महिलाओं से छीन लिये। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि अधिकारों का यह हनन याशवल्क्य, नारद, काम्यायन, बृहस्पति और अन्य विभूतियों द्वारा लिखे गये प्राचीन ग्रंथों में दिये प्रावधानों का खुला उल्लंघन था। हिन्दू विधवा की असहायता और अपमान की स्थिति अमानवीय सती प्रथा के पनपने का एक प्रमुख कारण थी।

अपने सम्पत्ति के अधिकारों से पूरी तौर पर वंचित महिलाएं जैसा कि बिल्कुल स्वाभाविक था, अपनी स्वाधीनता खो बैठती थीं और परिवार के पुरुष सदस्यों की दासी हो गई। यह सोचा जाता था कि उनमें पुरुषों से कम बौद्धिक क्षमताएं होती हैं। उन्हें केवल शारीरिक स्तर पर उनका अस्तित्व माना जाता था। पुरुष अपनी वासना की तुष्टि के लिये जितनी महिलाओं से चाहे विवाह कर सकते थे। लेकिन महिलाओं को दोबारा विवाह की अनुमति नहीं थी। राय के लिये पुरुष-महिला समानता विश्वास का मामला था, इसलिये यह बात उनके गले नहीं उतरती थी कि महिलाएं किसी मामले पुरुषों से कम थी। उनका तो सोचना यह था कि महिलाएं कुछ मामलों में तो पुरुषों से श्रेष्ठ ही थीं। राय का तर्क था कि आज महिलाओं में जो भी कमी दिखायी देती है उसका कारण यह है कि उन्हें पीढ़ियों से ज्ञान के स्रोतों से दूर रखा गया और जिंदगी की विभिन्न जिम्मेदारियां उठाने का मौका नहीं दिया गया।

राय ने बहुविवाह प्रथा का जम कर विरोध किया और पूरे जोश-खरोश के साथ इसको शर्मनाक दुष्परिणामों को उजागर किया। उन्होंने एक ऐसे कानून का आग्रह किया जिसमें हिन्दू पुरुष न्यायाधीश की अनुमति हासिल करने के बाद ही दूसरी पत्नी से शादी कर सकें। राय कुछ परिस्थितियों में महिलाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मो समाज महिलाओं की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देता था।

सती प्रथा

क्रूर सती प्रथा का उन्मूलन शायद समाज सुधार का वह सबसे महान काम है जिसके साथ राजा राममोहन राय का नाम हमेशा के लिये जुड़ा रहेगा। राय ने अपने बस में सारे साधनों का इस्तेमाल इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने में कर दिया, जिसमें असहाय विधवा को अपने पति की चिता पर जल जाने को मजबूर होना पड़ता था।

सन् 1818 में राय ने सती पर अपना पहला लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह तर्क दिया कि महिला की उसके पति से अलग भी जिंदगी होती है और इसलिये इस बात का कोई कारण नहीं बनता कि पति की मौत मे बाद वह अपनी जिंदगी भी खत्म कर लें। पुरुषों और महिलाओं दोनों का जिंदगी का अधिकार समान रूप से अहम है। सती प्रथा को सदियों पुराना होने का तर्क देकर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह जरूरी नहीं है कि जो कुछ सदियों से होता चला आ रहा है वह हमेशा सही ही हो। अगर प्रथाओं को जिंदा रखना है तो उन्हें बदलती परिस्थितियों के साथ

सामंजस्य करना होगा। राय के अनुसार सती प्रथा हत्या के बराबर है और इसलिये कानून के अन्तर्गत दंडनीय अपराध है।

नोट

राय ने तीन मोर्चों पर सती प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया– सबसे पहला और सबसे अहम मोर्चा था जनमत। राय ने लेख लिख कर, भाषण देकर, आंदोलन चलाकर और विचार-विमर्श करके लोगों को मानसिक रूप से सती प्रथा के उन्मूलन के लिये तैयार किया और उन्हें यह समझाया कि इस प्रथा को किसी भी धर्म ग्रंथ का समर्थन प्राप्त नहीं है और इसलिये इस मामले में सरकारी कार्रवाई को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं माना जा सकता। दूसरा, शासकों को यह समझाने की कोशिश की कि एक सभ्य शासक के नाते उनकी यह जिम्मेदारी है कि वे इस क्रूर प्रथा को खत्म करें। तीसरा, मोर्चा था उन कारणों की पड़ताल करना जिनके कारण किसी हिन्दू विधवा को सती होना पड़ता था, और उन कारणों को खत्म करने के प्रबंध करना। राय ने पाया कि अपने वैध अधिकारों के बारे में महिलाओं की अज्ञानता उनका अनपढ़ होना, विधवा को सम्पत्ति के अधिकारों से परम्परा के अधिकार पर वंचित रखना, और उसके कारण उनकी असहायता, निर्भरता, दु:ख और अपमान इस प्रथा के कुछ कारण थे। राय ने महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार देने और उनकी शिक्षा की सुविधाएं जुटाने की जोरदार वकालत भी की।

राय की राजनीतिक उदारवादिता

राय को उदारवाद का सबसे शुरुआती हिमायती और भारत में उदारवादी आंदोलन का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उदारवाद यूरोप में पुनर्जागरण और सुधार की सबसे मूल्यवान देन के रूप में उभरा था। इसकी तरफ 19वीं सदी के यूरोप और अमेरिका के कुछ सर्वोत्कृष्ट बुद्धिजीवी उसकी और आकृष्ट हुए। यह भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार के पहले दौर की सबसे प्रभावशाली विचारधारा बन गई। संक्षेप में, उदारवाद का अर्थ होता है व्यक्तिगत व्यक्तित्व का मूल्य और गौरव, ऐतिहासिक विकास में मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति, और यह आस्था कि तमाम शक्ति का स्रोत होते हैं। स्वाभाविक ही है कि उदारवाद व्यक्ति के कुछ अधिकारों का हनन न होने देने पर जोर देता है जिनके बिना किसी भी मानवीय विकास के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उदारवाद मानवीय समानता पर जोर देता है और इस सिद्धांत पर भी कि व्यक्ति का समाज के लिये बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। उदारवाद में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक किसी भी क्षेत्र में अधि कार के मनमाने इस्तेमाल के लिये कोई गुंजाइश नहीं होती।

राय ने जीवन के सभी क्षेत्रों में उदारवादी सिद्धांतों की वकालत की थी। धर्म के मामले में राय सहिष्णुता, समस्याओं के गैर-संप्रदायवादी समाधान और धर्म निरपेक्षता के कायल थे। वह व्यक्ति की इस स्वतंत्रता की कद्र करते थे जिसके रहते वह अपने विवेक की बात माने और पुरोहित वर्ग के आदेशों को न मानने की हिम्मत भी रखे। राजनीति के मामले में, राय विधान की अवैयक्तिक सत्ता के समर्थक थे और सत्ता के किसी भी मनमाने इस्तेमाल की खिलाफत करते थे। उनका विश्वास था कि संवैधानिक सरकार का होना मानवीय स्वतंत्रता की सबसे अच्छी गारंटी है। वे अधिकार की रक्षा करने के लिये आवश्यक संवैधानिक साधनों के इस्तेमाल पर जो देते थे क्योंकि, उनके लिये, इस तरह के सुधार कहीं अधिक स्थायी और गहन थे।

आर्थिक क्षेत्र में उदारवादी सिद्धांतों के अनुरूप, राय जायदाद के अधिकार की पवित्रता में विश्वास रखते थे। इसी तरह, उनका विश्वास था कि एक मजबूत मध्यम वर्ग सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में एक अहम भूमिका निभा सकता था। वह जमींदारों के शोषण के शिकार गरीब किसानों की मुक्ति

नोट

के हिमायती थे। वह चाहते थे कि सरकार जमींदारों से अपनी मांगों में कटौती करें। वह रैयतवाड़ी प्रथा और भारतीय सभ्यता के देहाती आधार को बनाये रखना चाहते थे और आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग की स्थापना करना चाहते थे लेकिन वह एक अहम मामले में दूसरे पश्चिमी उदारवादी चिंतकों से भिन्न थे, अर्थात् राज्य की भूमिका और राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र में उनकी परिकल्पना में सामाजिक सुधार और जमींदारी से जोतदारों के अधिकारों की रक्षा करने के मामलों में पहल करने में राज्य से एक सकारात्मक भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जानी चाहिये।

स्वतंत्रता

राय के लिए स्वतंत्रता एक केन्द्र बिन्दू था जिसक इर्द-गिर्द समूचा धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक विचार घूमते थे। उनका मूर्ति पूजा का विरोध, सती प्रथा के विरूद्ध संघर्ष, उनका आधुनिक पश्चिमी शिक्षा की मांग, उनकी मांग, समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उनका जोर, महिलाओं के अधिकारों पर उनका जोर, और ''अधिकारों के अलगाव की उनकी मांग, सभी स्वतंत्रता के प्रति उनके गहन प्रेम की अभिव्यक्ति थे। उनके लिये स्वतंत्रता मनुष्य समाज की अमूल्य निधि थी। भारत को राजनीतिक आजादी का संदेश देने वाले वह सबसे पहले व्यक्ति थे। यह मानते हुए भी कि अंग्रेजी राज से भारत को सकारात्मक लाभ मिलेंगे, राय ने भारत में अंतहीन विदेशी राज की कभी हिमायत नहीं की। वह ब्रितानी संपर्क को भारत की सामाजिक मुक्ति के लिये आवश्यक मानते थे। उसके बाद राजनीतिक आजादी का आना लाजमी था।

लेकिन, स्वतंत्रता के प्रति उनका प्रेम किसी एक राष्ट्र या संप्रदाय तक सीमित नहीं था। यह सार्वभौम था। वह मानव स्वतंत्रता का लक्ष्य लेकर चलने वालों के किसी भी संघर्ष के हिमायती थे। उनके लिये स्वतंत्रता एक न बांटी जा सकने वाली (अविभाज्य) चीज थी। उन्हें जहां स्पेन और पुर्तगाल में संवैधानिक सरकारों के गठन पर प्रसन्नता हुई वहीं 1821 में नेपल्स में ऐसी ही एक सरकार के गिर जाने पर दु:ख भी हुआ।

स्वतंत्रता राय का सबसे गहरा मानसिक जुनून था। वह शरीर और मर की स्वतंत्रता में भी समान रूप से विश्वास रखते थे, और कर्म और सोच की स्वतंत्रता में भी वह मानवीय स्वतंत्रता पर नस्ल, धर्म और रीतियों के बंधन से दूर रहते थे।

व्यक्ति के अधिकारों पर

भारतीयों में नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करने वाले राय पहले व्यक्ति थे। वे अंग्रेजों का इसलिये एहसान मानते थे क्योंकि उन्होंने भारतीयों के लिये वे सारे अधिकार उपलब्ध कराये जो इंग्लैंड में महारानी की प्रजा को प्राप्त थे। राय ने नागरिक अधिकारों की कोई सूची तो नहीं बनायी, लेकिन शायद उनकी परिकल्पना के नागरिक अधिकारों में ये नागरिक अधिकार शामिल थे। जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार, मत रखने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार, जायदाद का अधिकार, धर्म (अपनी पसंद का) मानने का अधिकार, इत्यादि।

राय मत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे अधिक महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में मन और बुद्धि की रचनात्मकता की स्वतंत्रता, और विभिन्न माध्यमों से अपने मत और सोचों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसमें शामिल थी। राय के अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता शासक और शासित दोनों वर्गों के लिये समान रूप से उपयोगी थी। अज्ञानी लोगों से इस बात का कहीं अधिक डर रहता है कि वे शासकों के हरेक काम के प्रति बगावत कर दें, वे अधिकारियों के खिलाफ भी हो सकते

नोट

हैं। इसके विपरीत प्रबुद्ध जनता केवल अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग का ही विरोधा करेगी, अधिकारियों का नहीं। राय का तर्क था कि स्वतंत्र समाचार पत्र दुनिया के किसी भी हिस्से में कभी भी क्रांति का कारण नहीं बने। लेकिन ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां समाचार पत्रों की स्वतंत्रता न होने के कारण लोगों की शिकायतों को अधिकारियों तक नहीं पहुंचाया जा सका, नहीं दूर किया जा सका, जिससे स्थिति एक हिंसक, क्रांतिकारी बदलाव की स्थिति केवल स्वतंत्र और स्वाधीन समाचार पत्र ही सरकार और जनता की अच्छाइयों को उजागर कर सकते हैं।

लेकिन, राय समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंधों के खिलाफ नहीं थे। वे तो भारतीय समाचार पत्रों पर कुछ अतिरिक्त प्रतिबंधों को भी स्वीकार करते थे, जिन्हें इंग्लैंड के समाचार पत्रों पर नहीं लगाया गया था। उनका विश्वास था कि इस तरह के प्रतिबंध यहां इसलिये आवश्यक हैं कि क्योंकि यहां कुछ भारतीयों की तरफ से यह आशंका थी कि वे यहां के लोगों के मन में अंग्रेज शासकों के लिये घृणा पैदा कर सकते हैं। राय पड़ोसी दोस्त राज्यों के साथ शत्रुता पैदा करने वाली राजद्रोही किस्म की कोशिशें पर रोक लगाने की दृष्टि से लगाये गये प्रतिबंधों पर सख्त आपत्ति करते थे। राय ने नौकरशाही द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों का जोरदार विरोध किया क्योंकि उनकी राय में ये प्रतिबंध मनमाने और इस देश की परिस्थितियों में अनावश्यक है।

कानून और न्यायिक प्रशासन पर

राय का दावा था कि कानून तर्क की सृष्टि है और उसमें भावना के लिये कोई स्थान नहीं। यह शासक का आदेश होता है। इसलिये ईस्ट इंडिया कंपनी को बड़े से बड़े अधिकारी में भारत के लिये कानून बनाने के लिये सक्षम नहीं था। यह अधिकार केवल संसद में सम्राट को हो सकता था। यही नहीं, राय का यह भी तर्क था कि इंग्लैंड की संसद को भारत से संबंधित किसी भी विध ान को अंतिम रूप देने से पहले इस देश के बड़े अर्थशास्त्री और बुद्धिजीवीयों के विचारों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

राय ने कानून के संदर्भ में एक और अहम विचार दिया। वह था कानून को संहिताबद्ध करना जो शासक और शासितों दोनों के हित में था। उनका सुझाव था कि कानून को संहिताबद्ध करने का काम उन सिद्धांतों को आधार मान कर किया जाये जो समाज के सभी वर्गों और गुटों में समान रूप से हों और सभी उन पर सहमत हों। कानून को संहिताबद्ध करने की प्रक्रिया में इस देश की प्राचीन समय से चला आ रही प्रथाओं को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिये। बेशक, केवल ऐसी प्रथाओं को लिया जाना चाहिये जो तर्कसंगत है ओर जन साधारण की भलाई के लिये है। इस तरह से संहिताबद्ध किया हुआ कानून सरल, स्पष्ट और सही होना चाहिये। संहिताबद्ध कर देने से कानून की विवेचना अधिक अवैयक्तिक हो जायेगी और इसे अधिक समान रूप से लागू किया जा सकेगा।

राय कानून, प्रथा और नैतिकता में स्पष्ट भेद करते थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि विकसित होती प्रथाएं कानून की एक अहम स्रोत होती है, लेकिन इन दोनों को पहचाना नहीं जा सकता। वह कानून और नैतिकता में भी भेद करते थे। राय के अनुसार, यह भी हो सकता है कि कुछ कानून कानूनन तौर पर वैध हों, लेकिन नैतिकता की दृष्टि से अक्षम्य। इसी तरह, कुछ प्रथाएं नैतिक दृष्टि से स्वस्थ हो सकती है, लेकिन उन्हें कानून का समर्थन नहीं दिया जा सकता। नैतिकता के सिद्धांत सामाजिक यथार्थों के सापेक्ष होते है। और कोई कानून असरकारी हो इसके लिये यह आवश्यक है कि उस कानून में उस समाज विशेष में प्रचलित नैतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाये।

नोट

अपनी किताब ''ऐन ऐक्सपोजीशन ऑफ रिवेन्यू ऐंड जुडीशियल सिस्टम इन इंडिया'' में राय ने प्रशासनिक और न्यायिक मामलों में अत्यावश्यक सुधारों पर एक गहन चर्चा प्रस्तुत की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रशासन को तब तक सक्षम और असरकारी नहीं बनाया जा सकता जब तक उसमें जन-साधारण की भाषा बोलने वाले अधिकारी न हों। प्रशासन और जनता के बीच संपर्क के विभिन्न रास्ते भी होने चाहिये।

न्यायिक क्षेत्र में सुधार के संबंध में राय के सुझाव कहीं अधिक हैं क्योंकि उनके लिये एक सक्षम, विष्पक्ष और स्वाधीन न्यायतंत्र स्वतंत्रता की सबसे बड़ी गारंटी होता है। राय का विश्वास था कि न्यायिक प्रक्रिया में भारतीयों का साथ को न्यायिक प्रशासन का एक आवश्यक अंग होना चाहिये। उन्होंने जिन और उपायों की वकालत की उनमें शामिल है– न्यायिक प्रक्रिया पर जागरूक जनमत की लगातार नजर, कानूनी अदालतों में अंग्रेजी की जगह फारसी का इस्तेमाल, दीवानी मुकदमों में भारतीय निर्धारकों की नियुक्ति, जूरी द्वारा मुकदमें की सुनवाई, न्यायिक कामों को अधिशासी कामों से अलग करना, भारतीयों के बारे में कोई भी कानून लागू करने से पहले उनके हितों को लगातार ध्यान में रखना। उन्होंने सुझाव दिया कि सदियों पुरानी पंचायत व्यवस्था को फिर से चालू किया जाये। इस तरह, राय ने राजनीतिक उदारवाद को ध्यान में रखकर भारतीय न्यायिक व्यवस्था में कई सुधारों और संशोधनों का आग्रह किया।

राज्य की कार्यवाही के क्षेत्र पर

उदारवादी चिंतक होते हुए भी राय का विश्वास अहस्तक्षेप (दखलअंदाजी न करने) में नहीं था। वह इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सके कि राज्य की कार्यवाही का क्षेत्र केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। अपने लेखों में उन्होंने राज्य के अधिकारियों से बार-बार यह आग्रह किया था कि वे ऐसी कई सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लें जो ''राजनीति'' की श्रेणी में नहीं आती। वे चाहते थे कि राज्य जमींदारों से किरायेदारों की रक्षा करें। उपयोगी और उदार शिक्षा की व्यवस्था करें, सती जैसी कुप्रथाओं को समाप्त करें और स्त्री और सभी पुरुष दोनों के जीवन की रक्षा समान रूप से करें और स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित एक नयी सामाजिक व्यवस्था बनायें। राय के अनुसार किसी सरकार का होना केवल तभी सार्थक होता है जब वह अपने मूल कामों के अलावा इन सारे कामों को भी अंजाम दे।

शिक्षा पर

राय का विश्वास था कि जब तक इस देश की शिक्षा व्यवस्था को पूर्णरूप से बदल नहीं दिया जाता, तब तक इस बात की संभावना नहीं बन सकती कि लोग इतनी सदियों की नींद जाग उठेंगे। उनकी महत्वाकांक्षा शिक्षा व्यवस्था को बिल्कुल बदल डालने की थी। उनका विश्वास था कि केवल आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा ही भारतीय जनता में नयी जागरूकता और नयी क्षामताएं भर सकती हैं। इस तरह, की शिक्षा के बिना भारत में समाज सुधार का काम बहुत कमजोर होगा और देश हमेशा पिछड़ा रहेगा। खुद संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए भी राय का हमेशा यह सोचना रहा कि संस्कृत आधुनिक भारत के लिये प्रासंगिक नहीं है ओर इसलिये वह इसका सख्त विरोध करते रहे। उन्होंने शासकों से यह आग्रह किया कि अप्रासंगिक संस्कृत को आगे बढ़ाने के बजाय उन्हें चाहिये कि वे नई भारतीय पीढ़ियों को उपयोगी आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से समृद्ध करें। राय चाहते थे कि युवाओं को रसायन शास्त्र, गणित, शरीर विज्ञान, प्राकृतिक दर्शन जैसे उपयोगी आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा दी जाये, उन पर व्याकरण की पेचीदगियों, और काल्पनिक ज्ञान को ने लादा जाये। राय के विचारों

और उनकी गतिविधियों ने भारत में शिक्षा व्यवस्था को एक नयी दिशा देने में सचमुच नेतृत्वकारी काम किया। वे नारी शिक्षा के पहले हिमायती थे।

अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व पर

नोट

इस विषय पर राजा सममोहन राय के विचार उनकी भविष्य उन्मुख कल्पना और अंतदृष्टि की अभिव्यक्ति है उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व की एक सुंदर तस्वीर बनायी है, वे 18वीं सदी के शायद पहले चितक थे जिनके पास अंतर्राष्ट्रीयता की सही परिकल्पना थी। यह परिकल्पना (दृष्टि) सार्वभौम धर्म की तलाश करते समय उन्हें मिली होगी। सार्वभौमिकता के भविष्यवक्ता, राय का यह तर्क था कि दुनिया के सभी राष्ट्रों को एक धरातल पर रखा जाना चाहिये जिससे विश्व एकता और व्यापक बंधुत्व की स्थिति बनायी जा सके। केवल उसी स्थिति में राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद के बीच के अंतर्विरोध को समाप्त किया जा सकता है।

राय का मानना था कि विभिन्न जन-जातियाँ और राष्ट्र केवल एक ही परिवार की शाखाएं है और इसलिये दुनिया के प्रबुद्ध राष्ट्रों के बीच बारम्बार विचारों का आदान-प्रदान और सभी मामलों में विनिमय होना चाहिये। राय के अनुसार मानव जाति को सुखी और संतुष्ट बनाने का केवल यही एक रास्ता है। राजनीतिक मतभेदों को हरेक संबद्ध देश के समान संख्या के प्रतिनिधियों वाले एक सामान्य मंच पर लाकर सुलझाने के लिये भी उपयोगी हो सकता है, जिससे मानव जाति पीढ़ियों तक शांति के वातावरण में रह सकेगी।

इस सिलसिले में राय के विचार भविष्यवादी साबित हुए राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू.एन.ओ.) एक तरह से इन विचारों की अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति हैं।

3.4 दयानन्द सरस्वती – सुधारवादी

यह सत्य है कि जब सुदृढ़ स्वामित्व हो तब किसी भी प्रकार का तथ्य कोई प्रभाव नहीं डाल सकता था। दयानंद का व्यक्तित्व इतना महान है कि इसे किसी भी हमारे जैसे आम आदमी द्वारा बचाव की आवश्यकता नहीं है। हालांकि जब यह ईर्ष्या और द्वेष के जाल में जकड़ा हुआ है, तब किसी न किसी को वर्तमान चीजों को उसके सत्य और वास्तविक परिपेक्ष में आंकलन करना होगा। अपने जीवन में उन्हें बहुत गलत समझा गया बुरी ताकतों ने उन्हें नजर अंदाज करने की कोशिश की। वे उन्हें तरीकों से प्रताड़ित किया गया। उनके विरुद्ध बर्बरतापूर्ण ईर्ष्या तथा द्वेष के साथ कभी खत्म ना होने वाली लड़ाई छेड़ दी गई। उन्हें अश्लील और भद्दी गालियों द्वारा उनके उपर दोष लगाया गया कि उनकी लड़ाई बेईमानों के लिए है तथा वे ईश्वर की निंदा करते हैं। इस महान आत्मा के मृत्यु के बाद भी (सन् 1883 में उन्हें जोधपुर में जहर दिया गया और मृत्यु अजमेर में हुई) उनके विचार, शिक्षा तथा व्यक्तित्व अभी भी गुप्त तथा विकृत किया जा रहा है।

हम किसी भी व्यक्ति के बारे में राय बनाने के लिए स्वतंत्र हैं। बावजूद इसके, यदि कोई तथ्य पर आधारित ना हो, और न ही जिम्मेदारियों का अनुभव, न्याय तथा पवित्र धारणाओं पर आधारित हो तो यह सकारात्मक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती है। यदि कोई व्यक्ति सत्य के बाद भी उसे समझ नहीं सकता हो, यदि अनेकों धार्मिक साहित्यों के अनंत शास्त्रों में न भटका हो, यदि आध्यात्मक कार्य तथा वैदिक ज्ञान के रास्तों पर आने वाले कठिनाइयों से अवगत ना हो, यदि दयानंद की योगदानों के महत्व को नहीं समझा हो तो पूर्णत: संभावना है कि वह व्यक्ति दयानंद का सही मूल्यांकन करने में असफल रहेगा। अत: उनके सही मूल्यांकन के लिए जरूरी है की कुछ तथ्यों को पुन: वर्णित करें।

नोट

हमें यह जानना चाहिए कि उनके द्वारा जो सत्य की खोज जो कि वेद के अनंत दैविक रहस्य द्वारा हुई है, वही बंधन है जो कि हमें महान व्यक्ति तथा महान राष्ट्र के रूप में जोड़ सकता है तथा हमें आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक मामलों में इच्छानुसार फल देता है। यदि सत्य का मूल्यांकन केवल अंकों तथा रूढ़िवादी रिवाजों उसकी अनुरूपता से करें तो इतनी महान सुधार प्रक्रिया की सफलता की कामना नहीं की जा सकती। हमें अभी भी स्वीकार करना है कि हम गुजरात राज्य के ऋणी हैं जिसने कि अपनी धरती पर इस महान दूरदर्शी को जन्म दिया जो कि अपनी किस्मत से आधुनिक समय के ऋषि बने।

हम दयानंद का आंकलन पौराणिक संप्रदायों और अन्य आयोजित धार्मिक समूहों के मतों द्वारा नहीं कर सकते बल्कि उनके साक्ष्य से जो कि उनकी वैदिक विचार धारा तथा सामाजिक धारणाओं की मौलिकताओं को सिद्ध करने के लिए सामने लाया। वे एक महान मनीषी थे जिन्होंने सत्य को आमने-सामने देखा। वैदिक सत्य को विस्मरणता की आड़ में छिपाया गया जो कि लंबे समय से नजर अंदाज तथा अंधविश्वास द्वारा हुआ। यह उनका गहरा अध्ययन तीव्र बुद्धि थी जिसने कि अंध कारमय परदे को भेदा तथा सत्य की प्रबल भावना के रत्ना को अपने यश तथा कृति में देखा। उन्होंने वेद के सही अनुवाद की कुंजी ढूंढ़ ली। यह समय का सबसे महान आविष्कार है और यदि हम इसके तथ्य को समझे तो यह न केवल हिंदुत्व के जीवन में बल्कि विश्व के इतिहास में एक सार्थक परिणाम पैदा करेगा। तभी संपूर्ण मानवता, वेद तथा भारत द्वारा एक महान धार्मिक आंदोलन पुनर्जागरण देखेगी।

वास्तव में, वेदाध्यन कुप्रचार तथा दुरुपयोग में फंस गया जिसके लिए पन्थिक गुरु जो कि वेदांत के शिक्षक माने जाते हैं, जिम्म्मेदार हैं जिन्होंने अपने आपको अपने ही संकीर्ण मत तथा ''प्रस्थन्त्रयी'' में सीमित रखा जो कि शंकराचार्य द्वारा अनुवादि तथा। उन्होंने वेद संहिता की सही मूल्यों को समझने की कभी भी परवाह नहीं की। यह दयानंद ही थे जिन्होंने यह साफ किया कि उपनिषद् तथा ब्रह्म सूत्र आदि वेद की सत्यता को समझने के लिए बहुमूल्य पुस्तक है, परन्तु यह सत्यार्थ ज्ञान नहीं है। सत्यार्थ ज्ञान केवल चार वेद संहिता है। यद्यपि हमारे वेद के आधुनिक शिक्षक, इस सन्दर्भ में अपनी गलतियों को सुधारने के लिए तैयार नहीं हैं। वे अभी भी व्यवहारिक तौर पर असली वेदों को नजर अंदाज कर रहे हैं। अभी भी वेद संहिताओं के प्रचार के किए कोई प्रामाणिक इच्छा नहीं जताई है। वे समझते हैं कि ये संहिता, अनुष्ठान मात्र की पुस्तक है। हम इसे वेदों की श्रधातौर पर नजरअंदजगी कह सकते हैं। दयानंद कहते हैं कि ये वेदसंहिताज्ञान का केन्द्र है जिनमें कि दर्शनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और आदि सभी वास्तु जो कि मानव जीवन की आपूर्ति के लिए लाभदायक तथ्य शामिल हैं।

उनकी ''ऋग्वेदादि में भास्य भूमिका'' और ऋग्वेद और यजुर्वेद की व्याख्या, उनके दावों को सम्यता प्रमाणिक करते हैं। उपनिषद् और अन्य सत्य वैदिक शास्त्रों के लेखकों के लिए चार मूल वेदसंहिताएं ही आधार पाठयपुस्तकें थीं। श्री राम, श्री कृष्ण तथा वेदव्यास ने भी इन वेदों का आध्ययन किया है। जहां तक कोई भी सभी सत्य सकारात्मक विज्ञान के बीज रूप दर्शाने की बात है वेद संहिता की और भी पुस्तक बराबरी नहीं कर सकती है। दयानंद ने वेदों की वरीयता को इतने स्पष्ट रूप से स्थापित किया तथा विश्वशनीय तरीके से स्थापित किया ताकि आर्य समाज को कोई भी विचारशील तथा बुद्धिजीवी सदस्य यह कहने में कोई संकोच नहीं करेगा कि ''सत्यार्थप्रकाश'' भी वेद के किसी एक यज्ञ से बराबरी नहीं कर सकता है। वेद ईश्वर का ज्ञान है परंतु ''सत्यार्थप्रकाश'' दयानंद द्व

नोट

ारा रचित एक मानव रचना है। विभिन्न ऋषियों द्वारा लिखे गये उपनिषदों के लिए भी यही सत्य है यदि हम वास्तव में सत्य के खोजी हैं तो हमें वैदिक ज्ञान की महत्ता को सर्वोपरि स्थान देना होगा। अत: वेदांत शिक्षकों का वेद संहिताओं के प्रति रवैया समर्थन योग्य नहीं हैं। वे अपनी संप्रदायिक पुस्तकों के साथ खुश हैं तथा उनके लिए ये वेदों से कहीं बड़ी हैं।

दयानंद मानते हैं कि उनकी धारणा यह है कि भगवान और ब्राह्मांड की अन्य सभी वस्तुओं का आधार वेद अन्य सत्य सहायक वैदिक धर्म-ग्रंथों की शिक्षा हैं तथा साधुओं (ब्रह्मम से लेकर जैमिनी तक) के प्रति सुदृढ़ विश्वास है। जहां तक सभी धार्मिक तथा दार्शनिक पुस्तकों की विश्वसनीयता का प्रश्न है, दयानंद ने अपना मत साफ रखा है। उन्होंने ''सत्यार्थप्रकाश'' में लिखा है कि- ''मैं यह मानता हूँ चार वेद ज्ञान तथा धार्मिक सत्य के भंडार हैं ये और शब्द ईश्वर के हैं। वे संहिता मंत्र के अंश मात्र की समीक्षा करते हैं। वे पूर्णरूप से त्रुटि मुक्त, शुद्ध रूप से देवांश तथा अपने आप में एक सत्ता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि उन्हें अपनी सत्ता के आधिपत्य के लिए किसी अन्य पुस्तकों की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि सूर्य (दीपक) अपनी रोशनी से अन्य वस्तुओं जैसे पृथ्वी को भी उजागर करता है अपने आपको और ब्रह्मांड की अन्य वस्तुएं भी जैसे कि पृथ्वी इसी प्रकार वेद भी है। चारों वेदों की उपर व्याख्या, जैसे ब्राह्मणों, छ: अंग, छ: उपनिषद्, चार उपवेद तथा ग्यारह सौ सताइस शाखाओं जो कि ब्रह्मा तथा अन्य महान ऋषियों ने की है' मैं उनका एक आश्रित विशेष पर कार्य करना मानता हूँ। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं वे जहां तक वेदों की शिक्षाओं के अनुरूप है वहां तक वे प्रासंगिक है जो भी लेखांश इस वैदिक भावना का विरोध करता है, मैं उसे पूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूं।''

दयानंद ने अपनी पुस्तकों में सच्चाई के लिये पांच परीक्षण निर्धारित किये है, और सत्यार्थ प्रकाश आदि की तरह उनकी अपनी ही किताबें भी इन पांच परीक्षण के अधीन हैं। ये परीक्षण हैं : (प) प्रकृति, भगवान के गुण और विशेषताएं और वेद की शिक्षाएं (पप) सबूत के आठ प्रकार जिसमें से एक प्रत्यक्ष अनुभूति है (पपप) प्रकृति के कानून का मतलब विज्ञान (पअ) आप तास का अभ्यास करना (अ) अपनी आत्मा का पवित्रता। उन्होंने सलाह दी है हमें कि इन पांच परीक्षणों की मदद से सच्चाई में से त्रुटियों को निकाल देना चाहिए और त्रुटियां निकालकर सच्चाई को स्वीकार करना चाहिये। मुंबई में 1875 में जब उनके अनुयायियों के एक समूह ने एक समाज (आर्य समाज) की स्थापना करने के सुझाव के साथ संपर्क किया, वह उन्होनें अपनी स्थिति बहुत स्पष्ट कर दी। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि वे सिर्फ एक सन्यासी है और एक सच्चाई के उपदेशक और वेदों को अनुयायी है; वह एक स्वतंत्र आदमी नहीं है - एक आदमी! इसके अलावा, उन्होंने कहा कि वह एक सर्वज्ञ (सार्वज्ञा) व्यक्ति नहीं है। उन्होंने उन से कहा कि अगर वे उनके विचारों में कोई गलती पाते हो तो उन्हें प्रमाण की मदद से इसकी जांच कर लेनी चाहिए और तदनुसार सुधार लेना चाहिए। उन्होंने कहा कि विभिन्न विश्वास के लोगों के बीच वेदों की सार्वभौमिक शिक्षाओं पर आध ारित वह एकता चाहते हैं।

दयानंद किसी विशेष संप्रदाय तथा किसी धर्म के खिलाफ नहीं थे। वह ऐसी सभी चीजों के खिलाफ थे जो - उनकी राय में - वेदों के कारण या वास्तविकता के खिलाफ थी। वह अपनी सारी जिंदगी सच्चाई के लिए खड़े रहे। उन्होंने भतृहरि कही बातों का अनुगमन किया : ''सांसारिक वार से किसी एक को प्रशंसा या उसे निंदा हो सकती है; भाग्य उस पर मुस्कान या भ्रूभंग कर सकता है; मौत तुरंत आ जाये या वह युगों तक के लिये हैं, लेकिन एक बुद्धिमान व्यक्ति न्याय की राह से नहीं

नोट

भटकता और पूरी तरह से निडर रहता है। अभय वास्तव में उनकी मानसिकता थी। यही वह कारण था जिससे शत्रुतापूर्ण सम्मेलनों को संबोधित करने में भी सक्षम थे और उन्हें पत्थरों की बारिश का सामना किया। वे अंधविश्वासी धारणाओं और हठधर्मिता सभी लोगों के खिलाफ स्वयं-नियुक्त योद्धा थे। अपनी प्रतिद्धता के कारण वे खतरों की परवाह नहीं करते थे उन्होंने अपने इस सत्य के प्रेम में ना तो राजकुमार को बक्सा और ना ही साधू को। अपनी ईमानदारी तथा सत्य के लिए उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ा। वे ऐसे समय में सामने आये जब देश सदियों पुरानी अज्ञान की पकड़ में ठोस तथा भयावह रूप से धार्मिक और सामंत गुलामी में जकड़ा हुआ था। उन्होंने क्रांतिकारी पुकार लगाई ताकि पुराने तथा सड़े हुए समाज को बर्बाद तथा उखाड़ फेंक कर एक नये गतिशील समाज की स्थापना हो। उनका पक्का विश्वास था कि, ''यहां के विभिन्न धर्मों के फैलने से भारत को महान हानि तथा नुकसान से गुजरना पड़े। अतः सभी अच्छे तथा तार्किक लोग इन धर्मों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए कड़ी मेहनत करें। यदि ये नहीं मिटाए गये तो देश का भला संभव नहीं है। ''उनका जन्म विद्रोही और विश्लेषणात्मक दिमाग के साथ हुआ था जिसमें कि सत्य और स्वतंत्रता के लिए अद्वितीय जुनून था। उनका यह विरोध किसी एक संप्रदाय तथा धर्म के प्रति नहीं था। उन्होंने किसी भी संप्रदाय या धर्म को आंख बंदकर नहीं नकारा था। उनमें से जो आम लोगों के लिए लाभदायक था, उन्होंने पूरे दिल से अपनाया तथा बोले- ''कुछ बातों को छोड़कर, उसमें केवल असत्य है। असत्य की संगति में सत्य कभी भी शुद्ध नहीं बच सकता है। ''उनके लिए विज्ञान या तर्क ही अंतिम प्रमाण है। अतः जो भी इसके विरूद्ध गया उसे स्पष्ट रूप से नकारा। उन्होंने खुले रूप से तथा धार्मिक जुनून और आक्रोश के साथ बुराइयों तथा कुरीतियाँ जो कि धर्म और धर्मग्रंथों में निहित स्वार्थ के कारण है, की निंदा की। कट्टर पंथियों के सारे, सामने तथा अंदर के लोग उन्हें चुप करने के लिए सामने आए। लेकिन उनकी गहरी विद्वता, तीक्ष्ण तर्क, शक्तिशाली प्रतीतिकरन और उपयुक्त प्रहार ने सबके घुटने टिका दिये, काशी में 1869 में मूर्ती पूजा के ऊपर हुए 300 विद्वानों के साथ उनकी महान तथा ऐतिहासिक बहस को याद किया जा सकता है। करीब 50 हजार लोग इस तर्क-वितर्क में भाग लेने के लिए एकत्रित हुए थे।

साथ ही दयानंद अपने साथी स्वामी विर्जानन्द, जो कि वैदिक व्याकरण के एक असामान्य धनी थे, के प्रति वैदिक प्रकाश या ज्ञान के प्रचार तथा देश में प्रचलित अंधकार और विभिन्न वैदिक विरोधी मतों को दूर करने के कर्तव्य से बँधे थे। दयानंद ने लगभग तीन दशकों तक भारत में दूर-दूर तक यात्रा की तथा हर जगह उन्होंने स्वयं सभी प्रकार के गलत तरीके, शोषण करने के तरीके और छल देखा। उन्होंने हजारों संस्कृत की किताबों का अध्ययन किया तथा अपने ज्ञान का भंडार बढ़ाया। ''भ्रांति निवारण'' नाम की एक छोटी सी किताब में उन्होंने कहा है कि सघन अध्ययन और परीक्षा के बाद, वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद से लेकर जेमिनी की पूर्व मीमांसा तक लगभग 3000 किताबें विश्वसनीय हैं और उन्हें स्वीकार्य हैं। उससे कोई भी उनके व्यापक ज्ञान का अंदाजा लगा सकता है। श्री के.एम. मुंशी ने ,जीम ब्तमंजपअम ।तज वि स्पमिज़ में सत्य ही कहा है कि ''दयानंद ने एक इंसान की सोच से भी अधिक सीखा।'' जब दयानंद मंच पर आए तब संसार के लगभग सभी धार्मिक पंथ, समूह और संस्थाएं उनके खिलाफ खड़ी हो गयी। आर्य समाज का प्रारंभ 1875 में हुआ था तथा दयानंद का स्वर्गवास 1883 में हुआ। इन 7-8 वर्ष में एक नया जन्मा समाज अपने अपर्याप्त संसाधनों के कारण मुश्किल से कुछ ही सहयोग कर सका होगा। वे अकेले थे और केवल भगवान ही उनका साथी था। अगर वे अपने विशेष कार्य के लिए सौम्यता से अपना मत रखते और मीठे वचनों का प्रयोग करते, तो उन अंधकार के दिनों में कोई भी उन पर ध्यान

नोट

न देता। साधारण, उदार और भोले भाले ग्रामीणों ने शायद उन पर ज्यादा ध्यान ना केंद्रित करते हुए यह सोचते कि एक स्वामी दयानंद थे जो कि वेदों में विश्वास करते थे। बस इतना ही है। लेकिन दयानंद का उद्देश्य केवल इतना नगण्य योगदान का नहीं था। वे संपूर्ण पटकथा को ही बदल देना चाहते थे। वे सत्य के मंच पर मानव एकता का निर्माण करना चाहते थे। काफी विचार करने के उपरांत उन्होंने सुधार प्रक्रिया और अपने प्रचार के तरीके के लिए उस समय की परिस्थितियों और मजबूरी के अनुसार अपनी योजना की रूप रेखा तैयार की। वे बहुत ही उत्साही परिवर्तन शील तथा तेजस्वी थे और उनका दृढ़विश्वास था कि राष्ट्र के पुनर्जीवन और सुधार प्रक्रिया को हम निष्क्रिय मनोदशा, शक्तिहीनता, सहन करने की प्रवृत्ति या नरम नीति के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते हैं। उसका दृढ़विश्वास और उद्देश्य के प्रति इमानदारी ने उन्हें प्रभावशाली और महत्वपूर्ण बनाया। बावजूद इसके वे हिंसक और उत्तेजक प्रवृत्ति के नहीं थे, वे एक योगी और धार्मिक व्यक्ति थे। हमें उस समय देश में उनके विरुद्ध कार्य करने वाली शक्तियों उनमें सुनियोजित धर्मों तथा व्यक्तित्व केंद्रित पन्तों में की मनोवृत्ति के बारे में भी परीक्षण करना चाहिए। इन विरोधी तत्वों को प्रभावित करने के लिए दयानंद ने एक संघर्षकारी की तरह कार्य करना चुना। हालांकि वे ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो सुविधा के लिए अपने दृढ़विश्वास को बदले। वे केवल सत्य के उपदेशक नहीं थे, वे धर्म में पूंजीवाद के खिलाफ एक सफल संघर्षशील पुरुष थे। शिक्षा और प्राचीन वैदिक विचारों में सत्य के उपदेशों पर प्रकाश डालना उनके द्वारा स्वीकार्य उद्देश्य था। उनका ऐसा विश्वास था कि उनका इरादा सभी वैदिक विरोधियों के मनों और प्रयासों का सशक्त, प्रत्यक्ष और कठोर खंडन ही एक मात्र संभव लघु मार्ग है। उन्होंने अनादि सत्य की आधारशिला के लिए केवल गन्दगी को नष्ट किया है।

वेद हमें ये भी सिखाते हैं कि दुष्ट और पापी ताकतों के साथ कोई समझौता नहीं होना चाहिए। वेद पापियों के साथ के लड़ाई में कभी समझौता नहीं करते हैं। यह उनकी भव्य सफलता का गूढ़ रहस्य था। एक फ्रांसीसी विद्धान रोमेन रोलॅड ने यह सत्य स्वीकार किया है कि दयानंद बहुत ही सफल थे तथा पाँच वर्षों के भीतर उत्तर भारत पूर्णतया बदल दिया गया था।

वास्तव में, दयानंद हमें वास्तविक वेदों, आर्य साहित्य और संस्कृत पढ़ाना तथा प्रचारित करना चाहते थे। वे हमें दैनिक रूप से वैदिक योग का प्रयोग, जैसे कि पतंजलि तथा अन्य वैदिक ऋषियों द्वारा उल्लेख किया गया है भगवान का बोध कराना चाहते थे। वे हमें देवों की प्रार्थना गायत्री मंत्र तथा अन्य वैदिक पद्यों द्वारा करवाना चाहते थे। वे चाहते थे की हम जाने कि संपूर्ण संरचना के लिए एक ही भगवान है और वह सभी आत्माओं के लिए सर्वमान्य है।

वह हमें समझाना चाहते थे कि ओम सर्वोच्च ईश्वर का नाम है जिसका हृदय से उच्चारण उसके संपूर्ण अर्थ तथा पूर्ण समर्पित भाव से करना चाहिए। वे हमें बोध कराना चाहते थे कि कोई भी मानवीय वस्तु चाहे वह कितनी ही महान हो, या भगवान ही हो, इतिहास के महापुरुष जैसे राम, कृष्ण आदि को भी भगवान के रूप में न पूजा जाए, बजाय इसके हमें इंसानियत के इतने महान पुत्रों के जीवन से प्रेरित होकर महत्वपूर्ण पाठ सीखना चाहिए। वे हमें समझाना चाहते थे कि पत्थर तथा धातु कि बनी मूर्तियों की पूजा नहीं करनी चाहिए, केवल भगवान को पूजना चाहिए, केवल भगवान के बारे में विचार करना चाहिए। मूर्तियाँ केवल मूर्तियाँ ही हैं, वे ईश्वर नहीं है, कुछ भी जो दिखाई देता है ईश्वर नहीं हो सकता हैं। वे चाहते थे कि हम वेदों के दर्शनशास्त्र को सही अर्थ समझें, तीन बुनियादी मौलिक और अनंत संस्थाओं के दर्शन : ईश्वर, आत्मा और तत्व या प्रकृति जैसा कि 6 दर्शनशास्त्रों में विवरण किया गया हैं। वे हमें समझाना चाहते थे कि संस्कृत में लिखा

नोट

हुआ सभी कुछ सत्य नहीं हैं, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कुछ भी घटित नहीं होता। वे प्राचीन गुरुकुल शिक्षा, यज्ञ, वेद स्वाध्याय, पाँच महायज्ञ और संस्कारों को पुनर्जीवित करना चाहते थे। वे हमें अनंत तथा सर्वालौकिक वैदिक सत्यों तथा नैतिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए एक जुट करना चाहते थे। वह चाहते थे कि हम पुराने राष्ट्र गौरव के निर्माण के लिए कार्य करें। ऐसे प्रायोजनों के लिए वे सभी प्रकार की बुराईयों के विरुद्ध लड़े। फिर हम कैसे यह विश्वास कर सकते हैं कि उन्होंने हमें भ्रमित किया। बल्कि उन्होंने हमें सत्यता के प्रति जागृत किया है। उनके इस उद्देश्य ने अनेकों राष्ट्रनायकों जैसे कि स्वामी श्रद्धानंद, लाला लाजपत राय, शाम जी कृष्ण वर्मा, भाई परमानंद, राम प्रसाद बिस्मिल, सरदार अजीत सिंह, महात्मा देसराज राम भाज दत्त चौधरी, पंड़ित गुरुदत्त विद्यार्थी पंड़ित लेखहराम आदि उत्पन्न को हैं।

इसी तरह यह कहना कि दयानंद ने वेदों का अपहरण कर लिया है, सही नहीं होगा। उनका वेदों के अध्ययन के क्षेत्र में जो अग्रणी योगदान है वह इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में दर्ज हैं। सर्वव्यापी, निराकार ईश्वर की पूजा करने की व्याख्या करने को वेदों का अपहरण नहीं कह सकते हैं। लिखित साक्ष्यों के अनुसार वेदों का धर्म शुद्ध एवं सादा है और एक ईश्वरवाद वेदों का अपहरण नहीं है। यह दर्शाना है कि वेदों में मूर्ति पूजा, अवतारों, राम और कृष्ण और वेदांत आदि का कहीं वर्णन नहीं हैं, वेदों का अपहरण नहीं हैं। वैदिक रिवाजों और सभ्यता की प्रकृति के बारे में एक नयी संभावनाओं की तलाश वेदों का अपहरण नहीं हैं।

पौराणिक कहानियों की गिट्टी से इस दिव्य रहस्योद्घाटन को आजाद कराने के लिए, और महर्षि यस्क द्वारा लिखी गयी निरूक्त और निघॅटू के आधार पर भाषा विज्ञान-संबंधी और व्युत्पत्तिशास्त्र सिद्धांतों पर सबसे अधिक वैज्ञानिक तरीके से इसे व्याख्या करना वेदों को अपहरण करना नहीं है। सीधे मूल श्रोत जानने के लिए पूरी मानवता को आह्वाह्न करना, भगवान उनकी रचना में कैसे प्रगट होते हैं यह जानना वेदों को अपहरण करना नहीं है। प्रस्ताव करना कि वेदों में तीन मौलिक संस्थाएँ है जैसे की भगवान, आत्मा और प्रकृति (ब्रह्मांड के मूल कारण); और हमारे छः दर्शन शास्त्र जो एक दूसरे के पूरक हैं प्रत्येक वेद की सर्वोच्चता को स्वीकार करना और वास्तविकता का एक खास पहलू पेश करना वेदों को अपहरण करना नहीं है।

वेदों की शिक्षा उदात्त हैं (ब्रह्मांड और प्राकृतिक) इसे सबसे ठोस सबूत के साथ स्थापित करने के लिए और कोई इंसान, इंसान और उसके भगवान के बीच में नहीं आता और सत्य और केवल सत्य ही वेदों में लाया गया है, इसे बताना वेदों को अपहरण करना नहीं है।

यह साबित करने के लिए कि वेदों में मानव इतिहास का कोई ब्यौरा नहीं है और किसी भी विशिष्ट देश, राजा, नदी आदि के नाम का कोई जिक्र नहीं किया है वेदों का अपहरण नहीं है। यह दर्शाने के लिए कि वेद संपूर्ण मानव जाति के लिए खुला है, बिना जाति, धर्म, लिंग तथा राष्ट्रीयता आदि के कोई भेदभाव वेदों का अपहरण नहीं है। इसे दर्शाने तथा निष्पादित करने के लिए महीधर, सयाना, उभट्ट, मॅक्समुलर, ग्रिफित आदि ने वेदों के समझने के लिए मौलिक गलतियाँ की है तथा बहुत सारे यूरोपीय विद्वानों ने जान बूझकर गलत व्याख्या की है, वेदों का अपहरण नहीं करता है। इसे कहने के लिए वेद में चार प्रकार के वर्ण होते हैं जो कि किसी व्यक्ति के गुण तथा उपलब्धियों पर आधारित है ना कि उसके जन्म पर, यह वेदों को अपहरित नहीं करता है।

अतः यह कहना अनिवार्य होगा कि बिना कोई पर्याप्त दूरदर्शिता, प्रभेद तथा ऐतिहासिक सूचना के दयानंद की आलोचना करने से पहले उनके बारे में इन तथ्यों पर ध्यान देना पड़ेगा। अतः इन सबों

नोट

को आधार मानकर ही उनके बारे में कुछ कहें। आँख बंद करके पहले दयानन्द के पवित्र उद्देश्यों की प्रशंसा की जाये तथा इसके बाद उनके कार्यों तथा विचारों का मूल्यांकन किया जाये। श्री अरविंदो तथा डॉ. एस. राधा कृष्णन ने दयानंद के व्यक्तित्व तथा उनके योगदान को अपने निम्न विचारों द्व ारा यह व्यक्त किया है कि जो कि हमें निश्चय ही एक नयी अंतर दृष्टि दयानंद को आँकने के लिए प्रदान करेंगे–

1. दयानंद के कार्य करने का तरीका बहुत ही भिन्न था। उन्होंने अपने आपको अनौपचारिक रूप से चीजों को अनिश्चितता में नहीं डाला परंतु अपने अस्तित्व को मानव तथा वस्तुओं पर तांबे पर छपी अमिट निशान की तरह छोड़ा। उन्होंने अपने निर्माता की छवि औपचारिक रूप से बच्चों की तरह बना रखता था, जैसे कि आध्यात्मिक शरीर, निष्पक्ष तथा मजबूत और जीवन शक्तियुक्त। यह, वे थे जो निश्चित तथा स्पष्ट रूप से जानते थे कि उसे किस कार्य के लिए भेजा गया है, अपनी चीजों के चुनाव तथा अपनी अवस्था को प्रभुत्व तथा अलौकिक दृष्टि द्वारा सुनिश्चित किया तथा अपनी धारणाओं को एक अवतरित कार्यकर्ता के रूप में बहुत ही महारथ के साथ निष्पादित किया। यदि मैं भगवान की कार्यशाला में इस दुर्जेय कारीगर की छवि के संबंध में बोलूं तो मेरे सामने छवियों की भीड़ उमड़ पड़ती है जोकि सारे यद्ध और कार्य आदि विजय या विजयी श्रम है। यहाँ मैं अपने आप से कहता हूँ कि, मैं एक रोशनी का सिपाही हूँ, ईश्वर की दुनिया में एक योद्धा हूँ, मानव तथा संस्थानों का एक मूर्तिकार हूँ, समस्याओं के ऊपर एक साहसी तथा अजेय विजेता जोकि अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। और आध्यात्मिक व्यवहारिकता के शक्तिशाली प्रभाव का पूरा योग मेरे उपर ही निर्भर था। दयानंद की परिभाषा मेरे लिए तो इस दो शब्दों का संयोजन है जोकि आमतौर पर हमारी धारणाओं के अनुसार एक दूसरे से काफी अलग है। यदि हम उनके कार्यों को छोड़ भी दें तथा उनके वास्तविक कार्य को भी गिनती खत्म कर दें तो भी उन्होंने लगन से जो कार्य किये उनके कारण वे महान संस्थापकों की श्रेणी में आते हैं उन्होंने वे पुराने आर्य तत्व को पुनः राष्ट्र चरित्र के रूप में वापस लाये। यह तत्व हमें दूसरे से भिन्न करता है तथा मेरी दृष्टि में यही पहले का रहस्य है। हम दूसरे लोगों के प्रभाव की धारा में रहते हैं, हम इन्हें आज्ञा देते हैं कि वे हमारे अंदर आए और हममें ढ़ालें, कुछ आकारबद्ध किए गये हैं तथा जो बच गये हैं उन्हें प्रभाव की धारा में पुनः डाला जाता है। हम लोग अपने रास्ते पर सुनिश्चित नहीं हैं, अतः हम अपने आप को परिस्थिति तथा वातावरण के अनुसार ढ़ाल लेते हैं।

2. हम लोग वास्तव में लचीले तथा अवसरवादी हैं यहाँ तक कि आतंकवादी और दुराग्राही होने पर भी है। दयानंद ने अपने आप में आए हुए इन सभी चीजों को रोका, खुद इनका आयोजन किया तथा अभिमानपूर्वक इसे आकार प्रदान किया जोकि इनके नजर में सही था तथा बाद में फिर बाहर लाये जोकि उनके नजर में ठीक था। अतः जो वस्तु उनके अंदर उग्रवाद तथा आक्रामकता को बढ़ावा देती है वह उनकी आत्म परिभाषा की शक्ति का एक अंश है।'' श्री अरोविंदो (स्रोत : बॅकिम-तिलक-दयानंद)

दयानन्द के राजनैतिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती उन प्रभावशाली चिंतकों में से एक थे जो अपने सामाजिक विचारों की सूत्रबद्ध करने के लिए पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर करते थे। उनके सोच-विचार का मुख्य अभिप्राय यह था कि भारतवासियों के लिए "वैदिक विचारों की ओर प्रत्यावर्त्तन आवश्यक है।" जब दयानंद आपने विचार एवं चिंतन को सूत्रबद्ध कर रहे थे, तब हिंदू धर्म पतन का शिकार बन चुका था। वह

नोट

ऐसा युग था जब ब्रिटिश शासन स्वयं को भारत में सुदृढ़ बना रहा था। इसलिए उनका आधारभूत प्रयास था वैदिक पुनरुत्थान, हेतुवाद और पर्याप्त रूप से समकालीन महत्व के सामाजिक सुधार के तीन लक्ष्यों की प्राप्ति। वे पश्चिमी विश्व और इस्लाम के गंभीर आलोचक थे। पाश्चात्य विचारों और रुझानों के माध्यम से आधुनिकीकरण के पक्षधर व्यक्तियों के भी उतने ही कटु आलोचक थे। दयानंद के अनुसार भारत के सामने उपस्थित समस्याएं और उनके समाधान दर्शन, राजनीति और समाज के स्तरों पर थे। उनके विचार में, भारतीय जनमानस में आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की चेतना भरना आवश्यक था।

पहले हम उनके चिंतन के केंद्रीय भाग पर विचार करेंगे। उनके चिंतन के केंद्र में वेदों की ओर उनका रुझान आता है, जिन्हें वे समस्त मानवीय ज्ञान और मनीषा का कोष मानते थे। उन्होंने वेदों के निम्नांकित पहलुओं पर प्रकाश डाला।

1. दैवीय विधान के प्रति आज्ञाकारिता से व्यक्ति सीधे ईश्वर से संवाद कर सकता है। वह अन्य विधानों के अनुपालन के लिए भी स्वतंत्र है, जहां तक कि वे दैवीय विधान के अनुरूप हैं। दयानंद का सोचना था कि इस विषय पर अपने दृष्टिकोण की परीक्षा और समीक्षा के माध्यम से इसके बाद ही उसे त्रुटियों का बोध होगा और इस प्रकार ऐसे कालगत विधाानों से अपने को अलग करने में जो अनुपालने के योग्य नही है, और उन विधानों के विपरीत संगठित होने में समर्थ होगा।
2. कोई व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है, जिस तक कि उसके साथी हैं।
3. सामाजिक संरचना में उनकी प्रकार्य स्थितियों के बावजूद वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता के उपभोग का प्रावधान है।

दयानंद के अनुसार, भारत अपनी विगत गरिमा वर्तमान सामाजिक कमजोरियों पर विजय से ही प्राप्त कर सकता है। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि भारतीय संस्कृति की समृद्ध बिरासत के बावजूद हिंदू पाश्चात्य सभ्यता की नकल कर रहे हैं, जो उन्हें पतन की ओर ले जा रही है। अपने विचार को उचित ठहराने के लिए उन्होंने बल दिया कि वैदिक काल में भारत सभ्यता का ऐसा स्तर प्राप्त कर चुका था जो पश्चिम के लिए सदियों बाद ही संभव हुआ।

उन्होंने सुझाव दिया कि जो लोग इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभावों के अधीन धर्म परिवर्तन कर चुके हैं, उन्हें हिंदू धर्म में वापस लिया जाना चाहिए। उनके अनुसार, शुद्धीकरण के माध्यम से यह संभव है और यह एकीकरण इसीलिए भी आवश्यक है कि वेदों की स्वीकृति के लिए उन्हें प्रेरित करके देश के लिए सशक्त और आत्मनिर्भर आधार बनाया जा सकेगा। सांस्कृतिक समरूपता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने हिंदी को प्रोत्साहित किया। हिन्दी भाषा के द्वारा उपरोक्त एकीकरण प्राप्त होने पर ही भारत विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने में समर्थ होगा।

राष्ट्रीय प्रगति के लिये एक सबसे बड़ा अवरोध हिन्दू समाज के अंदर से ही उभरा। उच्च जातीय हिन्दुओं के एक तबके ने वर्ण-व्यवस्था में अपने अनुकूल परिवर्तन किए। इसके फलस्वरूप योग्यता का स्थान पर जन्म इस व्यवस्था का आधार बन गया। जिसने असमानता और उच्च जाति के सामने निम्नतर पेशेवर समूहों (जातियों) की अधीनस्थता को बल मिला। ब्राहमण किसी भी प्रकार की चुनौती अथवा प्रश्नों से परे समाज के मालिक बन गये और शूद्र दयनीय स्थिति में ठेल दिए गए। हिन्दू समाज मूर्ति पूजा, जातिवाद, बाल विवाह और बहुदेववाद के आपत्तिकृत विविध कर्मकाडों,

नोट

समारोहों, अंधविश्वासों की चपेट में आ गया। जड़ताग्रस्त समाज के अंतर्गत व्यक्ति आध्यात्मिकता से अलग-थलग जा पड़े।

इसलिए दयानंद ने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांतों की ओर लौटने की अभिशंसा की, जिसके अंतर्गत जन्म किसी जातीय स्थिति का आधार नहीं होगा। गुण, कर्म और स्वभाव जातीय आधार होंगे। उनके विचारानुसार इस सुधरे रूप में जाति सामाजिक पुनर्गठन का पथ प्रशस्त कर सकती है। इस प्रकार जाति की उनकी अवधारणा कुछ हद तक धर्मनिरपेक्ष प्रभावों के अंतर्गत थी। स्वभावता इसने वंशानुगत उच्चतर जातियों के प्रभुत्व को व्यापक चुनौती दी और उत्पीड़ित एवं अश्पृश्य समूहों के स्तर को उठाया। उन्होंने अस्पृश्यता को अमानवीय और वैदिक धर्म के विपरीत बनाते हुए उसकी भर्त्सना की। उनकी व्यवस्था के अनुसार कोई भी शुद्ध स्वच्छता, चरित्र निर्माण और परिवेश सुधार के माध्यम से द्विज की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

महिला समाज, शिक्षा और लोकतंत्र

महिला समस्याओं के संदर्भ में, दयानंद बाल विवाह और विधवा बाध्यता की कुप्रथाओं के विरुद्ध थे, जो उनके अनुसार वेद सम्मत नहीं थी। पुनर्विवाह की वर्जना वाले हिन्दू समाज के अंतर्गत बाल-विध वाओं की दयनीय स्थिति को लेकर उन्हें गहरी चिंता थी। इसीलिए उन्होंन "नियोग" (विधुरों और विधवाओं के अस्थायी सह-जीवन) और बाद में विधवा-पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया।

आर्यावर्त (भारत) के सुख शांति के उद्देश्य से दयानन्द ने अपने विश्व दृष्टिकोण में शिक्षा को केंद्रीय स्थान दिया। दयानन्द स्त्री पुरूषों के सभी चार वर्गों के लिये नैतिकता एक धार्मिकता पर आधारित अभियोजित शिक्षा ही दयानंद चाहते थे। इस शिक्षा का भार उनके अनुसार, राजा/राज्य को उठाना चाहिए। भारत का पुनर्जागरण इसी पर निर्भर करता है। वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे जिसमें व्याकरण, दर्शन, वेद, विज्ञान, चिकित्सा, संगीत और कला के अध्ययन पर जोर दिया जाता है।

दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन की दो केंद्रीय अवधारणाएं हैं जो कुछ-कुछ परस्पर विरोधी हैं।

पहली अवधारणा है "प्रबुद्ध राजतंत्र" संबंधी जो मनुस्तृति से ली गई है, जो राजतंत्र द्वारा धर्मानुदशों के अनुपालन पर आधारित है। दूसरी कुछ-कुछ अंतर्विरोधी अवधारणा निर्वाचित प्रतिनिधित्व अथवा लोकतंत्र की है, यद्यपि दयानंद के बिचार से यह सचमुच कोई अंतर्विरोध नहीं हैं क्योंकि वेदों में भी सभाओं तथा सम्राटों के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। निर्वाचन सिद्धांत पर बल देते हुए वे सम्राट की व्याख्या स्थाई सभा के अध्यक्ष के रूप में करते हैं। इसके अलावा, उनके बिचार से राजनीति को नैतिकता से अलग नही किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने "आध्यात्मिक नेतृत्व द्व ारा राजनीतिक नेतृत्व" के मार्ग दर्शन के पक्ष में सशक्त तर्क दिए।

दयानंद ने अपने जनतांत्रिक निर्वाचन सिद्धांतों का अनुप्रयोग आर्य समाज के प्रकार्यो तथा सांगठनिक ढांचे में भी किया। वे एक ऐसे राजनीतिक समुच्चय की परिकल्पना करते थे जिसका एक विकेंद्रित स्वरूप हो, व्यापक "कामन वेल्थ" जिसकी इकाई गांव हो।

1875 में स्थापित आर्य समाज ने विशेषकर उत्तर भारत में, स्वतंत्रता सेनानियों की एक समूची पीढ़ी का निर्माण किया। इसके दस महत्वपूर्ण सिद्धांतों में से कुछ निम्नलिखित है।

1. ईश्वर ही शुद्ध ज्ञान का स्त्रोत है।
2. सच्चे ज्ञान के संरक्षक के रूप में वेदों तथा आर्य समाज के अनुयायियों के बीच संबंध अट्ट हैं। उन्हें वेदों की अंतर्वस्तु को अपनाना और जन समुदाय में प्रचारित करना चाहिए।

3. किसी भी कार्य को नीतिगत औचित्य अनिवार्य है।
4. आर्य समाज सभी दृष्टियों से विश्व मुक्ति के विचार को समर्पित है।
5. ज्ञान की रश्मियां अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकती है।
6. व्यक्ति को दूसरों के लिए भी पर्याप्त साधन छोड़ने चाहिए। उनका कल्याण सहकर्मियों के सामूहिक विश्वास से जोड़कर देखा जा सकता हैं।

नोट

3.5 स्वामी विवेकानन्द के राजनैतिक विचार

एक सही और राजस्वी रूप में नेतृत्व क्षमता, विस्तृत विद्वता और गहरी आत्म दृष्टि के साथ स्वामी विवेकानंद ने मात्र 30 वर्ष की उम्र में विश्व धर्म संस्था में हलचल मचा दी जो 1893 में शिकागो में आयोजित हुई थी। साढ़े तीन वर्ष बाद जब वे अपने देश लौटे तो वह शक्ति, साहस, आत्मविश्वास, प्रेम और पौरुष के प्रकांड व्यक्ति थे– व्यक्ति निर्माण और चरित्र निर्माण शिक्षा के प्रसार के मूर्त रूप थे।

स्वामी विवेकानंद का जन्म नरेंद्रनाथ दत्त के रूप में 12 जनवरी 1863 में कलकत्ता के एक सम्मानित मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता विश्वनाथ दत्त, एक वकील, कला और साहित्य के प्रेमी थे। धार्मिक अभ्यास से वह नास्तिक थे। दूसरी ओर नरेन्द्र की माँ भुवनेश्वरी देवी एक, धर्म परायण और सौम्य हृदय स्त्री थी, जो हिंदू परंपराओं के प्रति समर्पित थी। नरेंद्र पर उनको माता पिता का अलग अलग प्रभाव था फिर भी उन्होंने उस बहुमूल्य बालक को एक सौहार्दपूर्ण वातावरण दिया ताकि उसका विकास एक जिसे ऊर्जावान व्यक्ति के रूप में हो जिसके आदर्श उच्च हो।

अपने प्रारंभिक वर्षों के दौरान उन्होंने अपने में असाधारण मानसिक योग्यता का विकसित की जिन्हें कुछ लोगों ने या तो गलत समझा या नजर अंदाज किया, लेकिन अन्य ने इसे सराहा और उन्हें एक उत्कृष्ठ व्यक्ति के संकेत के रूप में लिया। एक बच्चे के रूप में वे समाधि जैसे खेल को पसंद करते थे तथा आसानी से ध्यानमग्न हो जाते थे। एक बार की बात है जब नरेन्द्र अपने कुछ साथियों के साथ समाधि में बैठे थे तभी वहाँ एक सर्प फर्श पर रेंगता हुआ आया जिससे कि केवल नरेंद्र को छोड़कर सारे बच्चे कक्ष के बाहर भाग गये जो कि अपने समाधि में लीन रहा।

अपना ध्यान दूसरी सभी वस्तुओं से हटाकर किसी एक वास्तु पर स्थिर करने की नरेंद्र की एकाग्रता शक्ति उल्लेखनीय था- अपने बाद के जीवन में उन्होंने एक बार अचूक निशाना लगाया, जब बारह अंडों के छिल्के पर एक के बाद एक अचूक निशान लगाया जो नदी में तैर रहे थे, जबकि उन्होंने इसके पहले बंदूक नहीं चलाई थी। उनका आत्मसंयम भी कम अद्‌भुत नहीं था। वे हमेशा शांत तथा अक्षुब्ध रहते थे, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि वे किस नाटकीय अवस्था में है।

बचपन से ही नरेंद्र के मन में सन्यासियों के प्रति सम्मान था और वे सोचते थे कि वे भी एक दिन सन्यासी बनेंगे। पर उनकी यह इच्छा उनके कालेज के दौरान स्कॉटिश चर्च कालेज में प्रकट हुई, उन्होंने विद्वानों और आध्यात्मिक नेताओं को ढूँढना शुरू किया ताकि वे उनसे सवाल पूछ सके, पर उनमें से किसी ने भी उनको संतुष्ट नहीं किया। उन्होंने विलियम हास्ती जो उनके प्राध्यापक थे, के माध्यम से सर्वप्रथम राम कृष्ण परमहंस के बारे में सुना, जो दक्षिणेश्वर के संत थे। श्री रामकृष्ण नवंबर 1881 में हुई। उनकी मुलाकात जो उनके जीवन का एक नया मोड़ था। इस मुलाकात पर नरेंद्र नाथ ने कहा।

नोट

वे (श्री राम कृष्ण) एक बहुत ही साधारण व्यक्ति प्रतीत हुए, जिनमें कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था। वे बहुत ही सरल भाषा का प्रयोग करते थे और मैंने सोचा कि क्या यह व्यक्ति एक महान शिक्षक हो सकता है? मैं उनके समीप गया और वे सारे प्रश्न पूछे जिनको मैंने जीवन भर दूसरों से पूछता रहा। क्या आप भगवान में विश्वास करते हैं श्रीमान? ''हाँ'' उन्होंने कहा। क्या आप इसे साबित कर सकते हैं श्रीमान? हाँ। कैसे? क्योंकि मैं उनको उसी तरह देखता हूँ जैसे में तुमको यहां देख रहा हूँ, एक तीव्र रूप में। इस बात ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैंने उस व्यक्ति के पास दिन-ब-दिन जाना शुरू किया और मैंने अधिक सघन अर्थ में जाना कि धर्म दिया जा सकता है। एक स्पर्श, एक नजर एक पूरे जीवन को बदल सकते हैं।

रामकृष्ण का जीवन आध्यात्मिक अनुभव और उपलब्धि से भरा था। उन्होंने कुछ सत्यों की खोज की जिनका महान सामाजिक महत्व था। बाद वाले भाग के लिए राम कृष्ण कहते हैं -

मैंने विभिन्न धर्मों का अभ्यास किया है- हिंदुत्व, इस्लाम, ईसाई - और मैंने विभिन्न मार्गों का अनुसरण किया है। मैंने यह पाया कि यह एक ही ईश्वर है, जिसकी तरफ सब कदम बढ़ाते हैं। पर मार्ग बस अलग होते हैं (गॉस्पेल 35)।

श्री रामकृष्ण ने नरेंद्र और कुछ समर्पित शिष्यों का मार्ग दर्शन दिया। और गुरू ने नरेंद्र को इनका नेता चुना। गुरू जी की मृत्यु के पश्चात सारे युवा श्रद्धालु एक जीर्ण घर में एकत्रित हुए जो बरानागोर में था, जो कोलकत्ता के उत्तरी भाग में था। यह जगह रामकृष्ण उपनियम की प्रथम केंद्र बनी। भौतिक वस्तुओं को संपूर्ण त्याग और गुरू और उनकी शिक्षा के प्रति अडीग समर्पण के साथ उन्होंने अकल्पनीय कठिनाइयों को सहकर अध्यात्मिक अभ्यास के प्रति श्रद्धा रखी।

संपूर्ण भारत का भ्रमण अधिकतर पैदल करके नरेंद्र अपने जीवन के लिए एक उद्देश्य ढूँढ़ने में लगे रहे। भ्रमण के दौरान उन्होंने कई बार भूखा रहना पड़ा और कई बार उनको रहने की जगह भी नहीं मिली। नरेन्द्र के पास भारत और इसकी आवश्यकताओं का मौके पर जाकर अध्ययन करने का यह एक मौका था उन्होंने ध्यान दिया कि इस देश के पास अमूल्य आध्यात्मिक धरोहरें हैं पर यह इनका लाभ उठाने में विफल रहा है। कमजोर बिंदु मुख्य रूप से थे- गरीबी, जाति, जनता की उपेक्षा, महिला उत्पीड़न और गलत शिक्षा प्रणाली। भारत का पुनरूद्धार कैसे हो? इसके लिये वे निम्न निश्चय पर पहुंचे।

हमें देश को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देना होगा और जनता को जागृत करना होगा।..... फिर से जागृति लाने के लिए दबाव अंदर से ही लाना पड़ेगा।

नरेंद्र नाथ इस समय तक स्वामी विवेकानंद बन चुके थे। और उन्होंने अपने जीवन के लिए उद्देश्य खोज लिया था। उनके जीवन के प्रारम्भिक रूप के बृहद दर्शन से हमें पता चला है कि चार चीजों ने उनके व्यक्तित्व और दर्शन का निर्माण किया :

1. भारत तब अँग्रेज शासन के अधीन था और अपने सांस्कृतिक जीवन में क्रांति का अनुभव कर रहा था। अँग्रेजी राज ने भारत को विश्व समुदाय में स्थान दिलाया और अँग्रेजी शिक्षा और आधुनिकता ने नयी उम्मीद जगाई। तथापि, असली परिणाम पर प्रतिक्रिया करते हुए विवेकानंद ने कहा ''कुछ आधुनिकीकृत अर्धशिक्षित, गैर राष्ट्रवादी लोग आधुनिक भारत को दर्शाते हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।'' अपने यौवन में नरेंद्र विकासवाद, हर्बर्ट स्पेनसर के विकासवाद से प्रभावित हुए और उन्होंने स्पेन्सर की शिक्षा पर पुस्तक को अपने प्रकाशक के लिय बंगला में अनुदित किया।

नोट

यह भी कहा जाता है की नरेंद्र कुछ समय तक हर्बर्ट स्पेन्सर से पत्राचार किया था। परंतु स्पेन्सर तथा अन्य पश्चिमी दार्शनिकों का अध्ययन करने के साथ-साथ वे भारतीय संस्कृत शास्त्र में तल्लीन हो गये थे।

2. श्री रामकृष्ण, दक्षिणेश्वर के संत, का उनके समकालीन विद्धानों जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया था पर गहरा प्रभाव था। वे व्यवहारिक रूप से अनपढ़ थे और देहाती बोली बोलते थे। फिर भी उनकी अध्यात्मिक गहराई और शिक्षा की शक्तियों ने कई महान बौद्धिकों जैसे फ्रेडरिक माक्स म्यूलर को प्रभावित किया। स्वामी विवेकानन्द के अनुमान, इनके गुरू ने बौद्धिक, भावुक, मूल्यों और आध्यात्मिक तत्वों के बीच सामंजस्य बनाने में समर्थ हुए और वे भविष्य के आदर्श थे।
3. स्वामी विवेकानंद के परिवार ने एक मजबूत नैतिक और सांस्कृतिक नींव की समापना की थी। उनके जीवन महान पालन के कारण उनका स्वाद उदार और दिलचस्पी व्यापक थी।
4. स्वामी विवेकानंद के परिवार ने भी उनके जीवन के लिए एक मजबूत नैतिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान किया गया। वास्तव में ज्ञान के लिए अपने युवा जीवन में उन्होंने जो इच्छा प्राप्त की, कहा जाना चाहिए वह उन्होंने बाद में जहाँ भी भारत और पश्चिम में वह थे वहाँ से एकत्र की।
5. यह भी समान रूप से महत्वपूर्ण है, तो यदि के देशभर में अपनी यात्रा के दौरान एकत्र किये गये अपने अनुभवों के आधार पर स्वामी जी को भारत का ज्ञान था। उनकी तीर्थ यात्रा ने उन्हें बदल दिया था। वे मानवता के सच्चे प्रेमी बन गये। और 'सर्वभूताय हिते रत:' लगभग के गुण से संपन्न हो गये। (सभी प्राणियों के कल्याण के लिए समर्पित होने के लिए)।

इसी समय जब विवेकानंद ने अपना भारत भ्रमण समाप्त किया। उनसे विश्वधर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए कहा गया जो उस साल (1893) शिकागो में होना था। विवेकानंद ने महसूस किया कि यह अपने देश के लिए कुछ करने के लिए उन्हें सही अवसर दे सकता है, इसलिए वे जाने के लिए सहमत हो गये।

जब धर्म संसद शुरू हुई सितंबर 1893 में तो विवेकानंद एक सन्यासी बन गये। जहाँ दूसरे प्रतिनिधियों ने सिर्फ धर्म और विश्वास के बारे में बात किया वही विवेकानंद ने सारे ईश्वरों के बारे में और हर विश्वास के श्रोत और सार की बात कही। उनके धार्मिक सद्भाव के आह्वान और सारे धर्मों की स्वीकार्यता ने उनको बड़ी प्रसिद्धी दिलाई। संसद की समाप्ति के पश्चात् व्याख्यायन देने के लिए मध्य पूर्व और यूएसए के पूर्वी तट के भ्रमण पर निकल गये। लोग उनको सुनने के लिए दूर-दूर से बड़ी संख्या में लोग आते थे, खासतौर पर भौतिक व्यक्ति, जिससे उनके गुरुद्वारा किया गया अनुमान सही साबित हुआ की वह ''विश्व गुरु बन गये।''

विवेकानंद के यूनाइटेड स्टेट्स के दौरे ने भारत पर भी सशक्त, प्रभाव डाला था। इसके पहले पश्चिम में गये भारतीय अपने देश की स्थिति के लिये माफी मांगते थे पर विवेकानन्द ऐसे नहीं थे, वे हमेशा अपने देश के बारे में गर्व, और सम्मान के साथ बात करते थे। इसलिए उनके द्वारा किए गये कार्यों ने भारतीयों के मन में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को बढ़ाया और अपनी पहचान ढूँढ़ने में मदद की उन्होंने पश्चिम के लोगों के मन में भारतीयों के विषय में घिसी पिटी धारणा और गहराई से जमी पूर्वाग्रह की स्थिति से उभरने में मदद की।

नोट

अपने व्याख्यान दौरे के उपरांत स्वामी जी ने न्यूयॉर्क में वेदांत और योगा की निशुल्क कक्षा देनी शुरू की। इसके फलस्वरूप वहां वेदांता समाज की स्थापना हुई। 1895 की गर्मियों में उन्होंने ई. ती. स्टार्दियो और हेनरीय मुलर के निमंत्रण पर इंग्लैंड की यात्रा की। दिसम्बर 1895 में विवेकानंद वापस संयुक्त राज्य अमेरिका गये जहाँ उन्होंने न्यूयॉर्क में अपनी कक्षायें जारी रखी और दूसरे शहरों में व्याख्यान दिए, उसके उपरांत वे अप्रैल 1896 यूरोप वापस लौट गये. मई 1896 में स्वामी जी ने मैक्समूलर और उनकी पत्नी से आक्सफोर्ड में मुलाकात की, दिसम्बर 1896 के अंत में विवेकानंद यूरोप से भारत लौट आये।

जब स्वामी विवेकानंद की भारत वापसी का समाचार आया तो अपने नायक के स्वागत के लिए संपूर्ण भारत तैयार होने लगा। जनवरी 1897 स्वामी जी अपने तीन पश्चिमी शिष्यों के साथ दक्षिण भारत पहुंचे। वे जहाँ भी गये वहा उनका स्वागत किया गया और भीड़ उनको देखने के लिए जमा होने लगी। अपने स्वागत के जवाब में स्वामी जी ने इशारा किया कि जनता के उत्थान के लिए उनके मस्तिष्क में एक योजना है। वास्तव में 24 दिसम्बर 1894 में ही एक पत्र में उन्होंने लिखा, ''मेरे संपूर्ण जीवन का एक लक्ष्य है कि मैं तंत्र को ऐसी गति दूं कि जिसके माध्यम से महान विचार हर व्यक्ति तक पहुंचे और उसके बाद स्त्री और पुरुष अपना भाग्य स्वयं तय करे। (बॅए अवसण अण्चण 29) 1 मई 1887 को कोलकात्ता से वापसी के कुछ महीने पश्चात् स्वामी जी ने अपनी योजना को गति देने के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। यह एक संगठित आंदोलन की शुरूआत थी। जिसकी सहायता से शिक्षा, सांस्कृतिक, चिकित्सा एवं राहत कार्य कर जनता के कष्ट दूर किए जाते थे। रामकृष्ण मिशन के प्रारंभ होने के कुछ सप्ताह के पश्चात् ही स्वामी विवेकानंद के भाई के शिष्य स्वामी अखंडानंद, बंगाल के मुर्शिदाबाद से गुजर रहे थे उन्होंने वहाँ की अकालग्रस्त जनता के कष्ट की स्थिति को देखा और दुखी हुए और उन्होंने तुरंत राहत कार्य शुरू कर दिये। उसके बाद से रामकृश्ण मिशन ने प्राकृतिक और मनुष्य जनित आपदाओं से पीड़ित व्यक्तियों की मदद करने का काम जारी रखा है। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 1883 के अपने भाषण में फ्रेडरिको मेयर के डाइरेक्टर जनरल ने कहा कि : मुझे विवेकानंद के रामकृष्ण मिशन जिसकी स्थापना 1897 में हुई थी और संयुक्त राष्ट्र संघ जिसकी स्थापना 1945 में हुई थी में समानता का वास्तव में अनुभव हुआ है। दोनों के प्रयास के केन्द्र में मनुष्य है जिनका लक्ष्य विकास है। दोनों की कार्य सूची में सहिष्णुता है जिससे शांति और प्रजातंत्र की स्थापना हो सके। दोनों ही मानव संस्कृति और समाज की पहचान समान विरासत के आवश्यक पहलू के रूप में करते हैं।

विवेकानंद के भारत वापसी के दो वर्ष पश्चात्, केंद्र, जिसकी व्यवस्था उनके शिष्य उस समय कर रहे थे। जब वे पश्चिम थे का स्थानांतरण कलकत्ता में बेलूर के एक विशाल भू-भाग में कर दिया गया, जो नदी किनारे था। यह रामकृष्ण मिशन का मुख्यालय बना। विवेकानंद ने जोर दिया की मिशन का लक्ष्य ''मानव निर्माण'' है और साथ ही वे चाहते थे कि एक विश्वविद्यालय का विकास उनके मिशन का एक भाग बने। इसी समय स्वामी जी को एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उनसे सर जमशेद जी टाटा के द्वारा स्थापित रिसर्च इन्सटीटयूट ऑफ साइन्स का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का प्रस्ताव दिया गया, जिसको उन्होंने ठुकरा दिया क्योंकि इसका उनके अध्यात्मिक हितों से टकराव होता था। जून 1899 में वे अपने एक शिष्य और एक शिष्या जिसका नाम निवेदिता था और वह आइयरलेंड की थी के साथ यूरोप लौट आये। अनेक व्याख्यानों और कक्षाओं के फलस्वरूप कुछ दिन लंदन में रहने के पश्चात् विवेकानंद न्यूयॉर्क चले गये। कुछ महीनों के बाद वे कैलिफोर्निया चले गये जहाँ

सेन फ्रांसिस्को में वेदांता समाज की स्थापना हुई।

वे न्यूयॉर्क लौट आए लेकिन जुलाई 1900 में पेरिस चले गये जहाँ वे तीन महीने रुके। इस दौरान उन्होंने धर्मों के इतिहास के सम्मेलन में भाग लिया।

नोट

9 दिसंबर 1900 को स्वामी कोलकात्ता लौट आए। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम समय का अधिकतर बेलूर के प्रशिक्षण केंद्र में अपने युवा अनुयायियों को शिक्षण देने और संगठन को मार्गदर्शन करने में बिताया। वे उम्मीद करते थे की उनके अनुयायी एक आदर्श इंसान बनें और वे इसके लिए उन्हें यह कहकर प्रेरित करते रहते थे, कि मुझे बताइए तुमने क्या किया है। क्या तुम दूसरों के लिए एक जीवन का त्याग नहीं कर सकते? इस शरीर को दूसरों की सेवा के लिए उपयोग करें तब मैं यह जानूंगा कि मेरा प्रवचन व्यर्थ नहीं गया।

4 जुलाई 1902 को वे अत्यंत ऊर्जा युक्त दिखाई दिए, उन्होंने अपने आपको विभिन्न कार्यों में व्यस्त रखा। शाम को उन्होंने ध्यान लगाया और जैसा उन्होंने सोचा था एक उच्च योगी मुद्रा में परमात्मा में लीन हो गये। वो केवल 39 वर्ष के थे।

शिक्षा- इस का क्या अर्थ है

बहन निवेदिता हमेशा कहती थी कि जो स्वामी विवेकानंद को जानते थे वो समझते थे कि वे अकेले थे जिसने अपनी पूरी जिंदगी सम्पूर्ण सच का अनुभव किया जिस के बारे में वे बोलते थे। शिक्षा के विषय पर उनके संबोधन के बारे में यही लागू होता है। उनके अनुसार शिक्षा समाज में बुराइयों का इलाज करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। और यह मानवता के भविष्य को आकार देने में महत्वपूर्ण है। यद्यपि विवेकानंद ने शिक्षा पर कोई किताब नहीं लिखी, तथापि उन्होंने इस विषय पर अपने कीमती विचारों का योगदान दिया जो कि आज प्रासंगिक और व्यावहारिक हैं। उनके विचारों को समझने के लिये हमें सर्वप्रथम उनकी बहुधा उद्धरित शिक्षा की परिभाषा पर विचार करना चाहिए– ''शिक्षा आदमी में पहले से ही मौजूद पूर्णता की अभिव्यक्ति है।''

विवेकानंद की शिक्षा की परिभाषा एक उल्लेखनीय अंतर दृष्टि है। सबसे पहला शब्द ''अभिव्यक्ति'' से तात्पर्य है कि कुछ पहले से विद्यमान है और पूर्ण व्यक्त होने के लिए इंतजार कर रहा है। सीखने में मुख्य केंद्र बिंदु है सीखने वाले की छिपी हुई योग्यता को उजागर करना, जैसा विवेकानंद ने कहा है, कि एक व्यक्ति जो सीखता है वास्तव में उसकी अपनी आत्मा द्वारा खोजा गया है, जो अनंत ज्ञान की एक खदान है।

वेदांत दर्शन के अनुसार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में चिंगारी की तरह मानव में ज्ञान निहित है, और इस सबको बाहर लाने के लिए सुझाव की चोट की जरूरत है। अभिव्यक्ति सहज विकास को दर्शाती है बशर्ते कि बाधाओं को दूर कर दिया।

स्वामी की शिक्षा की परिभाषा में अगला जो महत्वपूर्ण है 'आदमी में पहले से मौजूद' की अभिव्यक्ति है। यह एक इंसान की क्षमता को सन्दर्भित करता है जो कि उसकी योग्यता और प्रतिभा की श्रृंखला है, जाने और अंजाने में जिसके साथ वे पैदा हुए। क्षमता किसी के जागरण की संभावना को बताती है जो कि निष्क्रिय पड़ी हुई है। इजरायक ने मानव क्षमता की अपनी किताब में इसके तीन पहलुओं पर विचार किया है : (1) एक विशिष्ट विशेषता का अधिग्रहण करना या किसी एक को बनाना जो इसकी क्षमता रखता हो उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं.... अमल में विश्व प्रसिद्ध फुटबॉल खिलाड़ी माराडोना बनने की क्षमता है। (2) प्रवृत्ति- एक विशेषता जो सूचित करती है कि एक व्यक्ति क्या कर सकता है जब उसे अवसर प्राप्त हैं और उसके पास चुनाव की स्वतंत्रता

नोट

है। यह एक व्यक्ति की प्रेरणा के बारे में कुछ सुझाव देता है। उदाहरण के लिए– रवींद्रनाथ टैगोर की प्रवृति उनकी गीतांजलि में वर्णित है जो इस सृजन के पीछे के आश्चर्य की अद्‌भुत खोज की महत्वपूर्ण आकाँक्षा को सूचित करती है। (3) क्षमता– अर्थात् एक व्यक्ति की वांछित परिणाम की ओर कार्य करने की प्रेरणा और क्षमता। यह किसी व्यक्ति की क्षमता से ज्यादा प्रदर्शन करने को सन्दर्भित करता है।

दरअसल यह उसके सीखने में बाधाओं जैसे प्रेरणा की कमी या उसके वातावरण में अन्य बाध ाओं से रूप में से छुटकारा पाने के लिए एक व्यक्ति की ताकत और क्षमता है। इस प्रकार ये तीन अवधारणायें– क्षमता, प्रवृत्ति, योग्यता। क्रमशः शिक्षा की तीन अवधारणाओं पर जोर देती है।

(1) जो सीखना संभव बनाती है

(2) शिक्षा का विकास

(3) स्व-विकास या स्व-शक्तिकरण

एक बच्चे में परिवर्तनशीलता की विभिन्न प्रकार होती है और वे उसके अन्दर मानसिक संघर्ष उत्पन्न कर सकमी है इसलिए उसे चुनाव करना सीखना होता है उसे कौन-सी क्षमता विकसित करने की कोशिश करनी चाहिए और किसे कम से कम प्रयोग करना चाहिये किसका प्रतिरोध करना चाहिए और किसको नजरअंदात करना चाहिए। जैसे ही उसके द्वारा चयनित क्षमता दिखनी शुरू हो जाये उसका प्रयोग सामंजस्य और उद्‌देश्यपूर्ण ढ़ंग से किया जाना चाहिये।

दो स्तरों का उल्लेख प्राचीन भारतीया ग्रंथों जैसे पाराविध्य (आध्यात्मिक महत्व) और अपाराविध्य (लौकिक महत्व) में किया गया है। ये विभाजन मात्र केवल व्यवहारिक सहूलियत के लिए है; नहीं तो जानकारी केवल प्रथा है, ये तो अंतिम लक्ष्य को पाने की भूख है, जो की विवेकानंद के अनुसार आत्मा की पूर्ण आजादी है।

विवेकानंद ने ये भी गौर किया की अगर मानव जाती में चाहे वो औरत हो या आदमी शिक्षा का प्रसार होता है तो ज्ञान की खोज एक जीवन काल में प्रक्रम होगा।

हालांकि एक प्रख्यात मनुष्य श्री रामकृष्ण ने अपने खुद के अनुभवों से कहा है की ''जैसे-जैसे मैं जीता जाता हूँ, वैसे-वैसे में सीखता जाता हूँ''। आज शिक्षा की यह आँधी लोगों को हमेशा के लिए बाँधकर रख सकती है। इसलिए शिक्षा को निरंतर और आजीवन का कार्य मानना चाहिए।

अब तक की जो हमारी चर्चा विवेकानंद के शिक्षा के संबंध विचारों पर थी वो बहुत ही साधारण विश्लेषणों पर आधारित शिक्षा के परिभाषा के चारों तरफ घूम रही थी।

हालांकि, इस संबंधित मुद्दों पर अपने विचारों में से कुछ के साथ न्याय करने में विफल रहा है, जैसे की शिक्षा और समाज, शिक्षा और अध्यापक, शिक्षा के पेशेवर लक्ष्य और वे लक्ष्य जो वास्तव में हासिल किए गये आदि के बीच में संबंध।

इससे यह स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय के लिए विवेकानंद की गहरी चिंता अब तक हमारी परिभाषा में परिलक्षित नहीं किया गया है।

अंत में तत्कालीन भारत की उन दिनों की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हम ''अभिव्यक्ति'' और 'मनुष्य के भीतर' जैसी भावनाओं की आगे जाँच कर सकते हैं। अभिव्यक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए, स्वामी जी ने पतंजलि के योग के एक वचन का उल्लेख किया है– TATAH KSHETRI KAVAT— यह कहा गया है कि जैसे एक किसान पानी के रास्ते के बाधा को तोड़ा देता है जो

नोट

उसके बाद अपने वेग से बहते हुए उसके खेतों को सींचता है, उसी तरह व्यक्ति की अंतर्निहित शक्तियाँ अपने आपको अभिव्यक्त करती हैं जब बाहरी और आंतरिक अविरोध अगर कोई हैं, सही समय पर शिक्षक या शिक्षा प्रणाली द्वारा हटा दिए जाते हैं। यह अवरोध विभिन्न प्रकार के होते हैं – विकास के लिए जरूरी है।

इन अवरोधों से निपटने के लिए शैक्षिक प्रणाली की दो जिम्मेदारी उठानी पड़ेगी : (1) जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए एक स्वस्थ और गतिशील मस्तिष्क के निर्माण के लिए मनुष्य की सहायता करना, और (2) वर्तमान विद्यार्थीयों को उचित प्रशिक्षण देकर, भविष्य में व्यक्ति और समाज की बुराइयाँ, जो की आज मनुष्य की समस्याओं को और जटिल बनाएगी, की रोकथाम करना। साथ ही साथ, तथापि शैक्षिक प्रणाली के शिक्षक और रचनाकारों को सदैव इस वेदांतिक विचार को मस्तिष्क में रखना पड़ेगा की मस्तिष्क में चाहे कोई भी अच्छे या बुरे भाव हों, एक मानव जीवन शुद्ध और दैविक और अपार संभावनाओं का भंडार होता है।

शैक्षिक सोच, जिसका संबंध विवेकानंद की दृष्टि में, व्यक्ति विशेष की समाज से परस्परीकता से होता है, पर ध्यान देना जरूरी है। समाज का उद्देश्य मनुष्य के हितों की रक्षा करना होता है। वास्तव में, तथापि मनुष्य अपने आपको लगातार ऐसे समाज में फंसा पाता है जो उसको स्वतंत्रता की भर्त्सना करता है, वह स्वतंत्रता जो उसके शैक्षिक विकास के लिए आवश्यक है।

विवेकानंद के अनुसार एक आदर्श समाज, इसके हर एक सदस्य को उसकी अधिकतम क्षमता का विकास करने के लिए श्रोत और अवसर प्रदान करता है। शिक्षा को समान बाँटना चाहिए, खासतौर पर विशेष ध्यान उस पर देना चाहिए जिनको इनकी आवश्यकता है और उस पर जो किसी कारण से मौजूदा सुविधाओं के लिए अपने आप को उपलब्ध नहीं करा सके।

स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं सदी के भारत के एक सर्वाधक प्रभावशाली धार्मिक चिंतक में से एक थे। उनकी रचनाओं में मूलत: मानव स्वातंत्र्य, उसकी प्रकृति, मानदंड, व्यापकता तथा स्वतंत्रता की समतुल्यता के विचार का विवेचन किया गया है।

विवेकानन्द के अनुसार विश्व इसके सृजनकर्ता ब्रहमा की मायवी अभिव्यक्ति है। माया के अंतर्गत ज्ञान, सृजनात्मकता, और अंतश्वेतन आकांक्षओं का सन्निवेश है, जो वस्तुत: सृजनकर्ता की दिखाई देने वाली छवि हैं। ब्रहमा में विश्व के संयोजन की व्यापक सामर्थ्य है ओर उसके द्वारा उत्पन्न कृतियों में अनुभव किया जा सकता है। यह उल्लेख मानव जाति के संदर्भ में है जो किसी मनुष्य को सृष्टिकर्ता से अलग करती है, वह है उसमें सन्निहित गुण। मनुष्य में तीनों गुणों का विकास समान गति से कभी नही होता और न समान स्तर प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति में गुणों के असमान विकास का भिन्न-भिन्न संयोजन मिलता है। इनके विपरीत ब्रहमा में यह संबंध इतने पूर्ण रूप से मिलता है कि ज्ञान सृजनात्मकता एवं अंतश्वचेतन आकांक्षा के तीन गुणों तथा इन गुणों के परे की स्थिति में कोई अंतर नही देखा जा सकता। अपने प्रमुख गुण के साथ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यापकतर इकाई का, अर्थात् ब्रहमा के रूप में पर्वव्यापी समग्रता का अंत बनता है। इसलिए, व्यक्ति के लक्ष्य को उपनी सच्ची अभिव्यक्ति ब्रहमास्वरूप समग्र मानव जाति में ही मिल सकती हैं विवेकानंद ने शक्ति द्वारा ब्रह्मत्व की सिद्धि को मोक्ष की स्थिति बनाया।

विवेकानंद के अनुसार, व्यक्ति स्वतंत्र अवश्य पैदा हुआ है लेकिन जीवन स्थितियों ने उसकी स्वाभाविक स्वतंत्रता को अवरुद्ध करके उसे एक अलग-थलग कटा हुआ व्यक्तित्व बना दिया है जो अपनी

नोट

ही इच्छाओं और उद्देश्यों की अबाधित साधना में लगा है। इससे देर-सवेर वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के मार्ग में आ जायेगा और फलस्वरूप वे सभी एक-दूसरे को खारिज कर देंगे। सृजनात्मक क्षमताओं के विकास के लिए व्यकितनिष्ठ गुण जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति, उसके आध्यात्मिक स्वरूप का प्रस्फुटन भी आवश्यक है। विवेकानंद व्यक्तित्व उसकी अंतर्भूत सामाजिकता से बाधित होता है, तब इसकी परिणति उसी तरह के व्यक्तियों द्वारा प्रतिरोध में होती हैं।

चूंकि, स्वतंत्रता मनुष्य मात्र का प्राकृतिक गुण है, स्वतंत्रता की ऐसी सीमाएं भी प्राकृतिक होनी चाहिये और धर्म से अपनी चाहिए क्योंकि धर्म ही व्यक्ति में वैयक्तिता सामाजिकता के बीच सम्यक् संबंध बनाए रख सकता है और उसे आध्यात्मिक चेतना के समुचित उच्च स्तर तक ले जा सकता है। विवेकानंद का अनुभव था कि कुछेक परिस्थितियां मनुष्य को इस प्रकार कार्य करने के लिए बाध्य करती है, जो अन्यों की स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए यह सहायक नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य की स्वतंत्रता के परिसीमन का उद्देश्य परिष्कार होना चाहिए, दमन नही।

विवेकानंद ने परिष्कार को धार्मिक स्वतंत्रता के समतुल्य माना, इससे ही स्वत: स्फूर्त स्वतंत्रता के उपभोग की सहज संभावना बनती है। धार्मिक आस्था किसी सटीक सूत्रीकरण का उल्लंधन करती है और कभी-कभी कुछ समय के लिए "सत्व" को पृष्ठभूमि में छोड़ते हुए "रजोगुण" से तत्कालीन भौतिक जीवन दशाओं को प्रधानता देती है। स्वतंत्र रूप में अपने लक्ष्यों की सिद्धि की प्राप्ति ओर व्यक्तियों की स्वतंत्रता की मान्यता इस बात की पृष्टि करती है कि मनुष्य सारत: सामाजिक प्राणी है और इसलिए सामुदायिकता को ही वरीयता देगा। विवेकानंद कुछ उदाहरणों से अपने विचारों को स्पश्ट करते हैं। वे भारत में प्राकृतिक समुदायों के विकास को "वर्ण" व्यवस्था का परिणाम मानते है, जिसके अंतर्गत "ब्राह्मणों" ओर क्षत्रियों को रज (सृजनात्मकता) श्रेणी में रखा गया था और वैश्यों और शूद्रों को तम (अंतराकांक्षा/वासना) श्रेणी में इसी प्रकार के श्रेणी विभाजन का हमें प्राचीन ग्रीस में उल्लेख मिलता हैं। जिसमें प्लेटो द्वारा तीन गुणों-तर्क, साहस और क्षुधा के विवेचन है।

विवेकानंद ने यह बात भी सामने रखी कि भारत में जहां सामाजिक जीवन व्यक्ति की भूमिका विशेष पर बल देता था, वही पश्चिमी समाज व्यापकता अथवा समग्रता पर। इसलिए भारत में राजनीति पूर्व युग के अवसान के साथ ही व्यक्ति की भूमिका कम होने लगी, जबकि पश्चिमी समाज में व्यक्ति सुदीर्घ काल तक केंद्रीय मंच पर बना रहा। इस तथ्य ने स्वाभाविकत: पश्चिमी समाज को स्वतंत्रता, समानता तथा उदारवादी सिद्धांतों के प्रति संवेदनशील बनाए रखा।

भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित विश्व में स्वतंत्रता नहीं रही थी बल्कि एक अधिकार बन चुकी थी, विवेकानंद के विचारानुसार स्वतंत्रता का संबंध सहज राजनीति पूर्व मनुष्य से है। राजनीतिक व्यवस्था की रचना के साथ ही स्वतंत्रता का पतन एक अधिकार की स्थिति तक हो गया। चूंकि मनुष्य अपने अधिकारों के लिए संधर्षशील था, न कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए जो एक स्वत: और सार्वभौम प्रक्रिया थी।

	शुद्ध रूप	भ्रष्ट रूप
1.	वर्णाश्रम (योग्यता के आधार पर स्वच्छंद गतिशीलता)	वंशानुगत, श्रेणी शुद्ध जाति व्यवस्था में रूपांतरण (जाति-स्तर और अंतर्जातिक गतिशीलता पर जन्म आधारित प्रतिबंध)

नोट

2.	सच्चह स्वतंत्रता	अधिकारों के लिए संघर्ष के स्तर पर पतन।
3.	सामाजिक मनुष्य	सत्ता, संरक्षण और वर्चस्व के लिए संघर्ष ही चारित्रिक विशेषताएं बनती हैं। शुद्रों की दशा में गिरावट।

इस प्रकार, अधिकारों के लिए ही अत्यधिक सरोकार (अधिकारवाद) के कारण ही भारत अपनी वर्तमान दशा तक पहुंचा है। विवेकानंद के अनुसार अधिकारवाद तम (अंतराकांक्षा/वासना) का पर्याय बन चुका है, क्योंकि विशेषाधिकार वर्ग से संबंध होने के बावजूद व्यक्ति अपने आध्यात्मिक खोखलेपन के कारण विशेषाधिकार बनाए नहीं रख सकता था। इसलिए व्यक्ति के उच्चतर अथवा निम्नतर स्तर से संबंधों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वे सभी अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में ही लगे हैं।

श्रेणी क्रमबद्ध जाति व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की भूमिका रूढ़ बना दिये जाने के कारण भारतीय सभ्यता भी अमानवीयहो चुकी थी इसलिए एक प्रकार की सास्कृतिक क्रांति ही भारत की उसके विगत वैभव की स्थिति में ला सकती थी। विवेकानंद ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश तथा उनके पूर्व के विदेशी विजेता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाये रख पाते थे, इसलिए कि भारत अधिकारवाद के शिकंजे में फंसा था। विवेकानंद ने बताया कि कोई ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था भारत को पुनः स्ववंत्रता की स्थिति में नही लायेगी, क्योंकि यह उनके वश के बाहर है। फिर भी उन्होंने भारतीय जनगण, विशेषकर युवाओं का आहवान किया। कि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रवादी संघर्ष में भाग लेने के लिए, इस आशा के साथ आये कि "सुप्तावस्था" में पड़ा देश हर दृष्टि से जागरूक बनेगा ओर शायद भारत की अधिकारवाद के चुंगल से मुक्त करेगा।

विवेकानंद ने भारत की वर्तमान स्थिति के लिए प्रभुत्वशाली जाति व्यवस्था की ही महत्वपूर्ण कारक बताया। इससे मुक्ति का माध्यम सच्ची धार्मिकता की ओर वापसी ही है और स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम होगा। गौरव एवं सम्मान की पुर्नप्राप्ति के माध्यम से ही दीनहीनों का उद्धार (समकृष्ण मिशन/मठ)। उन्होंने विस्तार ने दरिद्रनारायण की चर्चा की। उनके उत्थान के लिए की गई सेवा ही उन्हें संपन्नता के स्तर पर ले जायेगी। यह सत्व की परिधि में आने वाले सभी व्यक्तियों की महत्वपूर्ण आकांक्षा बन जायेगी, क्योंकि अन्य व्यकितयों के लिये सच्चा सरोकार सत्यनिष्ठा से ही फलीभूत होगा। विवेकानंद समानता के समर्थक के रूप में सामने आये क्योंकि समानता ही सवतंत्रता की चेतना वापस ला सकती हैं उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद के अंतर को भी स्पष्ट किया।

भौतिक साम्यवाद का आधारभूत उद्देश्य था भौतिक संपदा का समान वितरण। विवेकानंद की जो बात इसमें अच्छी लगी, वह थी समानता से इसका अतिश्य लगाव। फिर भी, वैसी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य को पदार्थ संयोजन के रूप में ही देखा जाता था। विवेकानंद आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षधर थे। इसकी आधारभूमि बनाता था, राजनीति पूर्व साम्यवाद जिसमें स्वतंत्रता का पूर्ण सामंजस्य होगा। इस प्रकार साम्यवादी समाज मानव सभ्यता के दोनों ही छोरों पर उपस्थित मिलता। समाज का आरंभ एक जैसे व्यकितयों के निकाय के रूप में होता है। अस्थिरता, असंतुलन और आलोहन की स्थितियों से गुजरते हुए अंततः वह फिर समान व्यक्तियों के समुदाय का रूप लेता है। स्वतंत्रता पहले का अर्थ भाग बनती है, जबकि दूसरे में वह अनुपरिभाषा मिलती है।

3.6 सिंह सभा आन्दोलन

नोट

निरंकारी, राधास्वामी और नामधारी आंदोलनों का सिख जन-सामान्य पर कुछ खास असर नहीं हुआ। निरंकारी आंदोलन उत्तर-पश्चिमी पंजाब के शहरी समाज तक सीमित रहा, जबकि राधास्वामी मूलत: ईश्वरीय मुद्दों से संबंधित। नामधारी आंदोलन का तो अस्तित्व ही मलेरकोटला के परेड-मैदान में अस्थायी तौर पर मिटा दिया गया।

ये तीनों ही सिखों के विच्छेद से उभरी मंडलियाँ हैं, जो किसी विशेष गुरु के प्रति भक्तिभाव रखती हैं और अपने ही विशेष धार्मिक कर्मकांडों में विश्वास करती हैं। इन सबने समाज की जिन बुराइयों को दूर करने की ठानी थी वे आज भी धड़ल्ले से जारी हैं। नीची जाति के सिखों के साथ आज भी भेदभाव होता है। अमीर शराब और व्यभिचार के आगोश में जा पड़े। दूसरी तरफ, हिंदू धर्म का कारोबार पूर्ववत् चलता रहा; वही उनका ब्राह्मणवाद, देवी-देवताओं के उनके मंदिर और देवालय, संस्कृत मंत्रों के उच्चारण, ज्योतिषियों और भविष्यवक्ताओं में आस्था, जन्मपत्रियों पर आधारित जीवन। सिखों में भी; जो लोग इन उपर्युक्त पंथों की, दस गुरुओं के अतिरिक्त गुरुओं की अर्चना की आलोचना करते थे, वे भी गुरु नानक देव और गोबिंद सिंह के बेदी और सोढ़ी वंशजों के आगे दंडवत् करने में गुरेज नहीं करते थे और दूसरे साधु-संतों के प्रति भी ऐसी श्रद्धा जताते थे मानो वे गुरु ही हों।

सिखों के नैतिक स्तर में गिरावट के साथ ही साथ उनकी तादाद भी गिर रही थी। जब 'खालसा' चढ़त की ओर था, तो हिंदुओं ने बड़ी संख्या में केश-दाढ़ी बढ़ाना, सिख-गुरुओं का गुणगान करना शुरू कर दिया था। पंजाब के अंगेजों द्वारा अधिग्रहण के बाद ये मौकापरस्त लोग वापस हिंदू धर्म की शरण में लौट गए। सच्चे सिख परिवार भी, जिनका ऐसे हिंदुओं से करीबी नाता रहा, वे भी उन हिंदुओं के साथ-साथ दाढ़ी-केश मुँड़वाकर सहजधारी सिख बन गए। इन सिखों में ज्यादातर लोग तो ऐसे थे, जो दो-एक पीढ़ी पहले ही सिख बने थे और उन्होंने हिंदुओं के साथ सामाजिक संवाद तो इस बीच छोड़ा ही नहीं था। अब उनके पास एक ही रास्ता था कि वे हिंदू धर्म में पुन: जज़्ब हो जाएँ और एक अलग समुदाय के रूप में दिखने से बाज आएँ।1

सिख राजनिकाय की अंतर्निहित दुर्बलता तो सिखों के विघटन का एक कारण था ही; दरअसल इसके तीन और भी कारण मौजद थे–ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ, आर्यसमाज नामक एक नए हिंदू संगठन की नवधर्मांतरण की मुहिम और वैज्ञानिक विचारधाराओं के आविर्भाव से उपजा 'युक्ति-संगतिकरण' (चीजों का औचित्यपूर्ण होना)।

1835 में, लुधियाना में अमेरिकी प्रेस्बिटेरियन (एक ईसाई धर्मव्यवस्था) मिशन की स्थापना हो चुकी थी। अधिग्रहण के तुरंत बाद इस मिशन ने अपनी गतिविधियाँ मालवा से लेकर माझा तक फैलानी शुरू कर दी। चर्च मिशनरी सोसायटी ने अमृतसर, लाहौर और पहाड़ी जिलों में अपने केंन्द्र खोल लिए। 'सोसायटी फॅार दि प्रापेगेशन ऑफ गॉस्पेल', 'साल्वेशन आर्मी', 'मेथॉडिस्ट', 'एपिस्कोपैलियन', 'मोरैवियन' और अनेक 'रोमन कैथोलिक' मिशन लोगों का धर्मांतरण करने के लिए एक-दूसरे से होड़ लगाने लगे। इन ईसाई मिशनरियों को अंग्रेज अफसरों का खूब प्रश्रय मिलता था।

ईसाई मिशनरियों की सबसे बड़ी जीत थी। सन् 1853 में महाराजा दलीप सिंह का धर्म-परिवर्तन करके उन्हें ईसाई बनाना, सिखों के लिए यह एक असहनीय झटका था। उसी साल अमृतसर में

नोट

एक क्रिश्चियन मिशन स्कूल खोला गया। नव धर्मांतरित व्यक्ति के से उत्साह के साथ, देशनिर्वासित महाराजा ने इस ईसाई विद्यालय को सहायता का आश्वासन दिया।

महाराजा दलीप सिंह को छोड़कर शुरू-शुरू में ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले सिखों में ज्यादातर अस्पृश्य जाति के सिख थे। कुछ ही समय के भीतर 'ईसाई अर्थात् क्रिश्चियन को निंदात्मक रूप में लिया जाने लगा और यह पंजाबी के शब्द 'चूहड़ा' का पर्याय बन गया। तभी नवधर्मांतरित लोगों को समझ में आने लगा कि न तो पादरी का संरक्षण और न ही 'सालो टोपी' जुड़ा गरिमा का अहसास उन्हें अस्पृश्यता के कलंक से निजात दिला सकता था। उसके बाद से, नीची जातियों के धर्मांतरण की गति कुछ धीमी हुई। ईसाई मिशनरियों ने अब अपना रुख खाते-पीते जट्टों और खत्री जाति के लोगों की तरफ मोड़ा। कितने ही जाने-माने सिख परिवारों ने ईसाई धर्म2 को स्वीकार कर लिया। पढ़े-लिखे और आभिजात्य परिवारों के सिखों द्वारा ईसाइयत को अपनाने से सिख नेताओं को जितना धक्का लगा, उतना अस्पृश्य भाइयों को ईसाई बन जाने से नहीं लगा था। बहरहाल, ईसाई मिशनरियों के कार्यकलापों से ज्यादा गंभीर तो सुधारवादी हिंदुत्व की चुनौतियाँ थीं, खासकर आर्य समाज की।

अमृतसर और लाहौर की सिंह सभाएँ: आर्य समाज के प्रवर्तन से चार साल पहले, एक हिंदू वक्ता के सिख गुरुओं के लिए की गई निंदात्मक टिप्पणियों को लेकर, अमृतसर के सिखों ने एक मीटिंग बुलाई। ये विरोध प्रदर्शन करने वाली सभाएँ, जिस संस्था द्वारा आयोजित की जाती थीं, वह अपने आप को 'सिंह सभा' कहती थीं। सिंह सभा को पंजाब के अमीरों, जमींदारों और रुढ़िवादी सिखों3 का सहयोग मिल रहा था। इस सोसायटी के उद्देश्यों में थे–गुरुओं के उपदेशों की पुनर्प्रतिष्ठा, पंजाबी में धार्मिक साहित्य की रचना और निरक्षरता के विरुद्ध अभियान। इसके प्रवर्तक यह भी चाहते थे कि उच्च पदस्थ अंग्रेजों को आकृष्ट किया जाए और सिंह सभा के शैक्षणिक कार्यक्रमों में उनका योगदान लिया जाए। सरकारी संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए सिंह सभा ने तय किया कि ब्रिटिश राजतंत्र के प्रति अपनी वफादारी जताई जाए। ठक्कर सिंह4 संधावालिया इसके अध्यक्ष और ज्ञानी ज्ञान सिंह 'अमृतसर श्री गुरु सिंह सभा' के सचिव थे। सरकार ने इस संस्था के शैक्षणि ाक कार्यक्रम1 को अपने संरक्षण के दायरे में ले लिया था।

1879 में लाहौर में एक और सिंह सभा का गठन हुआ। इस सिंह सभा के नेता मध्यवर्ग2 के कुछ पढ़े-लिखे और ऊर्जावान नौजवान थे। पंजाब के गवर्नर सर रॉबर्ट इगर्टन ने इसका संरक्षक बनना स्वीकार कर लिया था और वायसराय लॉर्ड लैंसडाउन को भी इसे मदद देने के लिए तैयार कर लिया गया था। लाहौर सिंह सभा3 ने कई शहरों में अपनी शाखाएँ खोलीं, गाँवों में मिशनरी भेजे, सिख गुटों के साथ तारतम्य बनाया और पंजाबी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी शुरू कीं।

1883 में लाहौर और अमृतसर की सिंह सभाओं का आपस में विलय हो गया। लेकिन उनका यह संगठन असफल रहा। अमृतसर सिंह सभा का गठन खेम सिंह बेदी द्वारा नियंत्रित सौम्य प्रवृत्ति के रूढ़िवादी लोगों से हुआ था। गुरु नानक के वंशज होने के नाते खेम सिंह सभा बेदी गुरु को मिलने वाले चढ़ावे स्वीकार करने के अभ्यस्त थे। लाहौर सिंह सभा के लोग 'प्रगतिवादी' विचारधारा के थे और 'गुरु' प्रथा के घोर विरोधी थे। दोनों दलों में अछूतों के सिख-गुरुद्वारों में आकर प्रार्थना करने के अधिकार को लेकर खटपट हो गई। प्रतिक्रियावादी अथवा रूढ़िवादी दल गुरुद्वारों के ग्रंथियों की इस बात से सहमत था कि अछूत सिखों को एक निश्चित समय पर ही गुरुद्वारों में आने की

अनुमति होगी और उन्हें चढ़ावे चढ़ाने का अधिकार नहीं होगा। दोनों सिंह सभाओं के लोगों का आपसी तर्क–वितर्क आपसी कलह में बदल गया। रूढ़िवादी दल ने अपने आप को आंदोलन से विलग कर लिया और खुले तौर पर अपनी प्रतिद्वंद्विता प्रकट करने लगे।

नोट

आर्य समाज के त्वरित फैलाव और इसके अनेक नेताओं की सिख-विरोधी मतांधता ने सिंह सभा आंदोलन के सामने चुनौती खड़ी कर दी थी। इससे आर्य समाज और इसके कुछ सिख-समर्थकों के बीच अलगाव भी अंतिम चरण तक पहुँच गया।

दोनों सिंह सभाओं में पुनः सुलह हो गई और दोनों ने मिलकर अपना एक कॉलेज खोलने की ठान ली। लाहौर में भारी तादाद में जुटे लोगों की एक सभा में, एक योजना बनाई गई और स्वर्णमंदिर की ओर से एक 'हुक्मनामा' जारी किया गया, जिसमें सिखों से कहा गया कि वे सब इस प्रस्तावित कॉलेज की इमारत1 बनाने के लिए अपनी आमदनी का दसवांश दान में दें। अंग्रेज शुभचिंतकों ने इंग्लैंड में धन इकट्ठा करने के लिए, लंदन में एक समिति का गठन किया। वायसराय और कमांडर-इन-चीफ के प्रोत्साहन पर सिख राजों-महाराजों ने भारी मात्रा में दान दिए और 'एंग्लो इंडियन सिविल एवं मिलिट्री गजट' ने बड़े उत्साह के साथ इस मुहिम का समर्थन किया। प्रांत के कोने-कोने से धन की वर्षा होने लगी। 5 मार्च, 1892 को इस मुहिम में निजी रूप से रुचि लेने वाले लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स ल्याल ने अमृतसर2 में 'खालसा कॉलेज' की नींव रखी।

यह तो अवश्यंभावी ही था कि इतनी विविध गतिविधियों वाली संस्था सिंह सभा की कालांतर में अपनी कोई न कोई राजनीति विकसित होगी ही। सन् 1902 में चीफ खालसा दीवान' के गठन के साथ इसने मूर्तरूप ले लिया। 'चीफ खालसा दीवान' अन्य समुदायों के सापेक्ष सिखों के अधिकारों की सुरक्षा, ब्रिटिश राजतंत्र के प्रति वफादारी पैदा करवाने और सरकारी सेवाओं, विशेषकर, सेना में सिखों के समुचित प्रतिनिधित्व के लिए लड़ने आदि की मुहिमों के लिए वचनबद्ध था। लगभग इसके प्रवर्तन से ही, इसके सर्वाधिक प्रभावी नेता थे–सुंदर सिंह मजीठिया।

सिंह सभा आंदोलन के सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष शैक्षणिक और साक्षरता संबंधी ही थे। सन् 1902 के बाद से, बाद से हर साल एक शिक्षा-सम्मेलन आयोजित किया जाने लगा ताकि सिख समुदाय में साक्षरता की प्रगति का लेखा-जोखा तैयार किया जा सके तथा और स्कूल बनाने के लिए धन एकत्रित किया जा सके। इन खालसा स्कूलों4 में गुरुमुखी और सिख धर्मग्रंथों की शिक्षा अनिवार्य थी। शिक्षा को प्रोत्साहन देने की मुहिम ने पुस्तकों5 पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं एवं अखबारों6 के प्रकाशन को बढ़ावा दिया।

पंजाबी पत्रकारिता में पूँजी-निवेश का सबसे पहला उद्यम था–'खालसा अखबार' नामक साप्ताहिक। सन् 1899 में 'खालसा समाचार' की शुरूआत हुई और शीघ्र ही यह सिख समुदाय का एक अग्रण ी धार्मिक पत्र बन गया। भाई वीर सिंह के संपादन काल में इसकी प्रसार संख्या काफी बढ़ी। भाई वीर सिंह उपन्यासकार, कवि और धार्मिक ग्रंथों के टिप्पणीकार के रूप में मशहूर हुए। भाई वीर सिंह ने 'खालसा पुस्तिका सोसायटी' की शुरूआत की और सिख इतिहास तथा धर्म के विभिन्न पक्षों से जुड़े साहित्य का प्रकाशन किया।

सिख धर्म पर अचानक ही गुरुमुखी और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। गुरुमुखी की किताबों में ज्ञानी ज्ञान सिंह की पुस्तकें–'पथ प्रकाश' और 'तवारीख गुरु खालसा' और काहन सिंह कृत सिख साहित्य का भारी-भरकम ज्ञान-कोश 'गुरुशब्द रत्नाकर महाकोश' चिरस्थायी महत्त्व की

रचनाएँ थीं। इन्हीं दिनों एम.ए. मैकॉलिफ कृत सिख गुरुओं के जीवन और उपदेशों1 पर आधारित वृहद् ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

सिंह सभा आंदोलन ने न सिर्फ सिखों की हिंदुत्व में वापसी को रोका, वरन् हिंदू खेमों में धर्मांतरण की गतिविधियाँ जारी कर उनसे बदला भी लिया। पश्चिमी पंजाब और सिंध के हिंदू बड़ी तादाद में 'सहजधारी सिख' बन गए और फिर सहजधारियों को 'खालसा' बनाया गया।

नोट

पंजाबी में आर्य समाज के उत्थान और विस्तार का हिंदू–सिख संबंधों की दिशा पर निर्णायक प्रभाव पड़ा और इसी ने प्रांत में ब्रिटिश–विरोधी राजनीतिक आंदोलनों की रूपरेखा तय की। सिखों ने आर्यसमाज द्वारा चलाई गई 'शुद्धि' की मुहिम का डटकर विरोध किया। आर्य समाजी जितना ही दावा करते कि सिख धर्म भी हिंदू धर्म की ही एक शाखा हैं, उतना ही सिख लोग आग्रह करते कि वे एक अलग और विशिष्ट समुदाय थे। इस क्रिया और प्रतिक्रिया ने दो सह–समुदायों के बीच के करीबी सामाजिक रिश्तों को चकनाचूर कर दिया। इसकी अभिव्यक्ति एक पुस्तिका 'हम हिंदू नहीं हैं। के प्रकाशन में हुई। इसे नाभा के तत्कालीन मुख्यमंत्री विद्वान् काहन सिंह ने लिखा था। यद्यपि 'सिंह सभा' आंदोलन 1920 के दशक में खत्म हो गया, इसने सिखों में हिंदुत्व के खिलाफ एक चिरस्थायी रक्षात्मक रवैया ठूँस दिया।

स्वामी दयानंद के उपदेशों में एक तीव्र राजनीतिक स्वर था। हिंदुत्व को, वैदिक काल के बाद से इसमें आ जुड़े अवांछित तत्त्वों से शुद्ध करने की अपनी इच्छा की घोषणा करते हुए, स्वामी दयानंद सरस्वती, दरअसल, हिंदू समाज को गैर-हिंदू लोगों के वर्चस्व से मुक्त करना चाहते थे। इस्लाम और ईसाई धर्म की आलोचना करते हुए, वे वास्तव में तो, हिंदुस्तानी मुसलमानों और अंग्रेजों पर ही प्रहार कर रहे थे। परिणामत: आर्य समाज द्वारा लाए गए हिंदुत्व के पुनरुस्थान में एक तीव्र मुस्लिम विरोधी और ब्रिटिश-विरोधी मतांधता थी, जो अक्सर पंजाबी हिंदू राष्ट्रवादियों के वक्तव्यों में साफ झलकती थी। इन पंजाबी हिंदू राष्ट्रवादियों में बड़ी तादाद में आर्य समाज थे, उदाहरण के लिए–लाला लाजपत राय, अजीत सिंह लाला हंसराज और अनेक पंजाबी हिंदू क्रांतिकारी। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' पर आर्य समाजियों के नियंत्रण ने स्वतंत्रता आंदोलन को हिंदू पुनर्जागरण के एक पक्ष का ही रूप दे दिया था और यही मुख्य रूप से मुसलमानों और सिखों1 के इससे अलग–थलग रहने के लिए जिम्मेदार था।

3.7 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा

विवेकानंद ने धार्मिकता पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धांत का निरूपण और विकास किया। उनके अनुसार, संगीत की ही भाति प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक "मुख्य सुर" एक केंद्रीय विषय होता है, जिसकी तुलना में अन्य कुछ भी गौण सिद्ध होता है। भारत की विषयवस्तु की पहचान उन्होने धर्म के रूप में भी ओर उसे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ बनाने के लिये कहा था। धर्म समकेन एवं सुस्थिरता की सुजनात्मक शक्ति रह चुका था और राजनीतिक प्राधिकार के क्षीण होने पर उसके पुनर्लाभ एवं सशक्तिकरण में भी धर्म सहायक बना थां इस प्रकार उन्होंने धर्मिक आदर्श के आधार पर राष्ट्रीय जीवन के संगठन का समर्थन किया। लेकिन उनकी अवधारणा के अंतर्गत धर्म अमानुषिक रीति-रिवाजों अथवा रूढ़ियों और कर्मकांडों का समुच्चय नहीं था। बल्कि धर्म अपने वास्तविक अर्थ में किन्हीं शाश्वत सिद्धांत/मूल्यों का साक्षात्करण था।

नोट

इस प्रकार के राष्ट्रवाद सिद्धांत के आधार पर विवेकानंद ने राष्ट्रवाद तथा राजनीति एवं सत्ता के संबंधों के बारे वे अपनी अवधारणा का विकास किया। विवेकानंद की इस अवधारणा की बहुत कुछ समरूपता पश्चिम के अराजकतावादी चिंतन से है, जो किसी भी प्रकार की राजनीति अथवा सत्ता को संदिग्ध मानता था। उनकी अवधारणा में, भारत से परिचित प्रत्येक व्यक्ति की इस बात का बोध होना चाहिए कि यहां "राजनीति, सत्ता और बौद्धिकता की भूमिका गौण है।" भारत में धर्म ही प्रमुख विचारणीय विषय है। "इसलिए उन्होंने संसद जैसी पाश्चात्य संस्थाओं का मखौल बनाया, उनका उल्लेख गुल-गपाड़े, दलगत राजनीति, पतनशील उन्माद एवं संकीर्णताबाद जैसे विशेषणों के साथ किया। राजनीतिक सत्ता से अति-मोह, विशिष्ट रूप से पाश्चात्य राष्ट्रवाद, राजनीति और सत्ता संबंधों की अवधारणा के ही अनुरूप था, विवेकानंद का व्यक्तिगत नैतिकता एवं सामाजिक परिवर्तन पर जो राष्ट्रवाद, राजनीति और सत्ता की विचारधारा के कारण था और यह कि पूर्ण विश्वास था कि राष्ट्रीय गौरव इसके नागरिकों को अंतर्निहित श्रेष्ठता, सुंदरता के कारण होता है, इसलिए नही कि राज्यसत्ता ऐसा चाहते हुए संबंधित उद्देश्यों से कोई कानून लागू करती है। इस प्रसंग में भी धर्म का अधिकाधिक महत्व सामने आता है क्योंकि वही जनगण के व्यक्तित्व एवं आचरण को ढालता है-उन्हें सुंदर ओर महान बनाता है। उनके विचारों के अनुसार, हिंदुत्व की आध्यात्मिक परंपरा, जाति व्यवस्था, सम्राटों और विदेशियों के जघन्य आतंक में प्रत्यक्ष होने वाले विधि-सम्मत उत्पीड़न के प्रतिरोध की मांग करती हैं। इसलिए यह कोई अतिश्योक्ति नहीं कि विवेकानंद ने भारत में राजनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार को इस निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

3.8 विश्व संस्कृति को विवेकानंद का योगदान

स्वामी विवेकानंद द्वारा विश्व संस्कृति को दिए गये योगदानों का निष्पक्ष मूल्यांकन करते हुए ब्रिटिश इतिहासकार ए.एल. बशाम कहते हैं, कि उन्हें सदियों तक आधुनिक विश्व के मुख्य संस्थापक के रूप में याद किया जाएगा। आधुनिक विश्व को दिये गए स्वामी जी के मुख्य योगदान निम्नलिखित हैं :

धर्म की नई सोच : इस आधुनिक विश्व को स्वामी विवेकानंद का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने धर्म का उल्लेख एक उत्कृष्ट सच्चाई के एक सर्वव्यापी अनुभव के रूप में किया जोकि सम्पूर्ण मानव जाति के लिए समान था। स्वामीजी ने धर्म को उतना ही वैज्ञानिक माना जतना कि विज्ञान है; धर्म स्वयं ''चेतना का विज्ञान'' है जिससे कि उन्हें आधुनिक विज्ञान की चुनौतियों से गुजरना पड़ा। धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं हैं परंतु एक दूसरे के पूरक जरूर हैं। इस व्यापक विचारधारा ने धर्म को अंधविश्वास, स्वाभिमान, पूंजीवाद और असहिष्णुता के चंगुल से आजादी दिलाई और धर्म को सर्वोच्च तथा महान खोज बताया- सर्वश्रेष्ठ आजादी, सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और सर्वश्रेष्ठ खुशी की खोज।

मनुष्य की नया नजरिया : विवेकानंद के सिद्धांत आत्मा की दैविक क्षमता ने मानव के सिद्धांत को एक नयी ऊँचाई प्रदान की। वर्तमान युग मानवता का युग है, अत: मानव को सभी सोच तथा गतिविधियों का केंद्र बिंदु होना चाहिये। मानव ने विज्ञान और तकनीक से बडी सफलताएँ और क्षमताएँ पाई हैं तथा आधुनिक संचार और यातायात के साधनों ने तो संपूर्ण मानव समाज को एक वैश्विक गाँव में परिवर्तित कर दिया है। लेकिन मानव का पतन भी तेजी से हो रहा है जैसे कि परिवारों का टूटना, अनैतिकता, हिंसा, अपराध आदि आधुनिक समाज में बढ़ते जा रहे हैं। विवेकानंद के ''आत्मा की दैविक क्षमता'' को सिद्धांत ने मानव का पतन रोका तथा, मानव रिश्तों का दैवीकरण

नोट

किया तथा जीवन को सार्थक और रहने लायक बनाया। स्वामीजी ने आध्यात्मिक मानववाद की नींव रखी जिससे कि अनेकों मानववाद आंदोलन ओर ध्यान, योगा आदि का प्रसार पूरे विश्व में किया।

नैतिकता और नीति का नया सिद्धांत : आमतौर पर मानव जीवन तथा समाज में नैतिकता संभवत: भय से है, जैसे– पुलिस, सार्वजनिक उपहास (बदनामी), भगवान के द्वारा सजा, कर्म आदि का भय। नैतिकता के आधुनिक सिद्धांत भी यह नहीं बताते हैं कि मानव को दूसरों के प्रति नैतिक तथा अच्छा होना चाहिए। विवेकानंद ने नैतिकता तथा नीति के लिए एक नया सिद्धांत दिया जोकि आंतरिक शुद्धता और आत्मा के एकीकरण पर आधारित था। हमें पवित्र होना चाहिए क्योंकि पवित्रता हमारा प्राकृतिक स्वभाव है जैसे आत्मा। इसी प्रकार हमें पड़ोसियों की मदद तथा प्यार करना चाहिए क्योंकि सर्वशक्तिमान परमात्मा या ब्रह्म की दृष्टि में हम सभी एक हैं।

पूरब और पश्चिम के बीच सेतु : स्वामी विवेकानंद का दूसरा महान योगदान यह था कि उन्होंने भारतीय संस्कृति और पश्चिमी संस्कृति के बीच एक पुल बनाया। वे ऐसा तभी कर पाए जब उन्होंने हिंदू शास्त्रों और दर्शन तथा जीवन शैली और संस्थाओं के बारे में पश्चिमी लोगों को आम भाषा में समझाया ताकि वे समझ सकें। उन्होंने पश्चिमी लोगों को एहसास दिलाया कि वे अपनी भलाई के लिए भारतीय आध्यात्मिकता से काफी कुछ सीख सकते हैं। उन्होंने साबित किया कि अपनी गरीबी और पिछड़ेपन के बावजूद भारत ने विश्व संस्कृति में महान योगदान दिया है। अत: इस प्रकार उन्होंने भारतीय संस्कृति का विश्व के दूसरे हिस्सों से अलग-थलग होने की बात का खंडन किया। वे भारत के पश्चिमी देशों के लिए पहले महान सांस्कृतिक राजदूत थे। दूसरी ओर स्वामी जी ने पौराणिक भारतीय शास्त्रों, दर्शन, प्रतिष्ठानों आदि का विवेचन किया जिससे भारतीयों ने पश्चिमी संस्कृति के दो महत्वपूर्ण तत्वों विज्ञान और तकनीकी तथा मानववाद, को अपनाया और अपने जीवन में उतारा। स्वामी जी ने भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान और तकनीक के साथ-साथ अपने आप को आध्यात्मिक तौर पर विकसित होने की सीख दी। स्वामी जी ने भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता (खास तौर पर पर मनुष्य की आजादी, सामाजिक समानता और न्याय तथा महिलाओं के प्रति आदर) को अपनाने की सीख दी।

हिंदू धर्म के लिए स्वामी जी का योगदान

अपनी असंख्य भाषाई, जातीय, ऐतिहासिक और क्षेत्रीय विविधताओं के बावजूद, भारत में सांस्कृतिक एकता की एक मजबूत भावना अति प्राचीन समय से है। तथापि स्वामी विवेकानंद थे। जिन्होंने इस संस्कृति की सच्ची नींव को प्रकाशित किया और इस प्रकार एक राष्ट्र के रूप में एकता की भावना को मजबूत किया। स्वामीजी ने भारतीयों को अपने देश की महान आध्यात्मिक विरासत की उचित समझ दी और इस प्रकार उनके अतीत में उन्हें गर्व प्रदान किया। इसके अलावा, उन्होंने भारतीयों को पश्चिमी संस्कृति की खामियों के बारे में बताया और इन खामियों को दूर करने के लिए भारत के योगदान की जरूरत को बताया। इस रास्ते में स्वामी जी ने भारत को वैश्विक मिशन के साथ एक राष्ट्र बनाया।

एकता की भावना, अतीत में गौरव, मिशन की भावना- ये वे कारक थे जिन्होंने भारत को राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए असली शक्ति और उद्देश्य दिए। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के कई प्रख्यात नेताओं ने इसके लिये अपने को स्वामी जी का ऋणी बताया। आजाद भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा : भारत की प्रतिष्ठा गर्व से भरी हुई है जो अतीत में निहित है, विवेकानंद अभी तक जीवन की समस्याओं के लिए अपने दृष्टिकोण में आधुनिक थे और भारत के वर्तमान और

नोट

अतीत के बीच एक पुल की तरह थे। वे उदास और हतोत्साहित हिंदू दिमाग के लिए एक टॉनिक (पेय औषधि) के रूप में आए आत्मनिर्भरता दी इसे और अतीत से जोड़ा। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने लिखा, स्वामीजी ने पूर्व और पश्चिम, धर्म और विज्ञान, अतीत और वर्तमान में सामंजस्य किया। और यही कारण है कि वे महान हैं। हमारे देशवासियों ने उनकी शिक्षाओं से अभूतपूर्व आत्मसम्मान, आत्मर्निभरता और आत्मबल अर्जित किया है।"

नए भारत के निर्माण के लिए स्वामीजी का सबसे अनूठा योगदान भारतीयों का दलितों के प्रति अपने कर्तव्य के लिए दिमाग को खोलना था। लंबे समय से कार्लमार्क्स के विचार भारत में जानने से बहुत पहले स्वामीजी ने देश के धन के उत्पादन में श्रमिक वर्ग की भूमिका के बारे में बात की। स्वामी जी जनता के लिए बोलने वाले, सेवा के एक निश्चित दर्शन को तैयार करने वाले और बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा को व्यवस्थित करने वाले भारत में पहले धार्मिक नेता थे।

पहचान : यह स्वामी विवेकानंद थे जिन्होंने हिंदुत्व को एक पूर्णरूप से अलग पहचान दी। स्वामीजी के आने से पहले हिंदू धर्म कई अलग-अलग संप्रदायों का एक ढ़ीला परिसंघ था। स्वामी जी हिंदुत्व की आम धारणाओं और सभी संप्रदायों के आम क्षेत्रों के बारे में बोलने वाले पहले धार्मिक नेता थे। अपने गुरु श्रीरामकृष्ण द्वारा मार्गदर्शित सभी हिंदू सिद्धांतों को और सभी हिंदू दार्शनिकों और संप्रदायों के विचारों की वास्तविकता को अलग-अलग रूप में और हिंदुत्व के रूप में जानने वाले जीवन के तरीकों को स्वीकार करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। हिंदुत्व को अपनी अलग पहचान देने में स्वामी जी की भूमिका के बारे में बोलते हुए सिस्टर निवेदिता ने लिखा, यह कहा जा सकता है कि जब उन्होंने बोलना शुरू किया तो यह हिंदुओं के धार्मिक विचारों पर था लेकिन जब उन्होंने समाप्त किया तो हिंदुत्व उत्पन्न कर दिया गया था।

एकीकरण : स्वामी जी के आने से पहले, हिंदुत्व के विभिन्न संप्रदायों के बीच बहुत झगड़ा और प्रतियोगिता थी। इसी प्रकार विभिन्न प्रणालियों और दर्शन के लोग अपने ही विचारों के सही और वैध होने का दावा कर रहे थे। श्री राम कृष्ण के समन्वय के सिद्धांत को लागू कर के स्वामी जी विविधता में एकता के सिद्धांत के आधार पर हिंदू धर्म के एक समग्र एकीकरण को लाए। इस क्षेत्र में स्वामी जी की भूमि का के बारे में बोलते हुए प्रख्यात इतिहासकार और राजनयिक के. एम. पन्निकार ने लिखा : "इस नये शंकराचार्य पर अच्छी तरह से हिंदू विचार धारा को एकजुट करने का दावा किया जा सकता है। बचाव : स्वामी जी द्वारा प्रदान की गई एक अन्य महत्वपूर्ण सेवा हिंदू धर्म की रक्षा में अपनी आवाज उठाने की थी। वास्तव में, यह पश्चिम में किए गये काम के मुख्य प्रकारों में से एक था। ईसाई मिशनरी प्रचार पश्चिमी लोगों के दिमाग में हिंदूधर्म और भारत के लिए गलत विचार दे चुके थे। स्वामी जी को हिंदू धर्म की रक्षा के लिए अपने प्रयास में एक बड़े विपक्ष का सामना करना पड़ा।

चुनौतियों का सामना : 19 वीं सदी के अंत में, सामान्य रूप से भारत और विशेष रूप से हिंदुत्व ने पश्चिमी भौतिकवादी जीवन, मुक्त पश्चिमी समाज के विचारों और ईसाइयों के धर्मांतरण की प्रवृत्ति की गंभीर चुनौतियों का सामना किया। विवेकानंद ने हिंदू संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति के सबसे अच्छे तत्वों को एकीकृत करके इन चुनौतियों का सामना किया।

सन्यास का नया आदर्श : हिंदू धर्म को विवेकानंद का एक प्रमुख योगदान सन्यासी जीवन का कायाकल्प सुधार और आधुनिकीकरण है। इस नए मठवासी आदर्श में, राम कृष्ण के आदेश का अनुसरण किया गया, इसमें त्याग और ईश्वर प्राप्ति के प्राचीन सिद्धांत आदमी में भगवान की सेवा

नोट

के साथ संयुक्त हैं (शिवा ज्ञाने ने जीव सेवा)। विवेकानंद ने सामाजिक सेवा को दिव्य सेवा की स्थिति तक उठाया। हिंदू दर्शन और धार्मिक सिद्धांतों का पुनः परिष्करण : विवेकानंद ने केवल आधुनिक सोच की दृष्टि से प्राचीन हिंदू ग्रंथों और दार्शनिक विचारों की व्याख्या नहीं की। बल्कि उन्होंने अपने दिव्य अनुभवों और भविष्य की दृष्टि के आधार पर कई विभिन्न उज्ज्वलित मूल ध ारणाओं को भी जोड़ा। हालाँकि, इसके लिये हिंदू दर्शन के एक विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है जिसका यहाँ प्रयास नहीं किया जा सकता।

3.9 सारांश

हिन्दू धर्म में पहला सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज था जिस पर आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा था। राजा राम मोहन राय (1774-1833) इसके प्रवर्तक थे। वह एक बहुत बड़े विद्वान थे जो अरबी, फारसी, संस्कृत जैसी प्राच्य भाषाएं और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लातीनी, यूनानी और इब्री भाषाएं जानते थे।

जिस समय पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हो तरुण बंगाली ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे उस समय राजा राम मोहन राय हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में सामने आए। एक ओर उन्होंने पादरी प्रचारकों के विरुद्ध हिन्दू धर्म की रक्षा की दूसरी ओर हिन्दू धर्म में आए झूठ और अन्धविश्वासों को दूर करने का भी प्रयत्न किया।

इस संस्था में नया जीवन फूंकने और इसे एक ईश्वरवादी आन्दोलन के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर (1818-1905) को था। वह इस आन्दोलन में 1842 में सम्मिलित हुए और उन्होंने ब्रह्म धर्मावलम्बियों को मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, कर्मकाण्ड और प्रायश्चित इत्यादि से रोका।

केशव चन्द्र सेन इत्यादि, ब्रह्म समाजियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु का प्रचार करते थे। परन्तु 1878 में केशव चन्द्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के अल्पवयस्क महाराजा से पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड से कर दिया। कहा यह गया कि यह सब "ईश्वर की आज्ञा है।" केशव चन्द्र सेन के अधिकतर अनुयायियों ने दुखी होकर एक नया ब्रह्म समाज 'साधारण ब्रह्म समाज' बना लिया। शीघ्र ही केशव चन्द्र सेन का समाज इतिहास के अंधकार की अस्पष्टता में खो गया।

1867 में केशव चन्द्र की प्रेरणा से बम्बई में एक प्रार्थना समाज स्थापित किया गया। परन्तु इन लोगों ने अपने आप को किसी नवीन धर्म का अथवा हिन्दू धर्म के बाहर अथवा साथ-साथ किसी नवीन मत के अनुयायी के रूप में नहीं माना अपितु केवल इस धर्म के अन्दर ही एक आन्दोलन के रूप में इसे स्वीकार किया। एक ईश्वरवाद के अतिरिक्त महाराष्ट्र में समाज सुधार, 'कार्य न कि विश्वास' पर ही बल दिया गया। उनका विश्वास था कि ईश्वर का सच्चा प्यार उसके मनुष्यों की सेवा में ही है। मूल शंकर (1824-83) जो प्रायः दयानन्द के नाम से जाने जाते हैं, का जन्म 1824 में गुजरात की मौरवी रियासत के निवासी एक ब्राह्मण कुल में हुआ। उनके पिता जो स्वयं वेदों के महान विद्वान थे, उन्होंने उन्हें वैदिक वाङ्मय, न्याय-दर्शन इत्यादि पढ़ाया। दयानन्द की जिज्ञासा ने उन्हें योगाभ्यास इत्यादि करने पर बाध्य किया

1875 में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था। जो झूठे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों कालान्तर में हिन्दू समाज में आ गई थीं उन्हें उन्होंने जड़ से फेंकने का प्रण किया। 1877 में आर्य समाज लाहौर की स्थापना हुई जिसके उपरान्त आर्य समाज का अधिक प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द का

नोट

उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनकी इच्छा थी कि आर्य धर्म ही देश का समान धर्म हो। उन्हें समकालीन हिन्दू धर्म तथा समाज में अनेक त्रुटियां देखने को मिलीं। उन्हेंने इन दोनों क्षेत्रों में जीवनपर्यन्त अनथक कार्य किया। उन्होंने अद्वैतवाद को, कि संसार एक माया है, आत्मा-परमात्मा का ही भाग है, उसके अतिरिक्त सब झूठ है, संसार से पलायन ही जीवन का उद्देश्य है, इस दर्शन को उन्होंने शुद्ध वैदिक परम्परा के विपरीत बतलाया। उनके अनुसार प्रकृति सत् है, आत्मा सत् है तथा चित् है और परमात्मा सत्चित् और आनन्द है। उनका नारा था 'पुनः वेद की ओर चलो' न कि वैदिक काल की ओर। उनके सभी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित है। ब्रह्मसमाज तथा थिओसोफिकल सभा पाश्चात्य विद्या पढ़े लोगों को बहुत भाती थी। स्वामी दयानन्द की शिक्षा की मुख्य विशेषता यह थी कि उसमें उन्होंने पाश्चात्य दर्शन, शिक्षा तथा समाज से कुछ भी नहीं लिया। उन्होंने तो केवल यह कहा कि वेद और उपनिषद से परे कुछ नहीं और जिन-जिन रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कर्मकाण्ड अथवा सामाजिक बुराइयों की वेद में अनुमति नहीं है तो वे सभी त्याज्य हैं।

उनकी मृत्यु के पश्चात् 1886 में आरम्भ की गई दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक संस्थाएं शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गईं। स्वामीजी के अनुयायी रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा ज्ञान को भी अपनाया अर्थात् प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्ञान का सर्वोत्तम समन्वय इनमें मिलता है। इन शिक्षा संस्थानों को भी आर्य समाज के दो दल तथा झूठे विश्वासों से निकलने के एक साधन के रूप में प्रयोग किया। 1892-93 में आर्य समाज के दो दल हो गए। एक पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी था। उन्होंने 1902 में हरिद्वार में एक गुरुकुल स्थापित कर लिया जहां प्राचीन वैदिक शिक्षा प्राचीन पद्धति से दी जाती थी और उसी के नमूने पर कई अन्य स्थानों में गुरुकुल बनाए गए।

अमृतसर में सिंह सभा आन्दोलन आरम्भ हुआ। इससे संलग्न एक अन्य संस्था थी मुख्य खालसा दीवान। इन संस्थाओं ने पंजाब में बहुत से गुरुद्वारे स्थापित किए तथा विद्यालय और कॉलेज खोले। सिंह सभा का ही एक छोटा आन्दोलन 'अकाली लहर' थी। 1921 में अकालियों ने गुरुद्वारों के उद्धार के लिए इन महन्तों के विरुद्ध अहिंसात्मक असहयोग सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया।

3.10 अभ्यास-प्रश्न

1. धार्मिक सुधारक के रूप में राजा राम मोहन राय के व्यक्तित्व का एक खाका बनायें।
2. आप स्वामी दयानंद सरस्वती एक समाज सुधारक के रूप में मानते हैं? विवेचना करें।
3. स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवादी विचारों की व्याख्या करे?
4. हिंदू धर्म के लिए स्वामी विवेकानंद का क्या योगदान था।
5. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की और क्यों? क्या यह संगठन अपने सामाजिक सुधार के उद्देश्यों में सफल रहा? मूल्यांकन कीजिए।
6. आर्य समाज के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए स्वतंत्रता आन्दोलन में इस संगठन की भूमिका को रेखांकित कीजिए।
7. सिंह सभा आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
8. आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती को भारत का मार्टिन लूथर कहा जाता है, क्यों? स्पष्ट कीजिए।

3.11 संदर्भ पुस्तकें

- सिंह करण (1970): प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे।
- ताराचंद - भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास।
- बिपिनचंद्र - स्वतंत्रता संग्राम।
- भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड
- सरकार, एस (1983), आधुनिक भारत (1885-1847), नई दिल्ली: मैकमिलन
- प्रधान, राम चंद्र (2008) राज टू स्वराज, नई दिल्ली: मैकमिलन

नोट

नोट

अध्याय-4

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन

(Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 दादाभाई नौरोजी और उनके विचार
4.4 गोपाल कृष्ण गोखले और उनके राजनैतिक विचार
4.5 उग्रपंथी– बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल
4.6 सुभाषचन्द्र बोस– सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधाराएं
4.7 श्री अरबिंदो घोष– कट्टरपंथी राष्ट्रवादी
4.8 वी. डी. सावरकर
4.9 एम. एन. राय और उनके विचार
4.10 गाँधी जी के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विचार
4.11 असहयोग आंदोलन
4.12 सविनय अवज्ञा आंदोलन 1930-1931
4.13 भारत छोड़ो आंदोलन
4.14 सारांश
4.15 अभ्यास-प्रश्न
4.16 संदर्भ पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- नरमपंथियों जैसे कि दादा भाई नैरोजी और गोपाल कृष्ण गोखले के राजनैतिक विचारों की व्याख्या कर सकते हैं।
- चरमपंथियों जैसे बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चंद्र पाल के राजनैतिक चिंतन पर चर्चा कर सकते हैं।
- सुभाष चन्द्र बोस के राष्ट्रवादी विचारों का उल्लेख।
- कट्टपंथियों जैसे कि श्री अरबिंदो घोष और वीर सावरकर के राजनैतिक विचारों का वर्णन कर सकते हैं।
- गांधी जी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों पर चर्चा करने के लिये।

4.2 प्रस्तावना

नोट

राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में गांधी के प्रमुख राजनीतिक हस्ती के रूप में उभरने से पूर्व दो उदारवादी और उग्रवादी विचारधाराएं उभरी है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में न्यायमूर्ति एम. जी. रानाडे डी.ई. वाचा, फिरोजशाह मेहता और दादा भाई नौरीजी जैसे उदारवादी विचारकों का प्रभुत्व था, जिन्होंने भारत में उदारवादी राजनीतिक विचारधारा की नींव रखी। गोपाल कृष्ण गोखले अपने जमाने के एक अग्रणी उदारवादी विचारक थे। आधुनिक विचारक उस उदारवादी राजनीतिक दृष्टिकोण के हिमायती थे और सम्पूर्ण परन्तु क्रमिक सामाजिक विकास के प्रवक्ता थे। वे तिलक, अरविन्दो वी.सी. पाले, और दूसरे उग्रवादी विचारकों से गम्भीर मतभेद रखते थे। भारत में ब्रिटिश राज भारतीय सामाजिक स्थिति की समझ और सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के तरीकों को लेकर उनके उग्रवादियों से मतभेद थे। मोटे तौर पर कहा जाए तो उदारवादी भारत में ब्रिटिश शासक का स्वागत और तारीफ करते थे और यह मानते थे कि इससे भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू होगी। वे सामाजिक और धार्मिक सुधारों पर ज्यादा जोर देते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक विकास के एक न्यूनतम स्तर को पाए बिना मात्र राजनीतिक आजादी का कोई अर्थ नहीं था। उदारवादी राजनीति अथवा राजनीतिक भिक्षावृत्ति का युग–इस युग में दादा भाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, दनिशा वाचा, वोमेश और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे नेता कांग्रेस की राजनीति पर छाए हुए थे और वे लोग 'उदारवादी तथा परिमित राजनीति' में विश्वास करते थे और उन्हें उदारवादी की संज्ञा दी गई ताकि उन्हें आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के नवीन राष्ट्रवादियों से (जिन्हें उग्रवादी अथवा extremists कहते थे) पृथक किया जा सके। ये लोग अपनी राजनीति की व्याख्या 'उदारवाद और संयम' के समन्वय से करते थे। ये लोग भारतीयों के लिए धर्म और जाति के पक्षपात का अभाव, मानव में समानता, कानून के सामने बराबरी, नागरिक स्वतन्त्रताओं का प्रसार और प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की इच्छा करते थे। उनके ढंगों के विषय में महादेव गोविन्द रानाडे ने लिखा था, "संयम का अर्थ यह है कि उस वस्तु की अथवा उन आदेशों की झूठी आशा ही मत करो जो मिलनी असम्भव हैं, अपितु समीपतम वस्तु की ओर समझौते और न्यायसंगत भावना से प्रेरित होकर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ते जाओ।" इस प्रकार उदारवादी दल क्रमिक और संवैधानिक नीतियों में विश्वास करता था। एम.जी. रानाडे के बाद गोखले प्रमुख उदारवादी चिंतक थे। जिन्होंने राजनीति के उदारवादी तरीकों में काफी योगदान दिया। एम.जी. रानाडे के आदर्श शिष्य और महात्मा गांधी के पूज्य राजनीतिक गुरु, गोखले ने रानाडे और गांधी के बीच एक महत्वपूर्ण बौद्धिक कड़ी प्रदान की।

4.3 दादाभाई नौरोजी और उनके विचार

दादा भाई नौरोजी एक पारसी बौद्धिक, शिक्षक और एक प्रारंभिक भारतीय राजनैतिक नेता थे। वे 1892 से 1895 तक युनाइटेड किंगडम की संसद में सांसद थे, और अंग्रेजी संसद के पहले एशियाई सांसद थे। मानेक बाई और नैरोजी पालन दोरदी के बेटे थे, जो एक गरीब पारसी परिवार था, नैरोजी की पढ़ाई आल्फिनस्टोन महाविद्यालय में हुई, और बाद में वे शिक्षक बन गये। 1855 तक वे गणित और प्राकृतिक दर्शन के प्राध्यापक थे। 1855 में वे इंग्लैंड चले गये, पहले उन्होंने व्यापार में काम किया, बाद में वे लंदन के विश्वविद्यालय में कालिज गुजराती प्राध्यापक बन गये। 1867 में नौरोजी ने ईस्ट इंडिया एसोसियेशन (पूर्वी भारत संस्था) की स्थापना में मदद की। 1874 में वे बड़ौदा राज्य के के प्रधानमंत्री बने और साथ ही मुंबई विधान परिषद (1885-1888) के सदस्य भी थे। इंडियन

नोट

नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) की मुंबई में स्थापना से कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने इंडियन नेशनल एसोसियेशन (भारतीय राष्ट्रीय संस्था) की भी स्थापना समान उद्देश्य और प्रथाओं के साथ कोलकाता में की। बाद में दोनों संस्थाओं का विलय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में हो गया, और नैरोजी को 1886 में कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। नैरोजी दोबारा एक बार फिर से ब्रिटेन चले गये और अपनी राजनैतिक भागीधारी को जारी रखा। जुलाई 1892 में सेंट्रल फिन्सबरी में लिबरल पार्टी के लिए चुने गये, वे प्रथम अंग्रेजी भारतीय सांसद थे।

उन्होंने बाइबल की शपथ लेने से इनकार कर दिया था, क्योंकि वे ईसाई नहीं थे। लेकिन उन्हें अपनी छोटी सी किताब अवेस्ता में लिखे भगवान के नाम पर शपथ लेने की अनुमति प्रदान कर दी गई। संसद में उन्होंने आइरिश होम रूल और भारतीय लोगों की स्थिति के बारे में बोला। एक सांसद के रूप में उनके अभियानों और कर्तव्यों के लिए, मुहम्मद अली जिन्नाह जो की भविष्य में मुस्लिम राष्ट्रवादी और पाकिस्तान के संस्थापक बने, ने नौरोजी को सहायता की। 1906 में पुनः नौरोजी को भारतीय राज्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। जब पार्टी में नरमपंथियों और चरमपंथियों के विचारों में मतभेद हो रहे थे तब नौरोजी पार्टी में एक कट्टर नरम पंथी थे। 1917 में उनकी मृत्यु के समय नौरोजी भारत के 'महान बुजुर्ग' और महात्मा गांधी के मार्ग दर्शन के रूप में जाने जाते थे। उनका विवाह 11 वर्ष की उम्र में गुलबाई से हुआ था। प्रत्येक शासन में चाहे वह सबसे दमनकारी शासन हो, कुछ लोग या समूह ऐसे अवश्य होते थे, जो कि उस समय की प्रणाली से लाभान्वित होते हैं। ऐसे ही कुछ मामले ब्रिटिश काल में थे। ऐसे बहुत से राजा, महाराजा, नवाब, जमींदार, तालुकदार, महाजन और साहूकार थे जो कि पूर्ण आत्मविश्वास के साथ और बिना चिंता के रहते थे। लेकिन क्या पूरा समस्त राष्ट्र खुश और संपन्न था?

इसका स्पष्ट उत्तर था नहीं, क्योंकि कुछ वर्ग मौज करते थे तो ज्यादातर जनसमूह को कष्ट भुगतना पड़ता था। यह सांप्रदायिक, आर्थिक तुष्टिकरण था। राष्ट्र ऐसे में आर्थिक राष्ट्रवाद के वातावरण की कमी थी, जिसमें समस्त राष्ट्र तरक्की और उत्पादन जैसे परिणामों का आनंद उठा सकते।

बाल गंगाधर तिलक के अनुसार एक राष्ट्र अब तक आर्थिक दृष्टि से सुधरा नहीं कहा जा सकता जब तक की उस राज़्ट्र के श्रमिक वर्ग की दशा सुधरी हुई ना हो।

भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं, विशेषता उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई के दौरान, ने ज्यादातर लोगों की हालत तरफ विशेष ध्यान दिया ना कि किसी विशेष वर्ग की तरफ। उसी भावना को व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध शिक्षाविद सुधारक सय्यद अहमद खान (1817-1898) ने एक बार कहा था ''मेरे लिए राष्ट्र गौरव का मतलब उस अवस्था से है जब समस्त राष्ट्र संतुष्ट हो, ज्यादातर वर्ग ज्ञान और गुणों से सुसज्जित हो और सभी मौजूदा विज्ञान और तकनीक उद्योग और आविष्कार राष्ट्र में पाए जाएं।''

दादा भाई नौरोजी (1825 से 1917) उन अग्रिम राष्ट्रीय नेताओं में से थे। जिन्होंने आर्थिक राष्ट्रवाद की भावनाओं को उठाया और उसका प्रचार किया। इस सन्दर्भ में अपव्यय का सिद्धांत सबसे महत्वपूर्ण हैं। आगे के पृष्ठों में हम इस सिद्धांत के बारे में और आर्थिक राष्ट्रवाद की प्राप्ति के लिए इच्छा और आंदोलन में इसके योगदान के बारे में पढ़ेंगे। हम उन स्तरों को भी परखेंगे जिनसे दादा भाई नौराजी आर्थिक राष्ट्रवाद से राजनैतिक राष्ट्रवाद या स्वशासन, जो उनका अंतिम लक्ष्य था की प्राप्ति के लिये गुजरे। यह अनुभाग इस टिप्पणी के साथ ही पूर्ण होगा कि आर्थिक राष्ट्रवाद और राजनैतिक राष्ट्रवाद एक दूसरे के पूरक और अनुपूरक हैं और कोई भी सही अर्थों में एक दूसरे की सफलता के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अपव्यय और एक राष्ट्रीय हानि

नोट

दादा भाई नौरोजी अपव्यय के सिद्धांत के आविष्कारक नहीं हैं। लगभग 230 वर्ष पहले 1776 में एड्म स्मिथ ने अपनी रचना 'राष्ट्र की संपदा' में भारत के ब्रिटिश शासकों को ''भारत के लुटेरे'' संबोधित किया था। 1857 में कार्ल मार्क्स ने अपव्यय का उल्लेख करने के लिए लगभग दादा भाई नौरोजी के शब्दों जैसे ही शब्दों का इस्तेमाल किया था। दादा भाई नौरोजी ने स्वयं लगभग एक दर्जन पूर्वज और समकालीन अंग्रेजों का उल्लेख किया है जिन्होंने अपव्यय के लिए प्रमाण दिया है। 19वी सदी में भारत से इंग्लैंड को धन ले जाया गया था जिसने आयात के ऊपर एक तरफा अतिरिक्त निर्यात का रूप ले लिया। यह 1867 में पहली बार दादा भाई नैरोजी ने अपने अखबार ''इंग्लैंड डेबट टू इंडिया'' में अंग्रेजों द्वारा भारत पर अपने शासन का किसी कीमत के रूप में भारत के धन को निचोड़ने के विषय में अपने विचारों को प्रस्तुत किया, और कहा कि भारत की राजस्व आय का लगभग एक चौथाई देश से बाहर चला जाता है और इंग्लैंड की संपदा में जुड़ा जाता हैं। परिणामस्वरूप भारत रक्तरंजित हुआ। दादा भाई नैरोजी ने अपना जीवन अपव्यय के सिद्धांतों के प्रचार करने में लगा दिया और अपव्यय के विरोध में अभियान शुरू किया जो कि उनके अनुसार भारत में अंग्रेजों को शासन ही मुख्य बुराई है।

क्योंकि उस वक्त राष्ट्रीय आय की सांख्यिकीय विधि और मानकीकरण तकनीक बहुत विकसित नहीं था, धन की मात्रा और सीमा जो कि भारत से इंग्लैंड में भेजा गया उसकी मात्रा और सीमा पर मतभेद था। लेकिन तथ्य यह था की उस समय राष्ट्रीय नेताओं के लिए भारत से इंग्लैंड में हो रहा निरंतर अपव्यय एक अविवादित विषय था, केवल बिचौलियों और ब्रिटिश सरकार के कुछ अधिकारी ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया और इसकी आलोचना की। लेकिन सत्य को ज्यादा समय तक नहीं दबाया जा सकता था।

अंग्रेजी शासन के प्रति वफा की अभिव्यक्ति-मनाने की चाल

दादा भाई नौरोजी अंग्रेजों के चरित्र और प्रणाली के प्रशंसक थे। उन्होंने अंग्रेजों का विभिन्न क्षेत्रों में योगदान जैसे शिक्षा, केंद्रीय प्रशासन, राज नैतिक एकता, रेलवे, टेलिग्राफ, अस्पताल, सुरक्षा आदि को खुले दिल से स्वीकारा। लेकिन भारत पर अंग्रेजों के शासन के परिणाम को स्वीकार नहीं कर सके। उनके अनुसार भारत में अंग्रेजी शासन अंग्रेजी चरित्र के विरुद्ध था। अतः उन्होंने अपनी पुस्तक ''पावेर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया'' में एक सच्ची ब्रिटिश सरकार होने की अपनी इच्छा को व्यक्त किया। 01 जुलाई 1900 को इंग्लैंड में एक सभा को संबोधित करते हुए जो कि ''भारतीय सूखा सहायता राशी'' की मदद के लिए आयोजित की गई थी, उन्होंने कहा कि यदि ''यह अब्रिटिश शासन नहीं कर ब्रिटिश शासन होता कि अब्रिटिश शासन जोकि हमें संचालित करता इंग्लैंड इससे वर्तमान से दस गुना ज्यादा लाभान्वित होता''।

दादा भाई नैरोजी ने ब्रिटिश हुकूमत के अनाचार और अपव्यय को सुधारने के लिए मनाने की नीति को अपनाया उन्होंने बार-बार अंग्रेजी सरकार को उनके द्वारा भारतीयों से किए गये वायदे और विश्वास को याद दिलाया। उन्होंने हमेशा ब्रिटिश अधिकारियों को ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भारत का महत्व तथा ब्रिटेन की समृद्धि के लिए भारत की समृद्धि का महत्व बताया। शायद उनके इस मनाने के तरीके को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रस के दूसरे सत्र में दोहराया और कहा कि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के खिलाफ राज्य द्रोह और बगावत करने वाली पौधशाला नहीं थी। यह सरकार की स्थिरता के लिए एक नींव का पत्थर थी। दोबारा 1893 में लाहौर में कांग्रेस के नौवें सत्र में उन्होंने घोषणा की कि ''हमारी कांग्रेस की इच्छा सरकार को सहयोग देने की हैं, वे गरीबी जैसे महत्वपूर्ण विषय

नोट

में उलझे हुए हैं, हम लोग जो की राज्य-सचिव द्वारा खुद महत्वपूर्ण तथा गंभीर आदेश पारित होने के फलस्वरूप राजनैतिक खतरा उत्पन्न होने से हम लोग इसे बचाने के लिए उत्सुक हैं। हमारी इच्छा हैं कि अंग्रेजों के साथ हमारा संपर्क लंबे समय तक बना रहे ताकि हमारी दुनिया के विकसित देशों के बीच बौद्धिक तथा राजनैतिक उत्थान हो। उन्होंने अंग्रेजों तथा अंग्रेजी सरकार से ब्रिटिश सरकार की ताकत को बढ़ाने के लिए सहयोग करने की याचना की।

ब्रिटिश चरित्र और इरादों की वास्तविक अनुभूति

लेकिन यह सभी व्यर्थ था। अंग्रेजों की शोषण तथा दमनकारी नीति में बदलाव का कोई लक्षण नहीं था। इसे महसूस करते हुए दादा भाई नौरोजी, भारत में अंग्रेजी शासन पर अपना असंतोष तथा असहमति व्यक्त करने लगे। क्या यह उचित और न्याय संगत है, क्या यह अंग्रेज थे जिन्होंने युनाइटेड किंगड्म की महानता और वैभव की भारतीयों की कीमत पर बढ़ाया। भारत तथा युनाइटेड किंगड्म के मौजूदा रिश्ता परस्पर लाभ का नहीं, बल्कि केवल मालिक और गुलाम का था। उन्होंने अंग्रेज सरकार द्वारा भारत को दिए गये संरक्षण की सत्यता को बेनकाब किया। उन्होंने कहा ''जिस प्रकार आप किसी भी व्यक्ति द्वारा खुली हिंसा से प्राण तथा संपदा की रक्षा करते हैं, यह ध्यान में रख कर आप खुद ही उस संपदा को ले जाते हो''। 1895 में सरकार द्वारा भारत को उपनिवेश बनाने का लक्ष्य तथा उद्देश्य उन्हें पूरी तरह समझ में आ गया और घोषणा की कि ब्रिटिश भारत निश्चित ही ब्रिटिश का भारत था, ना की भारत का भारत। लेकिन वे मौलिक माँगों को आगे बढ़ाने की उनकी गति धीमी थी।

अपने रूख में बतलाव

दादा भाई नौरोजी ने बल पूर्वक अपव्यय को उजागर किया तथा भारतीय अर्थ व्यवस्था पर पड़ने वाले इसके दुष्परिणाम को अंकित किया। उनके अनुसार यह अपव्यय ही थी जो भारत में अकाल और इसके गहराने का कारण बना आम गरीबी का यह मूल कारण है। यह अपव्यय या पलायन सिर्फ धन का ही नहीं बल्कि राजनैतिक तथा बुद्धिजीवियों का भी था। अपव्यय भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए धीमा जहर था। दादा भाई नैरोजी के अनुसार पहले जो विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को जो क्षति पहुंचाई वह सीमित थी तथा वे एक बार आए ओर चले गये। लेकिन अंग्रेजी शासन भारत में अपव्यय तथा शोषण की कभी खत्म ना होने वाली एक कड़ी थी।

दादा भाई नौरोजी ने भारतीय जमीन से होने वाले अंग्रेजों को चीन के साथ अफीम के व्यापार का भी विरोध किया। उनके अनुसार यह एक अनैतिक कार्य है जो कि अपव्यय की तीव्रता को दर्शाता है। यदि यह बंद हो जाता तो अंग्रेजी सरकार पूरी तरह बेनकाब हो जायेगी। अंग्रेजी सरकार भारत के साथ सौतेला व्यवहार रखती थी। अंग्रेजों के अन्य उपनिवेश जैसे.... ऑस्ट्रेलिया समृद्धि की और अग्रसर थे, लेकिन भारत की स्थिति दिन प्रतिदिन बद से बदतर हो रही थी।

राजनैतिक राष्ट्रवाद तथा स्वशासन का आह्वान

दादा भाई ने अपनी पूरी ताकत को अपव्यय के सिद्धांतों को प्रचार करने मैं लगा दिया। अपने अनेक वर्षों के सुलह के तथा मनाने के बाद उन्हें काफी निराशा हुई जब अंग्रेजी शासन के तरफ से कोई सुधार नहीं हुआ था। इससे उनके अंदर गैर वफादारी की भावना समा गयी जिसका पूरा उल्लेख हमें उनके 1904 तथा 1905 के भाषणों में मिलता है। जिसमें कि उन्होंने घोषणा की कि भारत की दुर्दशा का एक मात्र हल स्वराज है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बनारस सत्र में अपने संदेश में उन्होंने जोर देकर कहा कि ''बिना स्वराज के भारतीय अपना वर्तमान अपव्यय तथा इसके फलस्वरूप दरिद्रता,

नोट

गरीबी तथा विनाश से कभी मुक्ति नहीं पा सकते हैं। इसलिए वे आर्थिक राष्ट्रवाद से राजनैतिक राष्ट्रवाद की और आकर्षित हुए जो कि पहले की प्राप्ति के बिना दूसरे की प्राप्ति नहीं हो सकती हैं। 1876 में अपने लेख, ''भारत की गरीबी'' में उन्होंने इस तथ्य पर जोर दिया कि अंग्रेज भारत की बड़े भाग की निर्यात को काफी पीछे रखने में सक्षम रहा। इसका मुख्य कारण उनका भारत पर राजनैतिक वर्चस्व है। 1896 में वेलबे को लिखे एक पत्र में उन्होंने एक शब्द पर जोर देते हुए कहा कि यह अपव्यय अप्राकृतिक शासन तथा भारतीय संपदा की व्यवस्था किसी बाहरी देश द्वारा होने को परिणामस्वरूप हुआ। उन्होंने बार-बार दोहराया कि भारतीयों को जनरोजगार तथा अपने व्यय में मदद पर पूर्ण भागीदारी हो।

भारतीय राज्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता सत्र में दादा भाई काफी सुनिश्चित थे, जब उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में यह घोषणा की कि भारतीयों की सभी राजनैतिक माँगों को एक शब्द ''स्व-शासन या स्वराज'' में जोड़ा जा सकता है। युनाइटेड किंगड्म या अन्य उपनिवेशों की तरह।

निष्कर्षीय टिप्पणी

1917 में अपनी मृत्यु से 12 वर्ष पूर्व तक दादा भाई नौरोजी इस कारण के लिए संघर्ष करते रहे। लेकिन उनके क्रांतिकारी विचार जो कि उन्होंने भारत वासियों में डाले वो तब तक काम करते रहे जब तक कि भारतीयों ने 1947 में आजादी हासिल की और पूर्व में ब्रिटिश शासन के सूर्यास्त के लिये बाध्य किया। अभी आधी सदी के बीत जाने के बाद राज नैतिक राष्ट्रीयता की प्राप्ति पर, हम एक क्षण रुकें और विचार करें की, क्या हमने आर्थिक राष्ट्रीयता भी हासिल की है? क्या हम अपने आर्थिक रूप से स्व-निर्भर हैं? और क्या हमारे संसाधन राष्ट्र के लिए पूरी तरह उपयोग हुए हैं? क्या विकास का लाभ अधिकतर जनता के लिये उपलब्ध है। फल हमारे विकास और प्रगति के लिये पूरी तरह से उपलब्ध हैं या केवल अतीत की तरह या केवल कुछ वर्गों द्वारा ही इसका आनन्द लिया जा रहा है? यह सच नहीं है कि पचास प्रतिशत से अधिक हमारी जनसंख्या अभी भी गरीबी रेखा से नीचे है। अगर, इस तरह के सवालों के जवाब स्पष्ट रूप से सकारात्मक नहीं है।

हमारी स्वतंत्रता पूरी नहीं है जो सपना महान भारतीय नेताओं ने भविष्य के भारत के बारे में देखा था अभी तक पूरा नहीं हुआ है। ऐसा राजा जिसमें जनता पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हैं और अशिक्षा, भुखमरी और पिछड़ापन से त्रस्त है। विदेशी शक्तियों और आंतरिक अशांति की चपेट लिए एक आसान शिकार है। यह सच है जैसी कि दादा भाई ने परिकल्पना की, कि जनता या आर्थिक समृद्धि या राजनीतिक राष्ट्रवाद या स्वशासन के बिना संभव नहीं है। इसी तरह, यह भी राजनीतिक सच है कि राष्ट्रवाद या स्वतंत्रता कल्याण और जनता की समृद्धि के बिना अधूरा है। इस प्रकार, आर्थिक और राजनीतिक राष्ट्रवाद दोनों एक दूसरे के अनुपूरक और पूरक हैं, और इस के लिए संघर्ष किया जाना चाहिये।

4.4 गोपाल कृष्ण गोखले और उनके राजनैतिक विचार

गोखले के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह देखा जाय कि गोखले का राजनीतिक विकास कैसे हुआ। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी राजनीतिक गतिविधियां उनके विचारों तथा उन प्रभावों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं जिसने उसका मार्ग दर्शन किया।

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई 1866 को रत्नगिरी जिले के एक छोटे से गांव कोतलुक के

नोट

एक मध्यवर्गीय चिंतपावन ब्राहमण परिवार में हुआ। उनके पिता कृष्णराव पहले एक क्लर्क थे किंतु बाद में पदोन्नति पाकर वे पुलिस सब इन्सपैक्टर बने। जब गोंपाल राव मुश्किल से 13 वर्ष के थे तब उनके पिता मृत्यु हो गयी। गोपाल राव के बड़े भाई गोंविन्द राव ने परिवार की जिम्मेदारी कन्धों पर ली। गोपाल राव ने कोलापुर के निकट कगाल में अपनी प्राथमिक शिक्षा पाई और 1881 में हाई स्कूल पूरा किया। उन्होंने तीन विभिन्न कॉलेजों में उच्च शिक्षा ग्रहण की। ये थे कोलापुर का राजा राम कॉलेज, पूना का डक्कन कॉलेज और बम्बई का एलफिन्स्टन कॉलेज जहां से उन्होंने 1884 में स्नातक किया। एक बार उन्होंने इंजिनियर बनने की सोची किंतु अन्त में शिक्षा के उद्देश्य के लिए अपने को समर्पित करने का निर्णय लिया। पुणे में देश भक्त युवाओं का एक समूह 'द न्यू इंगलिश स्कूल' नाम का एक सेकेन्डरी स्कूल प्रमुख राष्ट्रवादी विष्णुशास्त्री चिपलकर की प्रेरणा से चला रहा था। गोपाल राव ने 'दी न्यू इंगलिश स्कूल' में एक अध्यापक की नौकरी कबूल कर ली। डेक्कल स्कूल सोसाइटी के मालिकों को उसकी ईमानदारी ने प्रभावित कर दिया और उन्होंने उन्हें सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना दिया। शीघ्र ही गोपाल राव की पदोन्नति एक प्राध्यापक के रूप में फरगूसन कॉलेज में हुई। यह कॉलेज 'डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी' द्वारा चलाया जाता था, तब से उन्होंने अपने जीवन के 18 साल अध्यापन में लगा दिये।

अपने अध्यापन काल के दौरान उनका परिचय एम.जी. रानाडे से हुआ और तभी सें उन्होंने अपनी प्रतिभा और सेवा को रानाडे के सुयोग्य निर्देशन में सार्वजनिक जीवन के लिये समर्पित कर दिया। वे सार्वजनिक सभा के सचिव बने। यह सार्वजनिक सभा एम.जी. रानाडे ने आम जनता के हितों की अभिव्यक्ति के लिए शुरू की। सभा का एक प्रभावशाली त्रैमासिक पत्र था जिसका गोपाल राव ने संपादन किया। कुछ समय तक उन्होंने सुधारक नाम की पत्रिका के अंग्रेजी प्रभाग में भी लिखा, जिसे 19वीं सदी के महाराष्ट्र के एक दिग्गज समाज सुधारक गोपाल गणेश अगारकार ने शुरू किया था।

1889 में पहली बार गोपाल राव ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्र में हिस्सा लिया और तब से वह उसकी मीटिंगों में एक नियमित वक्ता थे। 1886 में जब तिलक और उनके सहयोगियों ने सार्वजनिक सभा पर कब्जा कर लिया तो रानाडे और गोखले सहित उनके समर्थकों ने अपने आपको इस संस्था से खुद को अलग कर लिया और डेक्कन सभा नाम का एक नया संघ बना लिया। गोखले सभा की गतिविधियों में गहरी रूचि लेते थे। सभा की ओर से उन्हें इंग्लैंड में वेलबी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए भेजा गया जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा ब्रिटिश और भारत सरकार के बीच प्रशासनिक खर्चों के ज्यादा समान बंटवारे के तरीकों के लिए की गई थी। यह उनकी पहली इंग्लैंड यात्रा थी, उनके श्रेष्ठ कार्य ने कई उम्मीदें जगाईं।

1899 में वे बम्बई विधान परिषद के लिये चुन लिये गये। 1902 में वे फरगूसन कॉलेज से रिटायर हुये और जीवन के बाकी 13 साल उन्होंने पूर्ण रूप से राजनीतिक कार्य के लिये समर्पित किये। इस काल में वे बार-बार इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के लिये निर्वाचित हुये। जहां उन्होंने एक प्रमुख सांसद के रूप में अपनी पहचान बनाई। खासतौर से उनके बजट भाषण यादगार बन चुके हैं क्योंकि उनमें बहुत कुछ सकारात्मक था और साथ ही सरकारी अर्थनीति की उसमें निर्भीक आलोचना थी।

महात्मा गांधी की पहल पर गोखले ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के मामले में भी गहरी रुचि ली। 1910 और 1912 में उन्होंने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में नटाल के भारतीय मजदूरों की राहत के लिए प्रस्ताव रखे। गांधी जी के आमंत्रण पर वे 1912 में दक्षिण अफ्रीका गए और वहां भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1913 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका

के सत्याग्रह आंदोलनों की मदद के लिये कोष इकट्ठा किए। गोखले की कठोर दिनचर्या आखिरकार फरवरी 1915 में उनकी असमायिक मृत्यु का कारण बनी।

रचनात्मक प्रभाव

नोट

राजनीतिक विचार और सिद्धांत शून्य में पैदा नहीं होते। उनका उदय एक खास सामाजिक वातावरण में होता है। एक विचारक अपने समय की उपज होता है। गोखले इसके कोई अपवाद नहीं थे। उनके विचार और सिद्धांत मुख्यत: अपने समय के अग्रणी व्यक्तियों और घटनाओं जिनसे उनका सामना हुआ, द्वारा प्रभावित थे। ब्रिटिश शिक्षण प्रणाली की उपज होने के नाते गोखले का जीवन के प्रति एक आधुनिक दृष्टिकोण अपनाना लाजिमी था, जो उनके समय के अंग्रेजी शिक्षित अभिजात वर्ग का चरित्र था। अपने छात्र जीवन में उन्होंने ब्रिटेन के ''पब्लिक स्पीकर'' को कंठस्थ कर लिया था, बेकन के ''ऐसेज'' और ''दि एड्वांस्मेंट ऑफ लर्निंग'' के लेखांश दोहराते थे, फोसेट के राजनीतिक अर्थशास्त्र'' में पारंगत हो गए और बर्क की ''रिफलेक्सनस ऑन दि फ्रेंच रिव्यूलूशन'' को कंठस्थ कर लिया। इन तमाम चीजों का उनके राजनीतिक विचारों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। जोन स्टुअर्ट मिल के उदारवादी विचारों ने उन पर गहरी छाप डाली और वे खास तौर से मिल के राजनीतिक सिद्धांतों से प्रेरित हुए। इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते गोखले खासतौर से आईरिश होमरूल मूवमेंट से प्रभावित थे। यूरोपीय इतिहास से सम्बद्धता, उसकी गतिशीलता और जनतांत्रिक विकास ने उनके विचारों को काफी प्रभावित किया और इससे उन्हें लगा कि पश्चिम से सीखने के लिए बहुत कुछ है।

भारतीय हस्तियों में से गोखले को काफी हद तक एम.जी. रानाडे ने प्रभावित किया। रानाडे के अनुयायी होने पर गोखले को हमेशा गर्व था। वे खासतौर से रानाडे के सामाजिक और राजनीतिक विचारों से प्रभावित थे। हालांकि गोखले को तिलक और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं के बलिदान के प्रति गहरी श्रद्धा थी परन्तु वे उनके राष्ट्रवादी सिद्धांतों की ओर ज्यादा आकर्षित नहीं थे, और इससे वे डी.ई. वाचा और फिरोजशाह मेहता जैसे उदारवादी विचारकों के निकट आए, जो उन पर पार्टी संगठन और तकनीक के मसलों पर काफी प्रभाव डालते थे।

इंग्लैंड में समकालीन उदारवादी राजनीतिज्ञों जैसे मोरले और दूसरों का भी गोखले के राजनीतिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। ग्लैडस्टोन और मोरले के प्रति गोखले का आदरपूर्ण रवैया था और वे विश्वास करते थे कि भारत के शासन में वे न्यायोचित सिद्धांत अपनपाएंगे। गोखले के राजनीतिक विचार निश्चित तौर पर उनके समय के उदारवादी लोकाचार के प्रतिनिधि थे और यह वह उदारवादिता थी, जिसने उनके सामाजिक विचारों और राजनीतिक विचारों को आकार दिया।

राजनीतिक गतिविधयाँ

गोखले अपने राजनैतिक विचार से उदारवादी और संविधानवादी थे। वह यर्थाथवादी या व्यावहारिक आदर्शवादी थे तथा उन्होंने संभव वांछनीय और प्राप्य पर जोर दिया था। उन्होंने व्यावहारिक राजनीतिक क्षेत्र को राजनीतिक नैतिकता में बदल दिया था।

हालांकि ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादार थे और भारत के लोगों के कल्याण के लिए काम करना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजों से कहा कि किसी के देश के प्रति प्रेम भावना गलत नहीं है। उन्होंने इंग्लैंड का सात बार दौरा किया और सबसे प्रभावशाली तरीके से भारत के कारणों का अनुरोध किया। 1897 में अपनी पहली यात्रा के दौरान उन्होंने कहा, ''भारतीय लोगों एक निरंकुश और पूरी तरह से गैर-जिम्मेदार सरकार के अधीन रह रहे थे।'' एक सार्वजनिक सभा में कहा था।

नोट

सन् 1905 में उन्होंने अपने स्वयं के मामलों का प्रबंधन करने के लिए भारतीयों द्वारा स्वयं सरकार और अंग्रेजों का प्रतिस्थापन की मांग की। उन्होंने अपनी वकालत में संवैधानिक तरीके में कहा कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध और अन्य लोकतान्त्रिक प्रक्रियाएं शामिल हैं।

इंग्लैण्ड के अपने सभी दौरे में उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की आवाज वहां के लोगों तक पहुंचाई। वह एक मानवतावादी थे और यूरोपीय वर्चस्व और श्रेष्ठता के मिथक को नहीं मानते थे। उन्होंने अंग्रेजी पुरूषों के प्रदत्त विशेषाधिकारों की निंदा की। उन्होंने कांग्रेस को सरकार से मान्यता प्राप्त मंच में बदल दिया और लोगों ने भी इसका समर्थन किया। उन्होंने कांग्रेस को एक नई दिशा दी और कई संकट से निकलने में मदद की।

लार्ड कर्जन ने एक बार श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि मैं किसी भी ऐसे आदमी से नहीं मिला जो प्रभावशाली ढ़ंग से अपने देश का संसदीय क्षमताओं से वर्णन कर सकता है वह केवल श्री गोखले थे।

सन् 1915 में विलिगडंन ने बंबई के राज्यपाल ने गोखले से संवैधानिक सुधारों पर सुझाव देने का अनुरोध किया। गोखले ने प्रांतों के लिए स्वायत्ता का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि वह भारतीयों के कट्टरपंथी दृष्टिकोण के खिलाफ शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से देश के नियंत्रण ले जाना चाहते थे। इस मुद्दे पर उनके अपने दोस्तों जैसे तिलक और लाजपत राय ने विरोध किया।

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया

अपने समय के अधिकतर उदारवादी भारतीय चिंतकों की तरह ही गोखले ने भारत में ब्रिटिश राज की प्रशंसा की ओर उसका स्वागत किया। उनका यह रवैया दो बातों पर आधारित था। सबसे पहली बात यह थी कि तमाम उदारवादियों की तरह गोखले मानते थे कि भारतीय समाज में ब्रिटिश राज के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। अंग्रेज कानून के समक्ष समानता के सिद्धांत को मानने वाले थे, उन्होंने प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, चाहे सीमित स्तर पर ही सही। उन्होंने प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी। ये तमाम चीजें निस्संदेह नयी थीं। इसके अलावा, अंग्रेजों ने ही भारत में राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया शुरू की। भारतीयों को उनसे सीखने के लिए बहुत कुछ था। इसलिए गोखले का तर्क था कि हमें कुछ समय और उन्हें झेलना चाहिए और उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में प्रगति करनी चाहिए। गोखले मानते थे कि यदि ब्रिटिश राज कुछ समय और रहता है, तो भारत पूरी तरह आधुनिक हो जाएगा और फलस्वरूप यूरोप के अन्य स्वतंत्र राज्यों की तरह राष्ट्रों के समुदाय में शामिल हो जाएगा।

गोखले का मानना था कि अपनी उदार परम्पराओं के अनुसार अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और भारत को उस दिन स्वतंत्रता दे देंगे जब स्वयं भारतीय इस योग्य हो जाएंगे। ''इंग्लैंड की भारत के प्रति प्रतिज्ञा'' की अवधारणा टामस मुनरो, हेनरी लौरेंस और महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणओं के आधार पर बनी थी। यह इस तथ्य के बावजूद कि 1884 से रिपन के वायसराय काल के खत्म होने से लेकर 1917 की अगस्त घोषणा के बाद के तमाम वायसरायों और सचिवों ने जोर देकर भारत में ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं को लागू करने की संभावनाओं को नकार दिया। गोखले का विश्वास था कि अंग्रेजों की उदारवादिता की भावना को अपील करने से, उन्हें भारत की सही सामर्थ्य बताने से अंग्रेज अंतत: मान जाएंगे और भारत में पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं को लागू करेंगे। अंग्रेजों के उदारवाद में इस आस्था के चलते गोखले भारत में अंग्रेजी राज को जारी रखने के हिमायती थे।

नोट

भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने के उनके औचित्य का मतलब यह नहीं था कि वे भारत में अंग्रेजी प्रशासन से पूर्ण रूप से संतुष्ट थे। उदाहरणस्वरूप वे कर्जन प्रशासन के मनमाने पक्ष के कटु आलोचक थे और उन्होंने कई मौकों पर कहा कि अंग्रेज यहां संसदीय प्रणाली को लागू करने में हिचक रहे थे, और उनका उद्देश्य यहां राज करना था न कि प्रजातंत्र स्थापित करना। फिर भी उनका विश्वास था कि अंग्रेजी राज की नियति थी कि वो भारत में अपना मिशन पूरा करते। गोखले ईमानदारी से महसूस करते थे कि जहां तक लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास का सवाल है, भारतीय इतिहास के पास उसे देने के लिए कुछ नहीं है। जुलाई, 1911 में गोखले ने लंदन में हुई यूनिवर्सल रेस कांग्रेस में पर्चा पढ़ते हुए स्वीकार किया था कि, ''भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता का राट्रीय विचार पश्चिम की तरह विकसित नहीं हुआ थां'' उनका मानना था कि देश की सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं को पश्चिम की तर्ज पर सुधारा जाना चाहिए। उनके अनुसार यूरोप का इतिहस लोकतांत्रिक विचारों के विकास की स्पष्ट तस्वीर दिखाता है। इसलिए वह हमारे स्वतंत्रता और लोकतंत्र के विचारों को आकार देने के लिए काफी उपयोगी होगा। अंग्रेजों से संबंध इस मामले में जरूर मदद पहुंचाएंगे। इसलिए उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज का स्वागत किया। अपने मित्र गोखले को उन्होंने एक पत्र में लिख, ''तुम्हें मालूम होना चाहिए कि नौकरशाही की जो भी कमियां हों..... एक अंग्रेज कितनी भी गुस्ताखी करें, आज केवल वे ही देश के विधि व्यवस्था के पक्षधर हैं और बिना किसी विधि व्यवस्था के 19वीं सदी में हमारे लोगों की वास्तविक प्रगति संभव नहीं हैं।'' इस वजह से, गोखले के अनुसार, ब्रिटिश राज भारत में सामाजिक व्यवस्था का पक्षधर था, तो प्रगति की एक पूर्व शर्त थी इसीलिए उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने को न्यायोचित ठहराया।

राजनैतिक लक्ष्य

जैसा कि हमने चर्चा में उल्लेख किया है की गोखले उदार थे, और अपनी उदारवादी तकनीक से निम्नलिखित राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे :

1. रचनात्मक सूझबूझ : गोखले रचनात्मक कार्यक्रमों में विश्वास रखते थे। एक राजनेता के रूप में उनका राजनीतिक दर्शन आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों में निहीत था उन्हें राष्ट्रवाद और जीवन की पवित्रता के बुलंद विचारों के कारण आदर्शवादी कहा गया। वे एक यथार्थवादी थे क्योंकि वे कभी आदर्शवाद से भटकते नहीं थे। उन्होंने कहा कि स्वशासन की प्राप्ति ब्रिटिश साम्राज्य के ढ़ांचे के तहत ही संभव हैं। अत: वे स्वशासन की क्रमिक उपलब्धि की नीति में विश्वास करते थे।
2. उदारवादिता : गोखले ने भारत में ब्रिटिश शासन के लिए वकालत की। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश भारत के संरक्षक के रूप में है और इसलिए उन्होंने निष्ठावान सहयोग की नीति को आगे बढ़ाया। उनको न्याय और निष्पक्षता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर विश्वास था और उन्हें ब्रिटिश उदारवाद पसंद था।
3. राजनीतिक न्याय : गोखले की राय थी कि अंग्रेजी राजनेता भारत के साथ न्याय करेंगे। वर्ष 1902 में भारतीय विधान परिषद में अपने बजट भाषण में उन्होंने कहा कि इस समय जरूरत है कि हम यह महसूस करे कि हमारे पास एक सरकार है, जो विदेशी होते हुए

नोट

भी राष्ट्रीय है और इनके सामने अन्य सभी कार्य पर गौण है जो भारतीय लोगों के कल्याण के लिए अधीनस्थ है, भारत में और भारत के बाहर लोगों की नैतिक और आर्थिक हित को सुधारने के लिए यथा शक्ति प्रयास करे। उन्होंने भारतीयों के बीच एक महान और गौरवशाली सेवा की भावना को जगाया और खुद के लिए अपने लोगों के मन में एक स्थायी जगह बना थी।

भारतीय समाज सेवक

1905 में, जब गोखले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए और वे राजनीतिक जीवन की ऊंचाई पर थे। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उन्होंने ''भारतीय समाज सेवक'' की स्थापना की, जो उनके मन के सबसे करीब रहा– भारतीय शिक्षा का विस्तार गोखले के अनुसार, भारत में राजनीतिक परिवर्तन तभी संभव होगा जब भारतीयों की नई पीढ़ी देश के प्रति भक्ति तथा एक दूसरे के प्रति कर्तव्य के बारे में शिक्षित हो जाए जो उन्हें विश्वास था कि मौजूदा शैक्षिक संस्थान और भारतीय सिविल सेवा भारतीयों के लिए राजनीतिक शिक्षा हासिल करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं, गोखले को विश्वास था कि 'भारतीय समाज सेवक' इस जरूरत को पूरा करने में सक्षम होंगे, अपनी एसआईएस के संविधान की प्रस्तावना में, गोखले ने लिखा कि भारतीय समाज सेवक, एक धार्मिक भावना से देश के हितों के लिए अपने जीवन को समर्पित करने के लिए तैयार लोगों को प्रशिक्षित करेंगे और भारतीय राष्ट्रीय हितों के लिए संवैधानिक रूप से इन्हें बढावा देने के लिए मौके ढूंढें।

इस समाज ने भारतीय शिक्षा को बढ़ावा देने का जिम्मा संभाला और इसके कई परियोजनाओं जैसे चल पुस्तकालयों, स्कूलों की स्थापना, और कारखाने के कर्मचारियों के लिए रात्रि कक्षाएं शुरू करवाई। गोखले की मृत्यु के बाद सोसाइटी ने उत्साह खो दिया हालांकि यह सोसाइटी अभी भी मौजूद है पर इसकी सदस्यता बहुत कम है।

आर्थिक और सामाजिक विचार

जैसे कि हम पहले देख चुके हैं गोखले के आर्थिक और सामाजिक विचार उनकी राजनीतिक सोच के अंग थे। वे सही मायने में एक अर्थशास्त्री न थे न ही एक सामाजिक चिंतक, जिनके पास समाजशास्त्रीय दृष्टि हो। हालांकि कांग्रेस का नेता होने के नाते और विधान सभा का सदस्य होने के नाते गोखले को उस समय की कई सामाजिक–आर्थिक समस्याओं पर सोचना पड़ता था, जिसने उनके आर्थिक और सामाजिक विचारों को जन्म दिया। ये विचार उनके सोचने के तरीके को दर्शाते हैं जिसने उस समय की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को काफी हद तक प्रभावित किया।

जहां तक गोखले के आर्थिक विचारों का सवाल है, वे न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे और जर्मन अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट के ऋणी थे। रानाडे और लिस्ट दोनों के विचार क्लासिकी अर्थशास्त्री जैसे स्मिथ और रिकार्डो से काफी भिन्न थे। रानाडे ने तर्क दिया कि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक परिकल्पना विज्ञान है। और उसकी स्थापनाएं यूक्लिड के समान स्वयंसिद्ध सत्य पर आधारित नहीं है इसलिए वह सभी जगह सभी समय लागू नहीं होता। इसलिए यदि कोई आर्थिक नीति इंग्लैंड के लिए सही है तो कोई जरूरी नहीं कि वह भारत के लिए भी सही हो। इसी बात पर आधरित रानाडे ने भारत में मुक्त व्यापार नीति का विरोध किया जो कि क्लासिकल अंग्रेजी अर्थशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित की गई थी। रानाडे ने तर्क दिया कि भारत को मुक्त व्यापार नीति नहीं बल्कि संरक्षण की नीति की जरूरत है। रानाडे ने देखा कि जर्मनी में राज्य की पहल के कारण ही जर्मनी प्रथम श्रेणी की आधुनिक ताकत में तब्दील हुआ। इसलिए उन्होंने तर्क दिया कि राज्य को औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को तेज करने के लिए पहल करनी चाहिए। प्रो. लिस्ट के समान रानाडे का विचार था कि देश की व्यापार नीति

नोट

आर्थिक नीति से जुड़ी है इसलिए उन्होंने महसूस किया कि सरकार को निजी प्रयासों को तब तक प्रोत्साहन देना चाहिए जब तक कि निजी उद्योग धन्धे अपने आप को चलाने में समर्थ न हो जाये। इसे निजी पूंजीपतियों को काम ऋण पर कर्ज देना चाहिए और उन्हें निवेश और जगह चुनने में मदद करनी चाहिए। रानाडे के अनुसार भारत की सबसे गम्भीर समस्या गरीबी है और यह तब तक दूर नहीं की जा सकती जब तक औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू न हो। ब्रिटिश राज द्वारा चलायी गयी मुक्त व्यापार नीति और मुक्त प्रतियोगिता भारत में औद्योगिकरण के विकास के लिए अनुकूल नहीं है इसलिए रानाडे ने देश के आर्थिक क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा हस्तक्षेप का समर्थन किया।

गोखले ने 1875 से 1908 तक भारतीय वित्त व्यवस्था की गहन अध्ययन किया और इसे चार भागों में बांट कर खर्च में वृद्धि की तुलना राजस्व में वृद्धि से की। परिणाम नीचे तालिका में दिये गये हैं।

राजस्व और खर्च में औसत वार्षिक वृद्धि

काल	राजस्व में वृद्धि	खर्च में वृद्धि
1874–84	1.25%	0.67%
1884–94	1.5%	1.5%
1894–1901	1.5%	1.5%
1901–1909	2.5%	5.0%

(संदर्भ : भारत में 1840–1914 में आर्थिक विचारों का विकास गोपाल कृष्ण पी.के. 1959)

अपने अध्ययन से गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला कि खर्च में वृद्धि आय में वृद्धि से ज्यादा है जब कि दोनों में संतुलन जरूरी है। इसलिए फालतू बजट का कोई मतलब नहीं बनता जबकि आम आदमी का बजट असंतुलित है। फालतू बजट के काल में गोखले ने राज्य के लिए निम्नलिखित कदमों की सिफारिश की :

1. राज्य द्वारा जमीन पर 25 से 30 प्रतिशत मांग की कमी।
2. 10 लाख स्टर्लिंग के एक फंड की स्थापना जिससे भारतीय कृषकों को कर्ज के दबाव से बचाया जा सके।
3. मिस्र की पद्धति के अनुसार कृषक बैंकों की स्थापना जिससे सहकारी ऋण संघों को चालित किया जा सके।
4. औद्योगिकीकरण और तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा और इस कार्य के लिए ज्यादा धन आबंटित करना।
5. निशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा।
6. स्थानीय निकायों की वित्तीय अवस्था को सुधारना।

उपरोक्त प्रस्तावों से जाहिर होता है कि गोखले का मानना था कि फालतू बजट का कोई अर्थ नहीं है जब तक आम आदमी का बजट संतुलित न हो। यदि फालतू बजट हो तो इसे राज्य के विकास कार्यों को बढ़ाने में खर्च किया जाना चाहिए।

गोखले को भारत के कृषि जीवन के विषय में भी जानकारी थी। उन्होंने पाया कि भारत का कृषि उद्योग गंभीर अवनति पर है और प्रति एकड़ उपज काफी कम है। ऐसी सिथिति में उन्होंने साफ कहा कि भू-राजस्व और अप्रत्यक्ष कर गरीबों पर असहनीय बोझ बन जाते हैं। वे चाहते थे कि राज्य कृषि की समृद्धि के लिए सिंचाई और वैज्ञानिक पद्धति पर ध्यान दे। उन्होंने सूती कपड़ों पर

चुंगी का विरोध किया क्योंक उनके विचार से यह आयात पर लगे कर को प्रति संतुलित करने के लिए है। गोखले के विचार से ऐसा करना गरीबों पर दबाव को बढ़ता है।

नोट

जर्मनी अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट का अनुसरण करते हुए गोखले ने भारत में नए उद्योगों को संरक्षण देने की बात कही क्योंकि भारत औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ है और वहां सार्वजनिक प्रतियोगिता उन देशों से शुरू हो जाती है जिन देशों में भाप और मशीन का इस्तेमाल होता है तो वैसी स्थिति में सबसे पहले स्थानीय उद्योग खत्म हो जाते हैं और देश एक बार फिर खेती पर आधारित हो जाता है तब, राज्य की भूमिका आती है। जब ऐसी स्थिति आ जाती है जब राज्य के संरक्षण की न्यायोचित व्यवस्था का विकास करना चाहिए और ऐसे उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए जिनसे कि नवीन तरीकों का इस्तेमाल वह उद्योग कर सके और सारी दुनिया की प्रतियोगिता को झेल सके। मैं जोर देकर कहना चाहूंगा कि भारत की सरकार को इस सुझाव सूची का अनुसरण करना चाहिए। संक्षेप में गोखले ने औद्योगिक विकास की हिमायत की, औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए राज्य की वकालत की, नए उद्योगों के संरक्षण की मांग की और इस तरह उन्होंने पूंजीवाद के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

गोखले सरकार की अर्थनीति की आलोचना पर ही नहीं रूके बल्कि उन्होंने 'स्वदेशी' लक्ष्य की भी हिमायत की। हालांकि वे स्वदेशी को बहिष्कार से नहीं जोड़ते थे। उनके अनुसार स्वदेशी आंदोलन देशभक्ति और आर्थिक दोनों ही था। जहां तक देश भक्ति के पहलू का सवाल है, यह मातृभूमि की श्रद्धा से जुड़ा था किन्तु, इस आंदोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक था। इसने उन वस्तुओं के उपभोग की गारंटी दी, जो देश में उत्पादित होती थी और देशी वस्तुओं की मांग को बनाए रखने में स्थायी उत्प्रेरक का काम किया। गोखले के अनुसार उत्पादन का सवाल पूँजी, उद्यम और कुशलता का सवाल था। और जो कोई भी इन क्षेत्रों में किसी एक क्षेत्र में मदद पहुंचाए उसे स्वदेशी मकसद के लिए एक कार्यकर्ता कहा जा सकता है। गोखले ने स्वदेशी मकसद में सरकारी सहयोग लेने में झिझक नहीं दिखाई। स्वदेशी आंदोलन के जरिए गोखले ने देशी पूंजीवाद के विकास की नींव डालने की कोशिश की है।

सामाजिक सुधारों के मामले में गोखले ने रानाडे का पक्ष लिया। रानाडे की तरह ही गोखले का भी मानना था कि सामाजिक सुधारों के साथ राजनीतिक सुधार भी होने चाहिए। 1890 की शुरूआत में रानाडे ने कुछ सुधारों की हिमायत की जैसे कि 1. पुत्र या पुत्री के विवाह समारोह में एक साल की आय से ज्यादा खर्च नहीं जाना चाहिए, 2. लड़कों की शादी 16, 18, या 20 वर्ष से पहले तथा लड़कियों की शादी 10, 12 या 14 से पहले नहीं होनी चाहिए 3. बहुपति प्रथा पर प्रतिबंध लगना चाहिए 4. 60 वर्ष की उम्र के बाद किसी को शादी नहीं करनी चाहिए, 5. महिलाओं की शिक्षा के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। कमोबेश रानाडे का मानना था कि इन सुधारों को धीरे-धीरे लागू करना चाहिए और सामाजिक परिवर्तन के लिये विधायकी प्रक्रिया द्वारा जहां कीं जरूरी हो, राज्य का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु, रानाडे मोटे तौर पर मानते थे कि ''लोकप्रिय पहल'' सामाजिक परिवर्तन के लिए मददगार होगी न कि थोपे गए कानून। हालांकि यह ध्यान रखने वाली बात है कि तिलक की तरह रानाडे सामाजिक परिवर्तन के लिए राज्य को हस्तक्षेप के पूरी तरह खिलाफ नहीं थे। गोखले न इस मामले में रानाडे का अनुसरण किया। उनका मत था कि राज्य को समाज में प्रगतिशील तत्वों की मदद करनी चाहिए। इस प्रकार, उन्होंने सिविल मैरिज बिल के प्रस्ताव का समर्थन किया। प्रभावशाली और प्रभुत्व वाले थोड़े लोगों की मदद से गोखले चाहते थे कि राज्य सामाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाए।

नोट

गोखले ने जनता के लिए निशुल्क और जरूरी प्रारम्भिक शिक्षा का सुझाव दिया। गोखले प्रारंभिक शिक्षा को सिर्फ पढ़ने और लिखने की क्षमता तक ही सीमित नहीं मानते थे। इसका अर्थ था, व्यक्ति की अधिक नैतिक और आर्थिक सक्षमता इसी कारण निशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के लिए उन्होंने कठोर प्रयास किए। उन्होंने शराब पर प्रतिबंध लगाने की बात की जिससे व्यक्तित्व के विकास के मार्ग की बाधाओं और कठिनाइयों को दूर किया जा सके।

गोखले के बताए गए सुधारों में उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों में उदारवादी आस्थाओं को आसानी से देखा जा सकता है। उदारवाद में व्यक्ति का सम्मान बहुत महत्वपूर्ण होता है। हालांकि यह सम्मान तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि व्यक्ति चेतन और शिक्षित न हो। इसी उद्देश्य से उदारवाद में आस्था रखने वाले गोखले मानव जीवन के इस पहली को सबसे ज्यादा महत्व देते हैं। जैसे व्यक्तित्व का विकास। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में जातिगत बंधन, नस्लवाद, सांप्रदायिक दुर्भाव, अज्ञानता, धार्मिक कठमुल्लावाद, नारी दमन जैसी बाधाएं हैं और इन्हें तुरंत दूर किया जाना चाहिए। इस प्रकार, गोखले का सामाजिक सुधारवाद उनके उदारवादी दृष्टिकोण की उपज थी। उनके राजनीति के आध्यात्मिकरण के विचार व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण, तथा ज्ञानोदश की पूर्व मान्यता थी जो कि उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम से स्पष्ट झलकता है।

राजनीतिक तकनीक

1. संवैधानिक तरीकों में विश्वास : राजनैतिक तकनीकों में गोखले उच्च श्रेणी के उदारवादी थे। भारतीय मांगों को पूरा करने के लिए वे संवैधनिक तरीकों की वकालत करते थे। उन्होंने संवैधानिक आंदोलन की वकालत की और कहा कि संवैधानिक आंदोलन इस तरीके का आंदोलन है जहाँ हम परिवर्तन के हकदार हैं, यह हम कानूनी रूप से चाहते हैं।
2. नैतिक दबाव : हमारी इच्छा को प्राप्त करने का केवल एक ही रास्ता है शासक पर नैतिक दबाब लाया जाये। गोखले सरकार और लोगों के बीच मध्यस्थ थे। उन्होंने कांग्रेस को सरकार की कठनाईयाँ बताई तथा वायसराय को लोकप्रिय आकांक्षाएं बताईं।
3. स्वशासन के लिए खोज : निराश होकर, गोखले ने लार्ड कर्जन द्वारा अपनाई गई दमनकारी नीतियों को देखकर अपने शब्दों को बदला। इस घटना ने ब्रिटिश के प्रति उनकी सोच को बदल दिया। 1905 के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने कहा कि स्वशासन प्राप्ति एक अंतिम उपाय है, जिसके लिये बहिष्कार का प्रयोग किया जायेगा। पंडित मोती लाल नेहरू के शब्दों में वे स्वशासन के महान दूत थे।
4. आपसी सहयोग : गोखले को भारत और इंग्लैंड दोनों के आपसी सहयोग में विश्वास था, उन्होंने देश की नैतिक और आर्थिक प्रगति के लिए योजना बनाई। उन्होंने अंग्रेजों से कहा कि भारतीयों को सरकार में ज्यादा स्थान मिलने चाहिए।
5. पश्चिमी शिक्षा का प्रसार : अंधविश्वास, वहम, रूढ़िवादिता पर आधारित पुराने विचारों से भारतीयों को मुक्त करने के लिए, गोखले ने पश्चिमी शिक्षा को महत्व दिया।
6. देशभक्ति और राष्ट्रवाद : गोखले ने रानाडे के इस दृष्टिकोण को महत्व दिया कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य दिव्य व्यवस्था की योजना में था, और भारत को अत्यंत लाभ के लिये था।" दूसरा, मजबूत राष्ट्रवाद कड़ी मेहनत और बलिदान के माध्यम से बनाया जा सकता है। उनके अनुसार राष्ट्रवाद एक बड़े मकसद के लिए स्वयं को समर्पित करना था।

नोट

7. सरकार के साथ संघर्ष नहीं : गोखले अपने आपको शांति कर्ता मानते थे और सरकार के साथ संघर्ष से अराजकता आयेगी तथा शांति और व्यवस्था भंग होगी। उनके अनुसार धीरे-धीरे भारतीयों को सत्ता का अन्तरण सुशासन के अन्तर्गत ही संभव है।
8. राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण : गोखले द्वारा स्थापित 'भारतीय समाज के सेवक' ने पूर्ण रूचि से राजनीतिक कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना शुरू कर दिया। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी की वकालत की और मातृभूमि के लिए काम करने का वादा किया।
9. साधनों से ऊपर साधन की प्रधानता : गोखले के अनुसार अच्छा उद्देश्य प्राप्त करने के लिए साधन भी अच्छा होना चाहिए, उनका हमेशा मानना था कि उद्देश्य से साधनों को उचित नही ठहराया जा सकता। उनके अनुसार राजनीति और नैतिकता को एक साथ रहना चाहिए, उन्होंने भारत में सभी राष्ट्रवादियों के उद्देश्य के रूप में स्वयं सरकार की बात की लेकिन यह अच्छे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये साधन भी अच्छे होने चाहिये।
10. स्वदेशी आंदोलन : गोखले स्वदेशी आंदोलन के समर्थक थे। यह विदेशी सरकार को हराने के लिए यह एक आर्थिक हथियार नहीं था। स्वदेशी का नियमित रूप से प्रयोग हमें पहले भारतीय होने की याद दिलाता है।
11. वैधानिक और प्रशासनिक सुधार : बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में गोखले ने नौ मांगें रखी : (1) निर्वाचित सदस्यों की संख्या डेढ़ गुना करके परिषद में सुधार और परिषद् द्वारा बजट पास करना; (2) भारतीय परिषद के लिए तीन भारतीय नियुक्त किये जाएँ; (3) ग्राम जिला सलाहकार बोर्ड का सृजन और प्रशासनिक मामलों में जिलाधिकारी अनिवार्यत: उनसे परामर्श लें; (4) भारतीय नागरिक सेवाओं के लिए न्यायिक शाखा कानूनी पेशेवरों से मिलकर होनी चाहिए; (5) न्यायिक और कार्यकारी प्रशासन अलग किया जाना चाहिए; (5) सैन्य व्यय कम होना चाहिए; (6)प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया जाना चाहिए; (7) औद्योगिक और तकनीकी शिक्षा में विस्तार होना चाहिए; (8) ग्रामीण ऋणग्रस्तता से बचा जाना चाहिए।

4.5 उग्रपंथी– बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल

20वीं सदी के आरम्भ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विकास नये ऊँचे उग्र राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में दिखा। यह पूर्व के राष्ट्रवादी आंदोलन का नतीजा था जोकि में 19वीं सदी के अंत में साम्राज्यवाद के आग्रह के परिणामस्वरूप था। 1899 से वाय सराय लार्ड कर्जन के बाद से नई, तानाशाही का प्रतीक था। राजनैतिक भारतीय अब राजनीतिक तर्क और विनम्र आंदोलन के तरीकों के माध्यम से शासकों की राजनीतिक रियायतों से निराश थे। भारतीयों को यह अहसास हुआ कि वे खुद पर निर्भर हों और जन समूह राजनीति के सहारे और ब्रिटेन से आजादी की प्राप्ति के लिए का चारों ओर बड़े पैमाने पर आंदोलन करे।

देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ने भी इसी दिशा में इशारा किया। आर्थिक क्षय और ठहराव, औपनिवेशिक अल्प विकास के फल 19 वीं सदी के अंत में उजागर होने शुरू हो गये। 1987-1900, के अकाल से लाखों लोगों का मारा जाना इसका प्रतीक था।

इस समय कई अंतरराष्ट्रीय घटनाओं ने उग्र राष्ट्रवाद की वृद्धि में योगदान दिया। 1896 में यूथोपिनों ने इतालवी सेना को हराया और 1905 में जापान ने रूस को इन घटनाओं ने यूरोप की श्रेष्ठता के

मिथक को उजागर कर दिया। श्रेष्ठता के मिथक विस्फोट किए। इसी प्रकार आयरलैंड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन में क्रांतिकारी आंदोलनों का प्रभाव था, कुछ संगठित लोग, जो त्याग करने को तैयार थे, जो विदेशी निरंकुश शासन को अपदस्थ करने के लिए निष्ठिचत रूप से सक्षम थे।

नोट

अब एक नया राजनीतिक नेतृत्व उभरा। इसमें सबसे प्रमुख थे। बाल गंगाधर तिलक जो लोकमान्य के नाम से जाने जाते थे, तथा अरविंदो घोष, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपत राय। इन नेताओं का मानना था कि भारतीयों को अपनी खुद की राजनीतिक गतिविधि को अपने स्वयं के बलिदान और, अपने स्वयं के प्रयासों पर भरोसा है। उनके राजनीतिक काम और दृष्टिकोण ने आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास को प्रोत्साहित किया। इसके अलावा, वे भारतीय लोगों की सामूहिक कार्यवाई और उनकी शक्ति में गहरा विश्वास रखते थे। उन्होंने जोर दिया कि जनता के राजनैतिक रूप से जुड़ने पर ब्रिटिश राज्य के लिए राष्ट्रीय आंदोलन दबाना असंभव होगा। उन्होंने इसलिए आम जनता पर राजनीतिक काम के लिए जोर दिया। उन्होंने इस बात से इनकार किया कि ब्रिटिश शासन में भीतर से सुधार किया जा सकता है। उभरते राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य स्वराज या स्वतंत्रता था।

बाल गंगाधर तिलक

तिलक का जन्म 23, जुलाई 1856 को रत्नागिरी में हुआ था। उनके पिता श्री गंगाधर रामचंद्र तिलक रत्नागिरी में पहले एक सहायक शिक्षक थे उसके बाद में थाणे एवं पूना में सहायक शिक्षा उप-निरीक्षक थे। मां पार्वती बाई का जब गंगाधर तिलक 10 साल के थे, निधन हो गया। 1857 के विद्रोह के विभिन्न कारण थे- राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सैन्य और तात्कालिक। लार्ड डलहौजी की नीति के संबंध में था, राजनीतिक कारण लार्ड डलहोजी का कुशासन था। ब्रिटिश नीति के कारण भारतीयों को हानि आर्थिक कारण था। नई प्रणाली ने किराए का भुगतान नकद करना अनिवार्य बना दिया। ग्रामीण अर्थव्यवस्था पूरी तरह अव्यवस्थित हो गई। जीवन सामाजिकरण था पश्चिमी जीवन शैली को पसन्द न करना। तत्काल कारण तेल कारतूस की खबर था। कारतूस का तेल गाय और सूअर की चर्बी से बना था जो हिंदुओं व मुस्लिम दोनों को प्रभावित करता था। 1857 के विद्रोह की असफलता के एक से अधिक कारण थे। सबसे पहले एक आंदोलन को सफल बनाने के लिए पहली शर्त उद्देश्य की एकता पूरी तरह अनुपस्थित थी। दूसरा, आंदोलन केवल स्थानीय था न की देश व्यापी। यह मध्य भारत के ऊपरी गंगा प्रांतों तक ही सीमित था। तीसरा, आंदोलन की वांछित सफलता के लिए विद्रोहियों का नेतृत्व करने वालों का अभाव था। कोई एक नेता नहीं था जो एक बिखरे हुए तत्वों को समेकित कर सकता था, चौथे आंदोलन में भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा दिए गए योगदान की कमी थी। हालांकि 1857 का विद्रोह में समाप्त हो गया, लेकिन इसने युगांतरकारी परिणाम प्रस्तुत किए। ईस्ट इंडिया कंपनी विलुप्त होना शुरू हो गई और ब्रिटेन ताज के तहत भारत में विलय की नीति को छोड़ दिया। कंपनी शासन ने भारत को आर्थिक विकास व राजनैतिक स्वतंत्रता को कम कर दिया।

शिक्षा और बचपन

तिलक के पिता अपने बेटे की शिक्षा की देख रेख करने के लिए लंबे समय तक जिन्दा नहीं रहे। अगस्त 1872 में अपने पिता की मृत्यु के बाद में तिलक को 16 साल की उम्र में एक अनाथ आश्रम छोड़ दिया गया। लेकिन कैसे भी उन्होंने अपने पिता की मृत्यु के बाद निर्बाध रूप से और अपनी पढ़ाई जारी रखी और चार महीने बाद मेट्रिक पास की। उन्होंने डेक्कन कालेज में प्रवेश लिया। 1876 में बी.ए. परीक्षा ऑनर्स के साथ पास की तथा बंबई विश्वविद्यालय से एलएलबी की डिग्री 1879 में ली। कानून का अध्ययन करते हुए उन्होंने श्री आगरकर से दोस्ती की जो बाद में फर्गुसन

नोट

कालेज के प्रिंसिपल बने और इन दो युवाओं ने कई रातें अपने देशवासियों के लाभ के लिए योजना बनाने में बिना सोये निकाली। अंततः उन्होंने सरकारी सेवाओं को स्वीकार न करने का निश्चय किया और युवा पीढ़ी को शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से एक निजी हाई स्कूल और कालेज शुरू किया। तिलक और आगरकर ने श्री चिपलूनकर की योजना के बारे में सुना और प्रदत्त किया और तीनों के साथ एम. बी. नामजोशी भी जुड़ गये जो असाधारण ऊर्जा वाले व्यक्ति थे।

श्री एम.बी. नामजोशी, मेसर्स, चिपलूनकर और तिलक ने 2 जनवरी, 1880 को पूना में नए अंग्रेजी स्कूल की शुरुआत की। तिलक ने 5 साल तक पढ़ाया इसी के साथ स्कूल में दो अखबारों मराठा और केसरी, शुरू कर दिया और उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी।

इस नए स्कूल ने जल्द ही पूना स्कूलों में पहला स्थान प्राप्त कर लिया। केसरी एवं मराठा डेक्कन में अग्रणी समाचार पत्र बन गए। स्कूल और कॉलेज के साथ तिलक के सम्बन्ध 1890 में समाप्त हो गये। इस व्यवधान के कई और कारण थे। वर्ष 1888 में श्री तिलक और श्री आगरकर के बीच सामाजिक एवं धार्मिक सवालों पर मतभेद हो गया।

प्रोफेसर छात्रे ने टिप्पणी की है "तिलक की बुद्धिमत्ता सूरज की प्रतिभा की तरह है।" तिलक का एक दोस्त, शारंगपाणी, तिलक की निम्नलित घटना से जोड़ा है। वे अपने कमरे में परेशान घूम रहे थे। तब शारंगपाणी ने पूछा तो तिलक ने उत्तर दिया कि वे अभिन्न आंकलन के बारे में सोच रहे हैं। शारंगपाणी ने कहा तुम प्रोफेसर छात्रे से क्यों नहीं मिले? तिलक ने जवाब दिया मैं इस समस्या का हल जानता हूँ जैसा कि हमारी पाठ्यपुस्तकों में है परन्तु मैं इसे नए तरीके से हल करना चाहता हूँ। तिलक की शिक्षाओं की प्रतिभाशाली छात्रों द्वारा प्रशंसा की गई है लेकिन सामान्य छात्रों के लिए यह मुश्किल थी।

एक बार उन्होंने कहा कि गणित में कविता है लेकिन इस कविता की विशेषता को समझने की आवश्कता है कि जिस प्रकार तुम कविता को पढ़ते हुए महसूस करते हो, मैं खगोल विज्ञान का अध्ययन करते हुए उनकी और अपनी गणितीय संगठना करते समय तारों की सुन्दरता देखता हूँ और कहा, मेरे अनुसार जो गणित नहीं समझता इस व्यक्ति के पास दोषपूर्ण बुद्धि है।

वेदों में ध्रुवक्षेत्र

तिलक ने अपनी पसंदीदा किताबें ''भगवद् गीता'' और ''ऋग्वेद'' के लिए खुद को समर्पित किया। वेदों के कालक्रम कें उनके शोध के एक परिणाम के रूप में, उन्होंने अपने एक लेख लिखे जिसमें वेदों की प्राचीनता का वर्णन किया जिसकी पूर्ण खगोलीय टिप्पणीयों से हुई है उन्होंने अपनी शैक्षणिक गतिविधियों के साथ वेदों और अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रंथों तथा भारतीय विद्या, खगोल विज्ञान और ऐसे विषयों पर प्रख्यात लेखकों द्वारा पुस्तकें को पढ़ने में समय लगाया।

प्रो. मैक्स मूलर ने अपने द्वारा संपादित और भाषित ऋग्वेद की एक प्रति तिलक को भेजी। वे प्रो. मैक्स मूलर वैदिक छंद की व्याख्या से सहमत नहीं थे। हालांकि वे उनका बहुत आदर करते थे। तिलक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ऋचायें उत्तरी ध्रुव के पास किसी ध्रुवीय क्षेत्र में लिखी गई होगी। उन्होंने मैक्स मुलर द्वारा दिए गए अर्थ को स्वीकार नहीं किया। तिलक ने उत्साह में आकर एक किताब लिखने का फैसला किया जो इस शोध पर आधारित थी की आर्यों की मातृभूमि ध्रुव क्षेत्र में थी।

''पत्थर की दीवारें जेल नहीं बनाती हैं, और न ही लोहे के सलाखें एक पिंजरे।''

यद्यपि तिलक जेल में ऊंची दीवारों से घिरे हुए एक एकान्त कक्ष में थे। उनका मन को अंतरिक्ष से परे था और उन्होंने चार हजार साल पहले आर्टिक में रहने वाले ऋषियों के द्वारा लिखी गयी ऋचा को महसूस किया।

नोट

उन्होंने भू-विज्ञान और पुरातत्व पर किताबें पढ़ी और तथ्य इक्कठा करके स्थानांतरित किया और एक तार्किक और व्यवस्थित तरीके से अपनी पुस्तक की योजना बनाई। 1902 की गर्मियों में थे सिंहगढ़ किले में रहने के लिए चले गए जहां उन्हें एकांत और किताब लिखने के लिए शांति मिली। वह अपने साथ लेखक गोपाल राव गोगटे को ले गए, जिनसे उन्होंने अपनी किताब "द अर्टिक होम ऑफ वेदास" लिखवाई।

"द अर्टिक होम ऑफ वेदास" 1903 में प्रकाशित हुई। तिलक ने अपनी प्रस्तावना में लिखा कि मेरा अनुमान है कि वैदिक ऋषियों के पूर्वज अंतर - हिमनद काल अध्ययन में आर्कटिक घर में रहते थे इसकी पुष्टि अनेक वैदिक प्रमाणों से होती है। यह 13 अध्यायों में विभाजित था, जो आर्कटिक क्षेत्र का एक वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करता है और बताता है कि प्राचीन समय में आर्कटिक क्षेत्र में आदमी का निवास करते थे। वे वैदिक साहित्य पर पूरी तरह निर्भर नहीं थे बल्कि उन्होंने भू-विज्ञान, वेदांग ज्योतषि और भाषा विज्ञान के प्रकाश में इकट्ठे किये साक्ष्यों का भी विश्लेषण किया।

पहले तीन अध्यायों भू-वैज्ञानिक तथ्य उस अवधि की समस्या पर प्रकाश डालते हैं।

नौवें अध्याय में, तिलक वैदिक मिथकों तथा वृत्र और इंद्र के बीच युद्ध की एक नई व्याख्या देते हैं एक लम्बी रात के बाद एक लम्बा दिन सिर्फ उत्तरी ध्रूव में होता है। ऐसे मिथक इस क्षेत्र से सम्बंधित थे।

अपने द्वारा एकत्रित सभी सबूत से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आर्यों की मूल मातृभूमि ध्रुवीय क्षेत्र है।

देश के प्रति समर्पण

जब भारतीय आंदोलन में राष्ट्रवाद की इस नई भावना को ढ़ाला जा रहा था, बंबई प्रेसीडेंसी में ऐसी घटनाएँ हुई जो, स्वभावत: केवल प्रांतीय थी, उन्होंने अपने प्रभाव से, राष्ट्रवाद की लहर को प्रफुल्लित करने के लिए योगदान दिया। बंबई प्रांत में और विशेष रूप से डेक्कन में, श्री बाल गंगाधर तिलक में संरक्षण राष्ट्रवाद की भावना अधिक प्रबल और सक्षम रूप से प्रकट हुई। श्री तिलक भारत के निर्माताओं में से एक थे, उन्होंने स्वराज के संघर्ष में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1885 में स्थापित की गयी। यह एस.एन. बनर्जी, न्यायमूर्ति रानाडे और कई अन्य प्रख्यात नेताओं द्वारा विकसित एक राष्ट्रीय मंच था।

कांग्रेस के कट्टर समर्थक होने के बावजूद तिलक कांग्रेस में आमूल परिवर्तन के पक्षधर रहे। दादाभाई नौरोजी के एक प्रशंसक होने के नाते उन्होंने अपने संपादकीय के माध्यम से कहा कि दादा भाई नौरोजी राजनैतिक धर्म के नए उपदेशक है जिन्होंने हमें सिखाया है कि भारत हमारी माँ और भगवान है। हम सब भारतीय भाईचारे से बंधे हैं और हमारा धर्म अपने देश को राजनीतिक और सामाजिक कष्टों से मुक्ति की ओर नि:स्वार्थ रूप से ले जाना है।

सबसे पहले वह हिंदू कट्टरपंथियों के एक प्रभावशाली हिमायती के रूप में 1891 में प्रमुखता में आये। उन्होंने अंग्रेजों का प्रबल विरोध किया और सरकार के एक मजबूत आलोचक के रूप में उभरे उन्होंने क्षमता और शक्ति के साथ एक आंदोलन का नेतृत्व किया और एक उत्कृष्ट लोकप्रिय नेता के रूप में पहचाने गए। 1893 में तिलक बंबई विश्वविद्यालय के फैलो बने। चुनाव डाक मतपत्र द्वारा आयोजित किया गया था। 1895 में वे पूना नगर पालिका के लिये चुने गए और इसी वर्ष में बोम्बे विधान परिषद के लिए चुने गए। उस समय चुनाव 1892 के चुनाव सुधार अधिनियम के अनुसार आयोजित किए गए जिनमें यह प्रावधान था कि प्रतिनिधि का चुनाव नगर पालिकाओं और जिला बोर्ड किया जायेगा। तिलक ने सेंट्रल जोन से चुनाव लड़ा और 65 में से 35 वोट लेकर विजयी हुए।

नोट

तिलक ने यह भी कहा कि हालांकि 1870–1895 में बंबई प्रेसीडेंसी की आय बढ़कर साढ़े पांच करोड़ रुपये हो गई। किन्तु सरकार ने यह धन बजाय लोगों के कल्याण पर खर्च करने के विभागीय खर्च को पूरा करने के लिए इसका दुरुपयोग किया था। उन्होंने प्रशासनिक व्यवस्था में खामियों को उजागर किया। 1897 में, जब उनपर राजद्रोही गतिविधियों के लिए मुकदमा चलाया गया तो उन्होंने तुरंत विधान परिषद से इस्तीफा दे दिया। जब 1896 के अकाल के दौरान वे महाराष्ट्र के किसानों को संगठित कर रहे थे सरकार ने उनकी आवाज को दबाना चाहा किया।

कानूनी कुशाग्र बुद्धि के साथ तिलक सख्ती से कानून की रूपरेखा के भीतर रहकर काम कर रह थे। अत: सरकार उनके खिलाफ कोई कार्यवाई नहीं कर सकती थी। सरकार के लिए एक मौका फिर से आया जब 1897 में पूना में प्लेग जैसी महामारी फैली तब इसके लिये कोई टीका नहीं बना था और हजारों लोगों की जान चली गयी। सिर्फ तिलक थे, जो चुप नहीं रहे। उन्होंने इस अवसर पर लोगों का विश्वास जीतने के लिए सब कुछ किया। 16 फरवरी 1897 के केसरी में, उन्होंने प्लेग से प्रभावित रोगियों को अलग करने के पक्ष में लिखा। उन्होंने इस अन्धविश्वासी धारणा के खिलाफ बात की कि अस्पताल मौर के कक्ष हैं। उन्होंने सरकार से अलगाव के लिए आग्रह किया और लोगों से सहायता के लिए आग्रह किया उन्होंने सरकार द्वारा बनाये प्लेग के एक अलग अस्पतालों के अलावा और प्लेग अस्पताल बनाने में अग्रणी भूमिका निभाई।

12 जून वह दिन था जब छत्रपति शिवाजी महाराज को राजा का ताज पहनाया गया। प्रोफेसर सी.जी. भानु ने इस दिन को जश्न मनाने के उद्देश्य से तिलक ने शिवाजी महाराज द्वारा अफजल खान की हत्या का उल्लेख किया। अपने अध्यक्षीय संबोधन के में कहा शिवाजी ने अफजल खान की हत्या करके कोई पाप नही किया उन्होंने यह अपने हित के लिए नहीं बल्कि लोगों के हित के लिए किया था। शिवाजी महाराज ने हमलावरों को बाहर निकालने का प्रयास किया और यह कोई पाप नहीं है।

टाइम्स आफ इंडिया ने तिलक की शिवाजी और अफजल खान पर टिप्पणी के संदर्भ में यह आरोप लगाया कि उन्होंने अफजल खान की हत्या का समर्थन किया है। तिलक ने अखबार द्वारा गलत बयानी के खिलाफ विरोध किया और अपने ऊपर लगाये गये उनके राजद्रोह के आरोप से इनकार किया।

नरमपंथी यह विश्वास करते थे की ब्रिटिश शासन भारतीयों के लिए एक आर्शीवाद की तरह है। ब्रिटिश शासन में भारतीयों को आधुनिक ज्ञान को आत्मसात करने का अवसर मिला, नई औद्योगिक तकनीक सीखने तथा घिसे पिटे सामाजिक व्यवस्था से खुद को आजाद कराने का अवसर मिला।

तिलक को इस दृष्टिकोण से प्रबल उम्मीद थी। उन्होंने लगातार ब्रिटेन और भारत के बीच हितों के विरोध पर बल देते रहे। जब एक देश दूसरे देश पर शासन करता है तो हर सरकार अपना हित देखती है। यह स्वयं के लाभ के लिए कार्य करती है लेकिन गुलामों के लिये तिलक ने कहा "आप जो भी चाहते हैं आप अपने दृढ़ संकल्प, दृढ़ता और साहस के माध्यम से इसे प्राप्त कर सकते हैं। अगर सरकार मजबूत है तो यह सहायता से हुआ है। आपकी कमजोरी आपको ताकत देता है। आपकी अज्ञानता आपकी क्षमताओं के बारे में शक्ति दे।

1905 में रूस पर जापान की जीत ने एशिया के लोगों के मन को हिला दिया। एशियाई द्वीप के संगठित और साहसी लोग यूरोप में ताकतवर सम्राट के खिलाफ किसी भी प्रकार का बलिदान देने के लिए तैयार थे। तिलक का विश्वास जनता की शक्ति में था और उन्होंने कुछ साल तक अपने सभी साधन लोगों को उत्तेजित करने और जगाने में लगा दिये। "जनता की इच्छा और उनकी संभावित शक्ति असहयोग के लिए सदा ही एक असाधारण बल का गठन करती है।"

जनता की राय की शक्ति उनकी अपनी दृढ इच्छाशक्ति में निहित है यह समर्थन की संख्या द्वारा नहीं आँका जा सकता। जैसे तिनकों के ढेर को किसी उपयोगी उद्देश्य को पूरा करने के लिए साथ नहीं रखा जाता लेकिन उन्हीं तिनकों को मोड़कर एक मजबूत रस्सी बनाया जा सकता है जोकि हाथी को भी खींच सकती है।

नोट

भारतीय राष्ट्रवाद/प्रारंभिक राष्ट्रवादी गतिविधियों का अम्युदय

राष्ट्रवादी आंदोलन की नींव राजा राममोहन राय तथा डेरोजिओ और उनके शिष्य द्वारा कंपनी के शासन के अन्तिम तीन दशकों के दौरान रखी गई थी। राजनीतिक जागृति बंगाल में उदित हुई। राजा राम मोहन राय आधुनिक भारत के जनक के रूप में प्रशंसित किया गया है।

1857 से पहले की राजनीतिक गतिविधियों की चार प्रमुख विशेषताएँ थी। पहली थी "याचना की राजनीति" जो इस विचार पर आधारित थी, कि ब्रिटिश धीरे-धीरे अपनी भारतीय रियाया को अधिकार प्रदान करने के बारे में सोचेंगे। यह इस देश में ब्रिटिश शासन के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य को पहचानने में विफल रही। इसमें ब्रिटिश स्वामियों के साथ शिकायतों को दूर करने और धीमी गति से भागीदारी को हटाने की मांग की। राष्ट्रवादी आकांक्षा के इस पहलू में तब तक कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुए। जब तक गांधी ने प्रतिरोध की राजनीति की शुरुआत नहीं की, निदेर्षित संवैध निकता वाले नए नेताओं ने वैध संघों के माध्यम से काम किया। उन्होंने अंग्रेजी में बात की और लिखा, शासकों के सामने मांगों को प्रस्तुत किया। हालांकि उनकी आवाज शायद ही अनपढ़ आम लोगों तक पहुंची और उनकी गतिविधियाँ बड़े शहरों तक केन्द्रित रही।

1857-58 की घटनाओं ने देश में एकता में अभाव पर बल दिया। विदेशी शासकों प्रशासनिक एकता थोप दी गई थी। विद्रोहियों को अपने लिए कोई राष्ट्रीय नेता नहीं मिला न ही राष्ट्रीय रणनीति और न ही एक राष्ट्रीय कार्यक्रम तैयार किया जा सका। इस प्रवृत्ति के परिणतस्वरूप ए.ओ. ह्यूम ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव रखी। तीसरे, राष्ट्रवादी विचारों के लिए प्रेरणा प्रदान करने की अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ब्रिटिश भारत के प्रांतों के बीच काफी असमानता बढ़ा दी। शिक्षित वर्ग का विकास तीन तटीय सूबों में केंद्रित था जहाँ ब्रिटिश शासन का प्रभाव देश के अन्य भागों की तुलना में बहुत गहरा था। राष्ट्रवादी भावनाओं और गतिविधियों की तीव्रता अंग्रेजी शिक्षा की दर साथ बदलती रहती थी। मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षित हिंदुओं द्वारा प्रायोजित राष्ट्रवादी विचारों और गतिविधियों से पूरी तरह खुद को अलग रखा। वे राजनीतिक सत्ता के अपने नुकसान के साथ मानसिक रूप से खुद का सामंजस्य नहीं बना सके और नई राजनीतिक व्यवस्था के साथ समायोजन नहीं रख सके। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को स्वीकार करने और अरबी और फारसी में शिक्षा की अपनी पारंपरिक प्रणाली तक खुद को सीमित किया। परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी आंदोलन एक हिन्दू आंदोलन के रूप में पैदा हुआ।

भारतीय प्रतिनिधित्व में वृद्धि के लिए मांग

तिलक भारत के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार को सुरक्षित करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि वे 1919 के भारत सरकार के अधिनियम के प्रावधनों से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने सोचा कि 1919 के अधिनियम द्वारा किए गए सुधार बहुत छोटे थे, लेकिन उन्होंने लोगों की चुनाव लड़ने और परिषद में अधिक से अधिक सीटें जीतने के लिए सलाह दी। बाद में कांग्रेस सभा की परिषद के चुनाव के समय इंग्लैंड से लौटने पर उन्होंने डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की जितने संभव हो उतने निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने के लिए लोगों से कहा। 1857-97 के बीच सुधारों ने नौकरशाही के हाथों को मजबूत और लोगों को असहाय बनाया। इसलिए तिलक परिषदों को लोगों के प्रति जिम्मेदार बनाना

नोट

चाहते थे ताकि सरकारी विभागों की तानाशाही की जाँच की जा सके। उन्होंने लोगों को उनकी इच्छा के अनुसार सरकार का संचालन करने के लिए उनके प्राकृतिक अधिकार पर बल दिया।

एक यथार्थवादी के रूप में उन्होंने सुधारों की मांग की। "पहले एक कदम की मांग ताकि दूसरा कदम पहले से ज्यादा आसान हो जाये। उनके लिए अंतिम चरण विधायी निकायों के माध्यम से राज्यपालों और उप राज्यपालों का चुनाव था। तिलक ने मोंट फोर्ड सुधारों पर प्रतिक्रिया दी और बल दिया कि "मेरे पास मेरे घर की चाभी होनी चाहिए।'' स्वराज हमारा अंत है। तिलक के विचार संवैध ानिक रूप से महत्वपूर्ण थे। उन्होंने इन विचारों को तथा अपनी मांगों को मनवाने के लिए लोगों से आग्रह किया। उन्होंने लोगों को चेतावनी दी, कि ब्रिटिश लोगों का स्वार्थ तथा उनके उदार चरित्र से बड़ा है और किसी को कुछ भी मिलेगा। जब तक वे इसके लिए प्रबल रूप से प्रयास नहीं करेंगे।

राष्ट्रवाद

बाल गंगाधर तिलक कांग्रेस के नेताओं में से एक थे। नब्बे के दशक में बाल गंगाधर तिलक द्वारा प्रयुक्त शब्द स्वराज 1906 में पहली बार कांग्रेस के मंच से इस्तेमाल किया गया और यह "अगले चालीस साल के लिए भारत का सिंह नाद" बन गया। 1897 में तिलक और महाराष्ट्र के कई अन्य नेताओं को अफवाह फैलाने और लेखन के आरोप में लम्बे कारावास सजा सुनाई गई।

महाराष्ट्र में तिलक ने पुराने दिग्गजों, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले के नेतृत्व में संचालित समूह के विभाजन के बाद पूना सार्वजनिक सभा पर नियंत्रण कर लिया। वे 1897 में अपने कारावास के परिणामस्वरुप वे एक अखिल भारतीय राजनीतिक हस्ती बन गए। उन्होंने कहा कि भारतीय किसी भी सफलता को हासिल नहीं कर सकते अगर हम एक मेंढ़क की तरह वर्ष में एक बार टरटरायेंगे।

1898 में जेल से रिहा होने पर, तिलक ने खुद को 1899 के कांग्रेस अधिवेशन में असफल पाया। महान मराठा नायक की उपलब्धियों को याद करने के लिए उसके द्वारा प्रायोजित शिवाजी महोत्सव एक राष्ट्रीय उत्सव के रूप में बंगाल में स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस के पुराने नेता, संवैधानिक तरीकों के लिए दृढ़ता से प्रतिबद्ध थे 'जनता की जागृति दिलाने वाले बल के प्रयोग से आशंकित थे।' अंतर मुख्यत: पद्धतियों में था। 'पुरानी पार्टी' जो ब्रिटिश सरकार से याचना में यकीन रखती थी उसे 'नरम पंथी पार्टी' के रूप में जाना जाने लगा। इस विश्वास को तिलक और उनके समर्थकों द्व ारा प्रसारित नहीं किया गया जिनको चरमपंथी के रूप में जाना जाने लगा। वे अपने प्रयासों से लक्ष्य को प्राप्त करने में विश्वास करते थे। वे 'राजनीतिक हथियार बहिष्कार' के प्रयोग में विश्वास रखते थे। चरमपंथी नेताओं ने स्वदेशी उद्योगों की स्थापना, तकनीकी शिक्षा की शुरूआत और क्रांतिकारी उग्रवाद की स्थापना की।

कांग्रेस के अंदर अतिवादी विचारधारा की एक विशेषता राष्ट्रवाद की अपनी पहचान थी, जिसे तिलक हिंदुत्व की भावना कहते थे। उन्होंने लोगों के विभिन्न वर्गों की जागृति प्रयोजन के लिए "पुनरुत्थानवाद" का इस्तेमाल किया और उनके आत्मविश्वास को मजबूत बनाने के लिए उन्हें समझाया कि यह एक सच्ची सामाजिक, धार्मिक विचारधारा कहा। लेकिन वह सांप्रदायिक नहीं थे। हिंदुत्व पर उनका जोर एक धर्म के रूप में था। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता की आवश्यकता के लिए लखनऊ पैक्ट (1916) के लिए प्रमुख योगदान दिया और दो समुदायों के बीच एकता लाने का प्रयास किया। एक बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन 1916 में कांग्रेस के अंदर हुआ। तिलक के चरमपंथ होने कारण तिलक को 1907 के सत्र से बाहर रखा गया लखनऊ में के एनी बेसेंट और बिपिन चंद्र पाल के सहयोग से वार्षिक अधिवेशन में शामिल हुए संगठन पर नियंत्रण हासिल किया।

1914 में जेल से छूटने के बाद तिलक ने अपने राजनीतिक विचारों को काफी संशोधित किया। 1915 में पूना में उनके द्वारा आयोजित एक प्रांतीय कांग्रेस में उन्होंने कहा कि भारत के हित के लिए ब्रिटेन को यह युद्ध जीतना चाहिए ताकि स्वराज की आकांक्षापूर्ण हो। उन्होंने 'हिंसा के कृत्यों' को राजनीतिक प्रगति के रास्ते में बाधक मानते हुए इसकी निंदा की। उन्होंने उनकी धार्मिक और सामाजिक विचारों में कम कठोरता दिखाई और राजनीतिक मुद्दों के समाधान में हिंदू मुस्लिम एकता की आवष्ठयकता को महसूस किया।

नोट

मानवतावादियों का प्रभाव

थियोसोफिकल सोसायटी मैडम एच.पी. ब्लावट्स्की और कर्नल एच.एस. ओल्कोट द्वारा 1875 में संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थापित की गयी थी। इसके तीन मुख्य उद्देष्ठय थे। पहला, मनुष्य में एक सार्वभौमिक भाईचारा बनाना; दूसरा, प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान में अध्ययन को बढ़ावा देना; तीसरा, प्रकृति के नियमों की जांच और मनुष्य में अव्यक्त दिव्य शक्तियों का विकास। उस 1879 में इसके संस्थापकों द्वारा भारत में पेश किया गया और इसका मुख्यालय 1886 में मद्रास के पास अडयार में बनाया गया। इसमें श्रीमती एनी बेसेंट के नेतृत्व में भारत में प्रसार बढ़ाया जो 1893 में इस देश में आई थी। और जिसने बाद के वर्षों में स्वतंत्रता संघर्ष में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। थेओसोपिफस्ट्स ने हिंदू धर्म के मौजूदा तरीकों का बचाव किया जो सूक्ष्म तर्क के माध्यम से कई शिक्षित हिंदुओं को आकर्षित करने में सफल रहा। पश्चिमी देशों के नेतृत्व में आंदोलन जिसने भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं को प्रकाशित किया तथा स्वाभाविक रूप से भारतीयों में आत्मविश्वास को बढ़ावा दिया और राष्ट्रवादी विचारों को मजबूत बनाया।

तिलक ने एनी बेसेंट को एक योग्य सहयोगी के रूप में पाया, जिन्होंने यूरोपीय राजनीतिक ज्ञान को भारतीय राजनीतिक संघर्ष में इस्तेमाल किया। वे इस बात को मान चुकी थी कि उदारवादी स्वशासन को प्राप्त करने में काफी कमजोर है। इसलिए 1914 उन्होंने में होम रुल आन्दोलन प्रारंभ किया। इसका उद्देश्य ब्रिटिश राज में भारत के लिए स्वशासन था। इसके अंतर्गत धार्मिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार थे। कुछ माह पहले अप्रैल 1916, में तिलक ने भारतीय होम रुल की स्थापना की थी। जिसका उद्देश्य 'ब्रिटिश राज में भारत के लिए संवैधानिक तरीकों से प्राप्त किया गया स्वशासन था।' ये दोनों होम रुल लीग्स आपसी सहयोग से काम करते थे। भारत की सरकार समझ चुकी थी कि उदारवादी नेता जनता का समर्थन खो चुके थे तथा श्रीमती बेसेंट और तिलक द्वारा 'प्रखर आवाज' उठाने वाले लोगों का नेतृत्व यिका जा रहा था। जून, 1917 में श्रीमती बेसेंट को नजरबन्द कर दिया गया पर इससे होम रुल आन्दोलन कमजोर नहीं हुआ।

होम रूल आंदोलन के दो बहुत ही महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम थे। पहला यह कि अंग्रेजी सरकार ने नई नीति बनाने में जल्दी करनी शुरू कर दी जो मोंटेज के घोषणा पत्र में परिभाषित था। दूसरा, नरमपंथियों को कांग्रेस के अंतत: नियंत्रण से बाहर कर दिया गया। अध्यक्ष के रूप में श्रीमती बेसेंट का चुनाव कांग्रेस के इतिहास में एक नए युग के रूप में माना गया।

तिलक का समाजसुधारवादी दृष्टिकोण

19वीं सदी की मराठी विचारकों के तत्कालीन विचार उस समय की दिलचस्प आपसी क्रिया और कारवाई के सबूत हैं। इस समय कुछ विचारकों के सिचार महाराष्ट्र में प्रचतिल थे जिनमें लोकहितवादी, विष्णुशारती, चिपलूनकर, जोतिबा, गोपाल गणेश आगरकर और बाल गंगाधर तिलक थे। बाल गंगाधर तिलक, जोतिबा फुले, कोलापुर के शाहू महाराज और बाद में भाउराओ पाटिल आदि ने शिक्षा के प्रसार एवं विकास करने की वकालत की थी। तिलक ने चिपलूनकर और आगरकर के साथ मिलकर

नोट

पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल 1880 में प्रारम्भ किया था, जो शिक्षा स्तर के लिए प्रसिद्ध था। इसकी प्रशंसा 1880 में शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डा. डब्लू. डब्लू. हंटर द्वारा की गयी थी।

जोतिबा फुले व लोकमान्य तिलक ने दोनों में सामाजिक सुधारों की वकालत की थी क्योंकि राष्ट्रीय चेतना बढ़ाने में इनका योगदान होगा। ब्रिटिश नियम अपने उच्च संगठन, तकनीक में उन्नत, इसका ऐतिहासिक संदर्भ और उदार विचारों की परम्परा ने एक ऐसी शक्ति बनायी जिसने अन्तिम तौर पर खुद को अधीन हो गये। आधुनिक राजनीतिक चिन्तकों में राजा राममोहन राय ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया हुआ था। राजा राममोहन राय ने सामाजिक बुराईयों को खत्म करने के लिए न केवल अंग्रेजी पुस्तकों (ज्ञान) का प्रयोग किया बल्कि प्राचीन भारतीय ज्ञान का भी प्रयोग किया। लोकमान्य तिलक ने भगवद् गीता की राजनीतिक अर्थ के सवेरा के साथ समकालीन भारत में प्रासंगिकता के साथ (गीता) पुर्नव्याख्या की थी। विशेषकर महाराष्ट्र में, सामाजिक सुधारों पर काफी जोर था, जिनमें हिन्दूओं के संगठित रहने के लिए छूआछूत को हटाना तथा औरतों को बन्धनों से आजादी दिलानी थी। तिलक में गणपति त्यौहार का पुनरूद्धार करके धार्मिक, सामाजिक के द्वारा राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति को बढ़ाया। इस दिशा में तिलक ने गीता की सन्देश के साथ पुर्नव्याख्या की तथा हिन्दू प्रतीकों व गणपति त्यौहार का प्रयोग कर एक राजनीतिक प्रतिरोध बनाया। राजनीतिक कार्यों हेतु तिलक ने संस्कृत का गहन अध्ययन किया। ब्रिटिश पत्रकार वेलेन्टाइन चिरोल ने तिलक को कहा कि वह सही में ''भारतीय अशान्ति का जन्मदाता है। तिलक जनता से वार्तालाप व संचार के लिए सही तकनीक प्रयोग करते थे। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महसूस किया कि बिना लोगों की भागीदारी व बढ़ावे के राजनीति क्षेत्र में तब तक कोई भी सामाजिक सुधार नहीं होंगे।

सन् 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन स्थल पर स्वदेशी वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया था। प्रतिनिधियों के सामने पंडित मदनमोहन मालवीय अपनी धारणा (विचार) हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ सामने आये। तिलक ने मजबूत समर्थन किया, कि देवनागरी लिपि को पूरे भारत में अपनाना खुशी की बात है। उन्होंने सुझाव दिया था कि प्राथमिक विद्यालयों से ही देवनागरी लिपि में पुस्तक तैयार कर प्रारंभ किया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा को परिभाषित किया था कि ऐसी शिक्षा जो किसी के लिए प्यार को प्रोत्साहन करें और सम्पादक शीर्षक ''निजी संस्थाओं की जिम्मेदारी है राष्ट्रीय शिक्षा देना''।

तिलक के लिए सामाजिक सुधार शिक्षा की आवश्यकता से पहले नहीं आने चाहिए तथा सुधार सहकारी सामाजिक संगठन तथा सम्मानजनक इतिहास परम्परा द्वारा भारतीय सभ्यता से होना चाहिये। सामाजिक सुधार लाने के बाद राष्ट्र निर्माण के कार्य तथा में बदल गया जैसे उदाहरण देखने का परिणाम होगा।

तिलक के आर्थिक विचार : तिलक अर्थशास्त्र के ज्यादा जानकार नहीं थे। वह महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेता होने के वजह से जब कमी ही अर्थशास्त्र के बारे में लिखते थे और इन लेखों में वह उस सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के मुद्दे को शामिल करते जो सामान्यत: राष्ट्रवादियों के सामने अदृश्य थे। इस प्रकार उन्होंने दादाभाई नौरोजी के निकास सिद्धान्त का समर्थन किया तथा स्थायी राजस्व व्यवस्था की वकालत की जिसे रमेश दत्त ने भी कहा था। भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर उसके लेख अधिकतर 1904 के पहले थे जब वह अपना नेतृत्व को बढ़ा रहे थे। उसकी सभी लेख भारतीय राजनीतिक समस्याओं को समर्पित थे जिससे उनका राजनीतिक कद और भी बढ़ गया। उनकी जीवन के प्रथम भाग जो 1904 से पहले था, में उनके लेख ज्यादातर वित्त, सूखा, सूखा राहत (महाराष्ट्र में) ऋणदाताओं के कार्यों का नियमन, भूस्वामीयों के नियमन कानून, सहकारी आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन आदि से सम्बन्धित थे। उनके आर्थिक लेख बहुत कम तथा 1904 के बाद बिल्कुल नहीं थे।

नोट

सन् 1892 अगस्त, सितम्बर के दौरान तिलक ने भारतीय वित्त की समस्या पर लेखों की श्रृंखला लिखी, जब भारतीय अर्थव्यवस्था सोने तथा सिल्वर के सिक्कों के अधीन आ गयी थी। लेख अधिकतर वर्णनात्मक होते थे जिनका लक्ष्य केसरी के सामान्य पाठकों को भी आर्थिक मामलों की जानकारी दी जा सके। प्रथम तीन लेखों की श्रृंखला में साधारण शब्दों में मौद्रिक सिद्धान्त को समझाया गया। उन्होंने मुद्रा को मुद्रा का स्तर, मैटालिक मुद्रा, मूल्य स्तर तथा धन के अन्य मामलों में मुद्रा को बांट दिया। उन्होंने बड़ी सुबोधगम्यता तथा स्पष्टता से एक अच्छे और शायद उससे भी बेहतर अर्थशास्त्री की तरह मराठी पेपर में वर्णन किया। यहां तक कि आज भी उनके लेखों को मॉडल के रूप में देखा जाता है। अन्य अवसरों पर भी वह एक प्रशिक्षित अर्थशास्त्री की तरह लिखते थे। जब उन्होंने वित्तीय विकेन्द्रीकरण पर निष्कर्षत: लेखों की श्रृंखला लिखी थी। तिलक उस लाइन से अच्छी तरह परिचित थे जो केसरी में 1883-84 में लिखी थी वह थी ''अपनाने की बाध्याताएं''। उनके लेखों में इशारा होता था कि उन्होंने भू-मालिकों को अलग किया तथा एक निश्चित सीमा तक खिलाफ थे। कोई विनिमयन को भू-मालिकों व ऋणदाताओं को नियमन करें।

वह विश्वास करते थे कि भारतीय गरीबी के लिए ब्रिटिश नियम तथा सामान्य प्रणाली मुख्य कारण है, और ब्रिटिश नियम के खत्म होने के साथ गरीबी भी खत्म होगी। वह हालांकि कभी-कभी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभावाओं के लाभों को गिनाते थे तथा आगे खुलकर कहते थे कि ये लाभ ब्रिटिश शासकों के अलावा किसी अन्य शासकों द्वारा नहीं लाये जा सकते थे। भारतीय अशान्ति के जन्मदाता द्वारा यह बड़ी प्रशंसा थी।

स्वराज के लिए चार बिन्दू कार्यक्रम : लोकमान्य तिलक ने शिवाजी त्यौहार इस आशा के साथ प्रारम्भ किया था लोग उनके शानदार जीवन तथा उच्च कार्यों से प्रेरित होंगे क्योंकि अभी भी वे उनका सम्मान करते हैं। इस समय स्वामी विवेकानन्द ने अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक अधिवेशन में हिन्दूत्व के उच्च गुणों का बड़ी होशियारी से प्रकट किया था। संसार को भारतीय धर्म व परम्परा की चमक महसूस करायी थी।

सितम्बर 1893 में जब धार्मिक सभी को संबांधित करे रहे थे तो उन्होंने घोषण की कि हिन्दू धर्म बहुत लचीला तथा अन्य धर्मों का सम्मान करता है। मैं ईश्वरीय सत्यता को मानता हूं। पूरा संसार मेरा देश है। विवेकानन्द ने अपने व्यापक नजरिया तथा विस्तृत दृष्टिकोण के कारण विश्वभर में प्रशंसा प्राप्त की। विवेकानन्द के मृत्युलेख में, तिलक ने विवकानन्द को एक महान प्रचारक तथा अपीलकर्ता के रूप में उत्प्रेरित करने वाले चरित्र के रूप में वर्णित किया। वह लिखते थे कि भारत को पुन: जीवित किया जा सकेगा यदि भारतीय विवेकानन्द के उत्प्रेकर सन्देश के अनुसार कार्य करेंगे।

तिलक का विचार था कि राष्ट्र अपने स्वतंत्रता के लिए प्रयास में सभी साधनों व तरीकों का प्रयास कर अपने संघर्ष में कर सकता है। वह विवेकानन्द के महत्त्वपूर्ण योगदान को जानते थे उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की तरफ विश्वभर का विचार मोड़ दिया था। उन्होंने गोखले की प्रशंसा की कि उन्होंने भारतीयों को राजनतिक अधिकार देने की लगातार वकालत की थी। श्यामजी कृष्णा वर्मा की भूमिका के बादे में भी जागृत थे जिन्होंने अपने कैडर में क्रांति को तैयार किया। उन्होंने इन सभी को समर्थन किया था क्योंकि इनका लक्ष्य व आदर्श एक ही स्वतंत्रता जीतना (पाना) था। उनका वैचारिक रूख था कि उस सूत्र को अपनाया जाये जिसमें स्वराज को महसूस किया जाये। तिलक राजनीतिक आन्दोलन में कट्टरपंथी मोड़ देना चाहते थे ताकि जनता की भावनाएं जगायी जा सके तथा स्वतंत्रता संघर्ष में उनकी भागीदारी बढ़ सके। तिलक ने कर्जन की तानाशाही नियामों को चेतावनी दी की आवश्यकता महसूस की थी। उन्होंने भयरहित उस दिश में कदम उठाये थे। जब कर्जन ने देश के विभाजन का सुझाव दिया, तब तिलक ने केसरी में उग्र लेख लिखा जिसका शीर्षक

नोट

''संकट के क्षण (समय)'' थी। उसने (तिलक) ने कहा था कि कर्जन रावन की तरह पूरे भारत में पागलपन का नाच चाहते हैं। वह बंगाल में जनता की भावनाओं को एक जंगली हाथी की तरह रौदना चाहता है। तिलक ने तर्क दिया कि लोगों को कर्जन की इस नीति का कड़ा विरोध करना चाहिए, उन्होंने लिख, जब तक हमें मजबूत व उग्र कार्य सरकार के गर्व को खत्म करने के लिए नहीं करेंगे तब तक कर्जन के अभियान को नहीं रोका जा सकेगा।

22 अगस्त के सम्पादकीय मं तिलक ने लिखा कि याचनाओं व प्रार्थनाओं के बजाय लोगों को कुछ उग्र उपाय करने होंगे जो इस तानाशही व अभिमानी सरकार (ब्रिटिश) की आंखों को खोलेंगे राष्ट्रीय बहिष्कार जैसे ये उपाय है। 29 अगस्त 1905 को उन्होंने ''लार्ड कर्जन का नियम'' नामक शीर्षक से भड़काऊ भाषण लिखा। उन्होंने लिखा जिस तरह तापमान मण्डल में कुछ धूमकेतु होते हैं उसी तरह राजनीतिकों के मध्य साम्राज्य राजा है जो धूमकेतु के समान है। लार्ड कर्जन उसी प्रकार का व्यक्ति है।

16 अक्तूबर 1905 को बंगाल को बांट दिया गया था। बंगाल एक राजनीतिक चेतना वाला राज्य था। तिलक और लाला लाजपतराय में लोगों को बंगाल विभाजन के बारे में जागृत किया कि बंगाल तो केवल तात्कालिक मुद्दा है बल्कि विभाजन का आक्रमण सभी भारतीयों की गरिमा तथा आत्म सम्मान पर है। लाल, बाल, पाल भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के मान्यता प्राप्त नेताओं ने इस आन्दोलन को उभारा। जतक ने यथार्तता के साथ सोचा की लोगों को क्रोध ब्रिटिश शासन के खिलाफ जगाना होगा। जिसको सही दिशा देने की आवश्यकता होगी। वह चार बिन्दूओं के साथ आगे आये, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज। इस प्रकार लोगों को विभिन्न गतिविधियों में शामिल किया तथा उन्हें स्वतंत्रता संघर्ष में अपना योगदान देने के लिए सक्षम बनाया। उन्होंने कहा कि बंगाल विभाजन के खिलाफ जितने लोग आंदोलन में शामिल हो सकें, हो जायें, तिलक ने अपने चार बिन्दूओं वाले कार्यक्रम स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, तथा स्वराज के क्रियान्वयन पर जोर दिया था। तीन नेताओं लाल, बाल, और पाल के कारण अविभाजन प्रतिरोध के दौरान ये चारों बिन्दू लोकप्रिय बन गए। लाल ने देखा कि स्वदेशी सड़क के आन्दोलन से हम इसे आत्म निर्भरता के रूप में बना सकते हैं। हम भारत में जनता की शक्ति तथा अन्य स्त्रोत भी बना सकेंगे। हम पूंजी इकट्ठा कर सकेंगे तथा स्वदेशी आन्दोलन को अपने राष्ट्रीय हित में सफल बना सकंगे। तिलक और पाल ने बहिष्कार की वकालत करते हुए कहा कि बहिष्कार प्रथम कदम है ताकि ब्रिटिश सरकार का बहिष्कार के साथ आन्दोलन होना चाहिए।

बंगाल में लोगों ने एकता दिखाते हुए मैनचेस्टर में बने सभी कपड़ों को एकत्रित कर उन्हें आग में जला दिया। वे जान गये थे कि यह ब्रिटिश शासन के खत्म होन का प्रारम्भ बिन्दू है।

लाल, बाल, पाल ने विभाजन के खिलाफ आन्दोलन को नकारात्मक रूप लेने से रोकने के लिए, ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार किया तथा संसाधन युक्त व्यवसायों को बुनाई कपड़ा मिल प्रारम्भ करने के लिए मनाते हुए स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार के प्रयास आध्यात्मिक जागृता, स्वास्थ्य तथा देशभक्ति की भावना की आवश्यकता नवयुवकों में बढ़ाया था। अनेक नवयुवक उन विद्यालयों व कालेजों में अध्यापक बन गये जो राष्ट्रीय शिक्षा को सफल बनायें। तिलक ने महसूस किया कि सभी राज्यों के लोग उसके चार बिन्दू कार्यक्रम में शामिल हों। उन्होंने अपने किसी सम्पादक में बहिष्कार तथा स्वदेशी पर लिखा तथा अपील की कि लोग पूरे मन से उनके कार्यक्रमों में भागीदारी निभायें। तिलक ने अनेक उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को इकट्ठा किया तथा स्वदेशी सहकारी भण्डार लि. प्रारम्भ किया ताकि समाज के सभी वर्गों से उत्साही उत्तरदायित्व पैदा

नोट

किया जा सके। इसके लिए उन्होंने 2.5 लाख की निधि प्रमुख व्यक्तियों जैसे टाटा, द्वारकादास, खाटु माकान्जी, और अन्य से प्राप्त की थी। स्वदेशी आन्दोलन जो बंगाल विभाजन के खिलाफ प्रारम्भ हुआ था उद्यमियों को प्रोत्साहन देने के लिए एक साधन था। उन्होंने महाराष्ट्र में पैसा निधि योजना प्रारम्भ की थी। अनेक नवयुवक पैसा इकट्ठा करने में आगे आये तथा इस प्रकार एकत्रित धन से पूना के तालेगांवो में कांच फैक्टरी स्थापित की गयी थी।

तिलक का विश्वास था कि आर्थिक मामलों पर जोर देना तथा गरीबी हटाने के लिए मांग स्वराज के लिए संघर्ष को प्रोत्साहन करेगी। उन्होंने वकालत की कि कांग्रस को अपनी जगह उग्र नेताओं के हाथों में सौंप देना चाहिए। गोखले तथा तिलक के मध्य झगड़े की झड़प के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी को चुना गया था। तिलक के मन में दादाभाई नौरोजी के प्रति आदर था क्योंकि संसद में सदस्य के रूप में उनका योगदान तथा दादाभाई का निम्न कथन ''ब्रिटिश नियमों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण रोकना पर्याप्त नहीं है। यह पूर्णत: आवश्यक है कि भारतीय को स्वराज्य का अधिकार दिया जाना चाहिए। तिलक की विचार सही निकला।

तिलक को विश्वास था की आर्थिक मामलों एवं गरीबी को हटाने की मांग पर जोर देने से स्वराज के लिए संघर्ष और बढ़ सकेगा। उन्होंने वकालत की कि कांग्रेस को उग्र नेताओं के हाथ में देना चाहिए। तिलक और गोखले के मध्य झड़प के बाद इंडियन नेशनल कांग्रेस का अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी को चुना गया। तिलक, दादा भाई नोरोजी को सम्मान देते थे क्योंकि उनका ब्रिटिश संसद में एक सदस्य के रूप में योगदान तथा निम्न पंक्तियों में उनका कथन-ब्रिटिश द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण को रोकना पर्याप्त नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि भारतीयों को स्वराज दिया जाए। तिलक का पूर्वानुमान सही निकला था। दादाभाई नोरोजी ने अपने अध्यक्ष भाषण में सम्बोधित किया। हमें किसी लाभ तथा रियायत के बारे में नहीं कहते हैं। हम न्याय चाहते हैं। हम अपनी सरकार अर्थात् स्वराज चाहते हैं। दादाभाई नोरोजी प्रथम थे जिन्होंने स्वराज शब्द के चर्चा तथा मंजूरी कांग्रेस के मंच से इस प्रकार यह देखने में आया कि स्वराज का बीज भारतीयों के मन में पहली बार बोया गया।

जनता, विशेषकर बंगाल के लोगों के कठिन संघर्ष के बाद ब्रिटिश सरकार ने बंगाल विभाजन के निर्णय को रद्द किया हय जनता के विजय दिखाता है। लाल, बाल और पाल द्वारा निर्देशित था। इस आंदोलन की सफलता स्वराज की तरफ पहला कदम था। स्वराज शब्द जिसकों तिलक ने प्रसिद्ध बनाया, आध्यात्मिक और राजनीतिक अर्थ रखता था। तिलक के राष्ट्रीय निर्माण के सिद्धांत में स्वराज महत्व प्रधान करता है। स्वराज दो निहितार्थ रखता था। व्यक्तित्व के लिए इसका अर्थ अराजकता के ऊपर संसार को चुनना और व्यक्ति के स्व-धर्म के अनुसार सभी गतिविधियों का नियमन हो ताकि अकेला व्यक्ति अपनी जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सके। समुदाय के लिए इसका अर्थ अराजकता के ऊपर संसार को चुनना और नैतिक रूप से धर्म-राज्य के अनुसार सामुदायिक कार्यों का नियमन हो। घोषणा स्वराज्य के बिना समारा जीवन तथा धर्म व्यर्थ है।

एक कैरियर के रूप में पत्रकारिता

पश्चिमी भारत में पत्रकारिता शैली तिलक द्वारा निर्धारित कि गई थी। हालांकि 1881 में स्थापित पत्रिकाओं, महाठा (अंग्रेजी) और केसरी (मराठी), से उन्होंने लोगों को जगाया और जनता की राय जुटाई। उनके अखबारों की कहानी आजादी के लिए भारतीय संघर्ष की कहानी है। तिलक लोगों के बीच अद्वितीय थे, ये बताने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन एक संपादक के रूप में वे असाधारण थे जो एक बहुआयामी अध्ययन के योग्य है। उनको जीवन उनका संदेश था नि:स्वार्थ सेवा उनका

नोट

उपदेश और कार्य था। वे खुद को आम आदमी की तरह मानते थे। वे काफी सीमा तक जनता की भावनाओं को समझने में सफल थे कि वह क्या चाहती है।

हालांकि तिलक ने विनयपूर्वक कहा है कि उन्होंने अमृत बाजार पत्रिका के शिशिर कुमार घोष और मोटालाल घोष के चरणों में अपने राजनीतिक सबक सीखे, लेकिन वे बंगाल के इन और अन्य पत्रकारों आगे बढ़ गए। तिलक के "जन संपर्क" के राजनीतिक महत्व का अभ्यास करने वाले पहले भारतीय थे, जब इस विशेष वाक्यांश की खोज भी नहीं हुई थी।

तिलक के अपने शब्दों में, बंगाल के पत्रकारों की मांग की कैसे नौकरशाही की आलोचना करनी है और साथ ही खुद को सुरक्षित भी रखना है।

यह तिलक की प्रकृति के विरूद्ध था और उन्होंने तत्काल साहस के साथ सभी युवा पत्रकारों को संरक्षण में ले लिया और उनके सामने लेखन में कठोरता लाने का उदाहरण प्रस्तुत किया।

पत्रकारिता पर तिलक के विचार लोगों को जड़ में मौजूद अनिश्चित स्थितियों के बारे में शिक्षित करने को थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के कामकाज के संवैधानिक पहलू पर जोर दिया और महरत्ता और केसरी के पाठकों को यह समझाने के लिए कठिन प्रयास किया। विशेष रूप से, "लोगों की समृद्धि में हमारी ताकत होगी; उनकी संतुष्टि में, हमारी सुरक्षा और उनके प्रति आभार हमारा सबसे अच्छा इनाम है"- क्वीन के 1858 के उद्घोषणा का हिस्सा प्रमुखता से तिलक द्वारा ''अपने अधि कारों के लिए भारतीय के लिए प्राधिकार" के रूप में पेश किया गया।

तिलक के अपने शब्दों में और बंगाल के पत्रकारों की मांग के आधार लोगों को नौकरशाही की आलोचना करना तथा अपने आपको कम से कम शारीरिक सुरक्षा करना सिखाना होगा।

तिलक ने देखा कि "राजनीतिक आंदोलन यह बर्दाश्त नहीं कर सकता राजनीति के साथ समाज सुधार प्रश्न के अपरिपक्व संघ बनकर राष्ट्र से, महान जन से, दूर हो जाये या युद्धरत गुटों में विभाजित हो जाए। तिलक ने स्पष्ट धारणा के एक नेता के रूप में लिखा : यह रवैया सही है या गलत हो सकता है; लेकिन तिलक जो भी है, राष्ट्र जो भी है उसे कोई दूसरा नहीं बिन रवैया नहीं रख सकता है..... स्वतंत्रता के लिए क्रमिक प्रगति के बिना एक विशिष्ट राष्ट्र तैयार ही नहीं हो सकता; यह तेजी से प्रगति करने के लिए स्वतंत्रता से अपना रास्ता खोलता है। प्रगति जो केवल एक स्वतंत्रता को तैयार करने में की जाए वह राष्ट्रीय भावना के जागरण की प्रगति है और दृढ़ इच्छा के निर्माण में मुक्त होने और आवश्यक इच्छा शक्ति साधन अपनाने और स्वतंत्रता के लिए आवश्यक बलिदान सहन करने के लिए है।

उनकी लेखन शैली सरल थी लेकिन हमला करने में इसने कभी अपनी पहचान नहीं गँवाई। एक समाचार पत्र के माध्यम का उपयोग करके इस तरह की एक साहसिक लड़ाई तिलक से पहले कोई नहीं जानता था।

जुलाई 1897 ने तिलक के पत्रकारिता क्षमताओं की परिणति देखी जब उन्होंने केसरी में शक्तिशाली और मजबूत अभिव्यक्ति से भरे 3 संपादकीय लिखे। प्रमुख लेखों के शीर्षक मराठी भाषा की कहावत बन गए और उनका इसी तरह कुछ उल्लेख करने के लिए अब भी इस्तेमाल किया जाता है। लेखों की इस श्रृंखला का निर्णायक हिस्सा काफी साहसपूर्वक संकेत देता है कि "सरकार के पास बुद्धिमान होने का कोई एकाधिकार नहीं है और यह महान शक्ति होने के बावजूद कई बार बच्चों की तरह भारी भूल करती है, और जनता को नौकरशाही की भूलों का परिणाम भुगतना पड़ता है।

तिलक को हालांकि कभी विद्वानों से अलगाव नहीं था। ना ही वे कैरियर के रूप में पत्रकारिता पसंद करते थे। उन्होंने पत्रकारिता के हथियार का प्रथम इस्तेमाल ब्रिटिश गर्व और आत्म शालीनता

नोट

पर हमला से किया। लोकमान्य तिलक द्वारा प्रदान की गई प्रेरणा और उत्तेजना के कारण कई पत्र देश के विभिन्न क्षेत्रों में शुरू किए गए और आश्चर्य बात यह थी कि सबने अच्छी तरह से केसरी की ही शैली को अपना बढ़े। कितनी अच्छी तरह वे तिलक और केसरी के पीछे चले उसे इस तथ्य से आंका जा सकता है कि उनमें से लगभग एक दर्जन के विरूद्ध विद्रोहात्मक लेखन के लिए 1905-08 के दौरान मुकदमे चलाये गये।

भारत में पत्रकारिता के पेशे बहुत कम पैसा मिलता था। लेकिन यह निश्चित रूप से इस बात के लिए बना कि वह अपने सदस्यों को संकीर्ण दुनिया से बाहर निकाल और उनके दृष्टिकोण को विस्तृत करने का अवसर दें।

तिलक के कानून का दर्शनशास्त्र

तिलक भारत में ब्रिटिश शासन के आरंभिक वर्षों की अवधि के दौरान रहे। आई.एन.ए. 1885 में ह्यूम द्वारा स्थापित किया गया था, जिसका प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजों से भारतीयों के प्रति दयालु रहने की याचिका करना था। इनकी मांग मामूली थी। यह भारतीयों के लिए अधिक रोजगार और विध ान मंडलों में भारतीयों का अधिक प्रतिनिधित्व चाहता था। भारतीय राजनीति तिलक के नेतृत्व में कट्टरपंथी बनी तथा होम शासन के लिए मांग इनकी वैध उपज थी। तिलक के पास कानून की एक डिग्री थी और तथापि उन्होंने कभी वकालत नहीं की तथापि उन्होंने इसे कानून कक्षा में पढ़ाया। इस मायने में तिलक एक सबसे पहले कानून शिक्षक थे।

हालांकि तिलक अपने पूरा जीवन कानूनी लड़ाइयां लड़ते रहे। उन पर दो बार राजद्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया था, 1897 में पहली बार, और फिर 1908 में, और 1901 और 1904 के बीच वे ताई महाराज मुकदमे में फंस गये। जो पीड़ादायक कानूनी लड़ाई थी। इनमें से, ताई महाराज सूट को छोड़कर जिसमें उन्हें अनुकूल निर्णय मिला, तिलक अन्य सभी लड़ाइयां हार गए। वे बर्वे मामले और दो राजद्रोह के मामलों में दोषी थे और शिरोल मुकदमा हार गए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक अपने कानूनी लड़ाई के अधिकांश मामलों में सफल नहीं हुए और ताई महाराज सूट सहित सभी कानूनी लड़ाई, दर्दनाक निराशा भरी और महंगी थी। लेकिन जिस साहस से तिलक ने ये सभी लड़ाइयां लड़ी वह न्याय की ब्रिटिश प्रणाली में उनके स्थायी विश्वास को दर्शाता है।

तिलक के दिनों में, जॉन ऑस्टिन का न्यायशास्त्र क्षेत्र पर अधिकार था। यह सर्वविदित है कि न्यायशास्त्र के यथार्थ वादी विद्यालय ने बताया कैसे औस्तिनियन सिद्धांत ने न्यायिक प्रक्रिया को बहुत सरल कर दिया। इस विद्यालय ने जोर देकर कहा कि न्यायधीश केवल कानून की व्याख्या ही नहीं करते बल्कि वे इसे बनाते भी हैं। कानून न्यायाधीश को झुकाव के अनुसार अलग अलग हो सकते हैं। तिलक पहले सिद्धांत में विश्वास करते थे। तिलक कभी नहीं देख सके कि अंग्रेज न्यायधीश कभी राजनीतिक मामलों में निष्पक्ष रहे हैं। हां वे अन्य मामलों में निष्पक्ष हो सकते हैं, राजनीति से जुड़े मामलों में वे निसंदेह ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के अनुरूप कानून में व्याख्या करते थे। जब इंग्लैंड ने भारत में अपने कानूनों और कानूनी सिद्धांतों को लागू करना शुरू कर दिया, तो इनमें जेरेमी बेन्थम के विचारों और सोच का वर्चस्व था। जेरेमी बेन्थम ने कानून के ज्ञान को पहचानने के लिए सुखवादी उपयोगितावाद की वकालत की। वे संहिताकरण और न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से कानून के विकास की इच्छा के हिमायती थे। संहिताबद्ध कानून निश्चित और सुगम था। भारतीय कानूनों के पहले कानूनी रचयिता बेन्तेहम थे और हम उनकी उपयोगिता के सिद्धांत को संक्षेप में भारतीय दंड संहिता में लागू हुआ पाते हैं। कई अन्य कोड बाद में बने।

नोट

इंग्लैंड में यह आर्थिक अहस्तक्षेप की अवधि थी और भारतीय एड्म स्मिथ, हरबर्ट स्पेंसर, जॉन स्टुअर्टमिल आदि के दर्शन से अवगत हुए जिन्होंने न्यूनतम राज्य हस्तक्षेप की वकालत की। अंग्रेजी अपनाने वालों की पहली भारतीय पीढ़ी पश्चिमी उदारवाद से प्रभावित थी। तिलक इसी पीढ़ी के थे। यह माना जाता था कि जन्म से व्यक्ति कुछ अधिकार के साथ आता है जिसे कोई राज्य दूर नहीं छीन सकता। इंग्लैंड में, हालांकि संसद सर्वोच्च था, किन्तु 1215 के मैग्ना कार्टा और 1689 के अधिकार के कानून महत्वपूर्ण मजबूरी के रूप में माना गया जिसकी कोई संसद की उपेक्षा नहीं कर सकती। राजद्रोह के मामलों में तिलक के तर्क बताते हैं कि वे यह मानते हैं कि भारत की ब्रिटिश सरकार ने कि कानून की केवल ऐसी आलोचना ही दंडनीय है जो सरकार के विरूद्ध घृणा या अवज्ञा फैलाये। पहले राजद्रोह मामले में, तिलक की ओर से उस पर तर्क दिया गया था। ये की भारत में वही सिद्धांत अपनाना चाहिये जो अंग्रेजी पर लागू है। सरकार की इस तरह की आलोचना को राजद्रोह नहीं माना जा सकता। यहाँ तिलक जाहिर तौर से सख्त दंडात्मक कानून बनाने की मांग कर रहे थे जैसा कि अंग्रेजी न्याय व्यवस्था में है।

इंग्लैंड में अदालतें कम से कम कानून बनाकर व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अतिक्रमण रोकती है। जब अदालत के समझ वैकल्पिक कानून बनाने का विकल्प हो तो वह ऐसे कानून को स्वीकार करती है जो अधिकारों के पक्ष में हो। अदालतों का रवैया यह मानकर चलना है कि स्वतंत्रता और न्याय के कुछ मौलिक सिद्धांत है, विधायिका जिनसे जिन्हें खारिज नहीं कर सकती। तिलक ने यह स्थिति ली और तर्क दिया कि एक कृत्य तभी देशद्रोह है। जब भाषण या लेखन राजा के खिलाफ विद्रोह करने के लिए लोगों को उत्तेजित करने की प्रवृत्ति से हो। अभिव्यक्ति की वैध स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के रूप में राजद्रोह का कानून नहीं लगाया जा सकता। यह तर्क हालांकि न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं किया गया और स्नेह में कभी को राजद्रोह माना गया। तिलक की स्थिति की पुष्टि तब हुई। जब उनका तर्क केदार नाथ में 1963 में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार कर लिया।

दूसरे राजद्रोह मामले में, तिलक ने अपने मामले में खुद बहस की। तिलक ने 4 दिन में 21 घंटे तक अपने बचाव भाषण दे कर इतिहास बनाया। उन्हें बैरिस्टर बाप्तिस्ता, जिन्ना और देवर, और मेसर्स बोदास, दादा साहेब खरे और दादा साहेब करंदीकर द्वारा सहायता मिली। उनका पहला बिंदु यह था कि प्रकाशन (इस प्रकार) एक आपराधिक आशय को पहचानने के लिये केवल एक कारक है। जबकि इसका एक अलग आपराधिक आशय होना चाहिए। आशय प्रकाशन के केवल इस तथ्य से अनुमानित नहीं किया जा सकता बल्कि आसपास के हालात से; इन दोनों के बीच प्रेस की स्वतंत्रता निहित है।

तिलक ने आगे जोर दिया कि आरोपी को एक निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार है। तिलक ने जूरी सदस्यों से स्वतंत्र होने और दमनकारी राज्य सत्ता के खिलाफ संरक्षक होने की अपेक्षा पर बल दिया। तिलक की सुनवाई कई कारणों से बिगड़ गयी थी। तिलक के लेखन मराठी भाषा में थे। सुनवाई पुणे में नहीं हो रही थी जहाँ तिलक का लेखन प्रकाशित किया गया था, बल्कि यह सुनवाई बम्बई में हो रही थी। जूरी सदस्यों को मराठी नहीं आती थी, वे पारसी, एंग्लो इंडियन और ईसाई थे जिनके लिए तिलक के लेखन केवल अंग्रेजी में अनुवाद के माध्यम से प्रस्तुत किए गए। तिलक ने तर्क दिया कि ये अनुवाद सटीक नहीं थे और उनके लिखित भाषण का सार अनुवाद के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। यह एक बहुत ही वैध तर्क था हर भाषा का अपना मुहावरा होता है जिसको पूर्णरूप से अनुवाद नहीं हो सकता। इसलिए इस तरह के अनुवाद के माध्यम से तिलक को राजद्रोह का दोषी ठहराना अनुचित था।

नोट

तिलक ने अंग्रेजी कानूनी अवधारणाओं इस्तेमाल किया जैसे कि दंडात्मक विधियों के संकीर्ण निर्माण या निष्पक्ष सुनवाई या स्वतंत्र न्यायपालिका जो राजनीतिक आंदोलन को मदद करे, किन्तु वे सामाजिक आधुनिकीकरण के बारे में लाने के कानून के इस्तेमाल के खिलाफ थे। उन्होंने कानून का विरोध किया था या अंग्रेजी द्वारा बनाये गये कानून का विरोध किया था? वास्तव में यह तथ्य था कि कानून निर्माता विदेशी शक्ति थी, अत: तिलक के सामाजिक रूढ़िवादिता के अनुकूल थी। वह जिसका उन्होंने वास्तव में विरोध किया कानून के माध्यम से किया गया आधुनिकीकरण था। ऐसा लगता था वे अनजाने में सविग्नी के सिद्धांत की पुष्टि करते थे कि कानून का केवल पालन करना के लिए होता है, सामाजिक कार्रवाई के नेतृत्व ले लिए नहीं। समाज परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए यह जरूरी हो गया था और केवल तभी कानून प्रभावी हो सकता था। यद्यपि इसमें कुछ सच्चाई थी, कोई कानून निर्माता पहले समाज के बदलने का इंतजार नहीं कर सकता।

कानून निस्संदेह सामाजिक परिवर्तन में सुविधा या तेजी लाने के जो कारकों में से एक है। इस तरह के सामाजिक परिवर्तन को अन्य प्रक्रियाओं जैसे कि शिक्षा, सामाजिक कार्रवाई की सहायता प्राप्त करनी होगी। आधुनिक भारत में कानून पर सामाजिक परिवर्तन को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में भरोसा किया गया है। दुर्भाग्य से हमने एक उचित कानूनी संस्कृति की जरूरत के लिए पर्याप्त जागरूकता नहीं दिखाई है जो कानून और समाज के बीच एक लगातार बातचीत बनाए रख सके। तिलक एक उदारवादी थे जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता में कम से कम राज्य का अथवा कानूनी हस्तक्षेप चाहते थे। वे नैतिकता के आधार पर कानून को चुनौती नहीं देना चाहते थे। एक अच्छे वकील के रूप में सिद्धांतों के सकारात्मक कानून में प्राकृतिक कानून के समावेश की बहस के पक्षधर थे। लेकिन जब वह विफल रहे तो उन्होंने स्वीकार किया कि "कुछ उच्च शक्तियां हैं जो वस्तुओं का भाग्य निर्धारित करती हैं और यह विधि की इच्छा हो सकती है कि वह मकसद जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ मेरे इधर-उधर भटकने तथा दुख से अधिक सफल हो सकता है। तिलक ने कानून को परिवर्तन के बजाय स्थिरता के एक साधन के रूप में देखा। उनके पास कि राजनीतिक स्वतंत्रता के अलावा सामाजिक बदलाव का कोई सपना नहीं था।

लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय जी ने विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की सिफारिशों का विरोध किया। आयोग ने शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण की सिफारिश की और निजी स्कूलों को प्रारम्भ करने के लिए कठिन मानक तय किये। आयोग के निर्णय से पंजाब पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था क्योंकि वहां आर्य समाज शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक सक्रिय था। आयोग के बनने के बाद लोगों को अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में कुछ भी कहना असंभव हो गया। लालाजी ने घोषित किया कि सरकार के नए नियमों के कारण निजी शिक्षा समाज के लिए नए स्कूलों को शुरू करना या सुधार करना लगभग असंभव बना दिया था। सरकार शैक्षिक कार्य के लिए पैसा खर्च नहीं करना चाहती थी और न ही यह सहन कर सकती थी कि भारतीय स्वेच्छा से पैसे खर्च करके इस काम को शुरू करें। सरकार चाहती थी कि भारतीय अपने पैसे का उपयोग सरकार के लिए करें। वर्तमान नीतियों में अपना अस्तित्व बनाए रखना इन संस्थानों जैसे मेट्रोपोलिटन कॉलेज, कलकत्ता (कॉलेज), फर्ग्युसन कॉलेज, पूना और डीएवी कॉलेज के लिए असंभव हो गया था।

लालाजी बंगाल के विभाजन के खिलाफ संघर्ष करते रहे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, विपिन चन्द्र पाल और अरविंद घोष के साथ, उन्होंने स्वदेशी का एक जोरदार अभियान चलाकर बंगाल और देश को प्रेरित किया। ब्रिटिश सरकार ने दावा किया कि विभाजन से क्षेत्र का प्रबंध करना आसान होगा। नेताओं

नोट

ने इस बहाने को ब्रिटिश की बहुत पुरानी बांटो और राज्य करो की नीति के रूप में देखा। लालाजी को रावलपिंडी में अशांति पैदा करने के लिए 3 मई 1907 को गिरफ्तार कर लिया गया। लालाजी वहाँ जब गये थे। जब उन्होंने पता चला कि पांच प्रमुख भारतीय वकीलों को उपायुक्त द्वारा नोटिस दिया गया है। जिला मजिस्ट्रेट ने सार्वजनिक बैठकों या भाषणों पर भी प्रतिबंध लगा दिया था। दिए गए नोटिस के सिलसिले में लालाजी को रावलपिंडी में एक भाषण देना था। मजिस्ट्रेट ने घोषित किया, कि लालाजी का भाषण सुनने के लिए आने वाले लोग राष्ट्रदोही होंगे। जब लालाजी उनकी गिरफ्तारी नहीं रोक पाए, वे वकीलों की जमानत हेतु मुख्य न्यायालय जाने के लिए लाहौर लौटे। सरकार को यह सूचित किया कि लालाजी रावलपिंडी में अशांति के लिए जिम्मेदार थे और इसलिए वे गिरफ्तार किए गए थे।

आयुक्त के कार्यालय में पहुंचने पर, लालाजी को बताया गया कि उन्हें गवर्नर जनरल जिसने उन्हें निर्वासित करने का फैसला लिया है द्वारा जारी वारंट के अनुसरण में नजरबंद किया गया है, लगभग 4 बजे लालाजी को एक विशेष ट्रेन द्वारा कलकत्ता भेज दिया गया। लालाजी को डायमंड हार्बर रेलवे स्टेशन पर पहुंचा दिया गया और एक जहाज द्वारा मांडले फोर्ट भेज दिया गया। लालाजी छह महीने तक मांडले में ही रहे। लालाजी को 11 नवंबर, 1907 को छोड़ दिया गया। मांडले के दो ब्रिटिश अखबारों ने लालाजी पर आरोप लगाया कि भारत में ब्रिटिश राज को अपदस्थ करने के लिए उन्होंने काबुल के आमीर के साथ साजिश की है। अपनी रिहाई के बाद लालाजी ने अखबारों के खिलाफ अपमान जनक बयान देने के लिए मुकदमा दायर किया और दोनों ही मुकद्दमे जीत लिये। लालाजी के साथ संबंध होने के कारण सरकार की ओर से अभियोजन के डर से, आर्य समाज की कॉलेज पार्टी ने बयान जारी किया जिसमें कहा गया कि डी.ए.वी. कॉलेज से लाला लाजपत राय का कोई संबंध नहीं है। लालाजी इस बयान से गंभीर तौर पर आहत हुए लेकिन उन्होंने बाहर से कॉलेज और समाज का समर्थन करना जारी रखा। लालाजी ने राष्ट्र हित के लिए यह महत्वपूर्ण माना कि विदेशों में भारत की स्थिति स्पष्ट करने के लिए व्यवस्थित प्रचार की आवश्यकता है क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम ने एक उग्रवादी मोड़ ले लिया था। वे इस उद्देश्य के लिए अप्रैल 1914 में ब्रिटेन गये। लालाजी ने अनेक लेख लिखे और कई भाषण दिए। कुछ महीने बाद, इंग्लैंड और जर्मनी के बीच प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया और लाला जी को भारत लौटने की अनुमति नहीं मिली। लालाजी ने भारत के लिए और अधिक राजनीतिक समर्थन जुटाने के लिए तुरंत संयुक्त राज्य अमेरिका जाने की योजना बनाई।

उन्होंने अमेरिका में भारतीय होम लीग सोसायटी की स्थापना की और यंग इंडिया नामक एक पुस्तक लिखी जिसकी प्रस्तावना कर्नल वेजवुड, ब्रिटिश संसद के एक सदस्य द्वारा लिखी गई थी। भारत में ब्रिटिश शासन के सबसे विनाशकारी अभियोग की इस पुस्तक में प्रकाशित किया गया था, और प्रकाशन से पहले ही इसे ब्रिटेन और भारत में भी प्रतिबंधित कर दिया गया। लालाजी जब अमेरिका में थे, ब्रिटिश ने जर्मनी से दस हजार रुपये लेने का आरोप लगाकर लालाजी के खिलाफ गंभीर प्रचार किया। लालाजी फरवरी 1920 में युद्ध खत्म होने के बाद ही भारत वापस आ पाए। उनकी वापसी पर, 1920 में कांग्रेस के विशेष सत्र की अध्यक्षता करने के लिए उन्हें कलकत्ता आमंत्रित किया गया। लालाजी ने असहयोग आंदोलन का समर्थन किया जो सैद्धांतिक रूप में, रोलेट अधि नियम के जवाब में शुरू किया जा रहा था। वे आशंकित थे, क्या शैक्षिक संस्थानों, नौकरी, कोर्ट और विदेशी माल के इस तरह एक बड़े पैमाने पर बहिष्कार के लक्ष्य को वास्तव में प्राप्त किया जा सकता था। लालाजी ने फिर भी पूर्ण असहयोग के लिए कांग्रेस की मांग के उत्तर के रूप में राष्ट्र का आह्वाहन किया। कांग्रेस ने इस प्रयास के लिए एक करोड़ रुपए जुटाने के लिए तिलक

स्वराज्य फंड शुरू किया। लालाजी ने कोष के लिए दो सप्ताह के भीतर नौ लाख रुपए एकत्र किए। लालाजी को असहयोग आंदोलन से संबंधित अपनी गतिविधियों के लिए लाहौर में 3 दिसम्बर,1921 को गिरफ्तार किया गया और डेढ़ साल के लिए जेल में बंद कर दिया गया। असहयोग आंदोलन को शानदार सफलता मिली। सरकारी तंत्र ने, धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से, इसे कुचलने का प्रयास शुरू किया। गवर्नर जनरल ने लंदन, ब्रिटेन में एक गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए महात्मा गांधी को आमंत्रित किया। ब्रिटिश ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक कलह पर ध्यान दिलाकर अपनी ''बांटो और राज करो'' की नीति को एक बार फिर अमल में लाना शुरू किया। दंगों को मुस्लिम नेताओं द्वारा भारत स्वतंत्रता के बाद बराबर राजनीतिक अधिकारों के लिए एक लड़ाई बताकर उचित ठहराया गया। मुस्लिम नेताओं ने आश्वासन दिया कि राजनीतिक अधिकार यदि उनकी इच्छा के अनुसार दिए गए तो तकरार बंद कर देंगे। इस अनुरोध को पूरा करने के लिए, कांग्रेस ने हिन्दू मुस्लिम एकता लाने के लिए लालाजी और डॉ. अंसारी का नियुक्त किया। चित्तरंजन दास ने अपना प्रस्ताव भेज दिया जबकि लाला और डॉ अंसारी विचार विमर्ष ही कर रहे थे। सी.आर. दास के प्रयास अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में विफल रहे और हिन्दू मुस्लिम की कलह कायम रही। बारडोली में दंगे छिड़ने के बाद गांधीजी ने असहयोग आंदोलन समाप्त कर दिया। लालाजी ने फिर से अपना ध्यान सामाजिक और शैक्षिक परियोजनाओं पर डाला। उन्होंने जगराओं हाई स्कूल फिर से खोल दिया और पीपल नामक एक समाचार पत्र शुरू किया। उन्होंने लोक सेवक सोसायटी शुरू की, जिसके सदस्यों ने जगह-जगह दौरा किया और दलित वर्ग के लिए नए स्कूलों की शुरूआत की। उन्होंने अपनी दिवंगत माँ की याद में गुलाब देवी मेमोरियल अस्पताल के निर्माण के लिए एक लाख रूपए का दान दिया। लालाजी साइमन कमीशन जिसमे अंग्रेज ही शामिल थे, भेजने की जिद से नाराज थे।

नोट

16 फरवरी, 1927 को, लालाजी केन्द्रीय विधान सभा में एक प्रस्ताव लाए, जिसमे साइमन कमीशन का किसी भी स्तर पर या रूप में सहयोग करने से इनकार कर दिया। उन्होंने अपनी बात इस तरह की कि वह प्रस्ताव विधानसभा में पारित हो गया। सरकार ने आयोग के खिलाफ नारेबाजी से लोगों को नियंत्रित करने के लिए धारा 144 लगायी। लाला साइमन कमीशन के विरुद्ध एक प्रदर्शन में शामिल हुए। पुलिस ने एकत्रित लोगों पर लाठी चार्ज किया। जबकि लालाजी ने शांतिपूर्ण प्रदर्शन रखने के लिए अपने स्तर पर पूरी कोशिश की पुलिस ने उन्हें निशाना बनाया और उन्हें घायल कर दिया। लोग इस अपमान से गुस्से में आ गए और उसी शाम एक बैठक आयोजित की गई। हालांकि लाला जी दर्द में थे, तब भी उन्हें एक भाषण दिया और घोषणा की कि, ".....मुझ पर किया हर एक हमला ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ताबूत में एक कील होगा.....''।

अंग्रेजों द्वारा दिए गए उनके घाव भर गये लेकिन वह भावनात्मक रूप से अंग्रेजों की क्रूरता से जख्मी हो गए। क्यों उन्हें विशेष रूप से अंग्रेजों द्वारा निशाना बनाया गया था? क्यों एक शांतिपूर्ण सभा के खिलाफ लाठी चार्ज किया गया था? ये विचार अंत तक उनकी आत्मा को कष्ट देते रहे। लालाजी को दिल का दौरा पड़ने से नवंबर 17, 1928 में उनकी मृत्यु हो गई। लालाजी ने लोगों से अपील की कि "मुझे नहीं पता है मैं रहूँगा कि नहीं, लेकिन आप चिंता मत करना । मेरे जाने के बाद मेरी आत्मा स्वतंत्रता के लिए त्याग करने के लिए तुम्हारा आह्वान करती रहेगी"।

उनकी शिक्षा

महान देशभक्त लाला लाजपत राय का जन्म पंजाब प्रांत के फिरोजपुर जिले के दूधिका गांव में 28 जनवरी 1865 को हुआ था, उनके पिता लाला राधा किशन एक सरकारी स्कूल में एक उर्दू शिक्षक थे। वे अग्रवाल परिवार से थे, उनका परिवार स्वतंत्रता और त्याग के लिए जाना जाता था। हालांकि

नोट

लाजपत राय की मां गुलाब देवी एक आदर्श हिंदू महिला थी। लाला जी ने उन्हीं से देशभक्ति की भावनाओं को आत्मसात किया है।

लाला एक बहुत बुद्धिमान व्यक्ति थे उन्होंने छात्रवृत्ति जीती। गरीबी और बीमारी उनकी उच्च शिक्षा के रास्ते में खड़ी थी। उन्होंने 1880 में प्रथम श्रेणी में कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी वर्ष ही उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में उन्होंने लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज में प्रवेश ले लिया। उसी समय उन्होंने कानून का अध्ययन किया। परिवार की गरीबी से उनकी शिक्षा दो साल के लिए बाधित हो गयी।

आदर्शों का उदय

लाहौर में बिताए गए दो साल लाला के जीवन के महत्वपूर्ण साल थे। उन्होंने भारत के अतीत के गौरव का इतिहास और उसके महान बेटों की जीवनी पढ़कर आँसू बहाए। स्वतंत्रता और देश की सेवा करने के लिए गहरी इच्छा उनमें उसी समय जगी। उन्हीं दिनों स्वामी दयानंद द्वारा आर्य समाज स्थापित किया गया।

सरस्वती सामाजिक सेवा में गतिशील थे। यह वह समय था जब पंजाबी युवकों, आर्य समाज के प्रगतिशील आदर्शों और सुधारवादी योजनाओं से आकर्षित हुए। जब लालाजी 1882 में आर्य समाज में शामिल हुए तब उनकी उम्र मुश्किल से 16 वर्ष थी। इस प्रकार उनका समाज सेवा का जीवन शुरू हुआ और देशभक्ति जाग उठी। गुलामी की जंजीरों से आजाद कराने की इच्छा उनके मन में जाग उठी।

वकील

1883 में कानून की पहली बार परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद लालाजी ने एक मुक्तियार के रूप में वकालत का अभ्यास किया। उनके पास परिवार चलाने की भी जिम्मेदारी थी। अठारह वर्षीय लाला ने जागरव शहर की राजस्व अदालत में अभ्यास किया। 'वकीलों की परीक्षा' पास करने के बाद वे दक्षिण पंजाब के हिसार आये और एक वकील के रूप में अभ्यास शुरू किया। वे इस पेशे में पैसा कमाने और आराम से रहने की सोच से नहीं आए थे। वे देश की सेवा के लिए अपना जीवन समर्पित करना चाहते थे। वे इटली के बहादुर क्रांतिकारी मैजिनी की जीवनी पढना चाहते थे। उन्हें भारत में पुस्तक की एक प्रति प्राप्त हो सकी। लालाजी ने इंग्लैंड में अपने एक मित्र को लिखा था और यह मिल गई। मैजिनी की बहादुरी, उदारता और देष्ठाभक्ति ने उन्हें रोमांचित किया।

लोक सेवा की शुरुआत

हिसार में छह साल का उनका जीवन जनसेवा के लिए पूर्व प्रशिक्षण बन गया। स्वामी दयानंद की मृत्यु के बाद, लाला और उसके साथियों ने एंग्लो वैदिक कॉलेज को विकसित करने के लिए कडी मेहनत की। आर्य समाज के तीन सिद्धांत हैं समाज का सुधार, हिंदू धर्म की उन्नति और शिक्षा में प्रगति। लाला जी ने एक माह में एक हजार रुपए की कमाई की। उन्होंने अपनी कमाई का एक हिस्सा अपने पिता की जरूरतों के लिए रखा और उस पर ब्याज की व्यवस्था की। अपनी आय का दसवां हिस्सा राष्ट्र के काम के लिए निर्धारित किया। उस राशि का बड़ा हिस्सा आर्य समाज की गतिविधियों के लिए इस्तेमाल किया गया।

जब लेफ्टिनेंट गवर्नर ने हिसार का दौरा किया, तब लाला ने स्वागत भाषण उर्दू में प्रस्तुत करने की वकालत की। ब्रिटिश अधिकारी को संतुष्ट करने के लिए पहले से ही एक भाषण अंग्रेजी में तैयार किया गया था। लालाजी के इस सुझाव ने हर किसी को परेशान किया। लेकिन बिना डरे, उन्होंने उर्दू में भाषण प्रस्तुत किया और ब्रिटिश क्रोध को आमंत्रित किया।

अपना अधिकतर समय उन्होंने आर्य समाज की गतिविधियों के लिए दिया था। निरंतर कार्य कर उन्होंने आर्य समाज की शाखाओं की स्थापना की। उन्होंने शिक्षण संस्थानों का निर्माण किया। लेकिन वे किसी भी समुदाय की ओर पक्षपाती नहीं थे। वे एक ऐसे निर्वाचन क्षेत्र से नगर परिषद के लिए निरविरोध निर्वाचित हुए, जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी।

नोट

राजनीतिक क्षेत्र के लिए

1888 में भी एक वकील रहते हुए उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस देश की आजादी के लिए लड़ रही थी। स्वतंत्रता की जरूरत के लिए, लालाजी एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में कांग्रेस में शामिल हो गए। सर सैयद अहमद जो कांग्रेस में थे उन्होंने कांग्रेस उसी समय उन्होंने बहस करनी शुरू की कि मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल नहीं होना चाहिए और उन्हें सरकार को समर्थन करना चाहिये।

लालाजी ने कड़े शब्दों में उर्दू साप्ताहिक पत्र ''कोह-इ-नूर'' के जरिये कड़े पत्र लिखे। इन पत्रों ने राजनीतिक हल्कों में प्रशंसा अर्जित की। उसी वर्ष इलाहाबाद में कांग्रेस अधिवेशन में, लालाजी पंजाब के अस्सी प्रतिनिधियों के साथ पहुंचे तो उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ, उनके उर्दू में दिए गए भाषण से कांग्रेस नेताओं पर प्रभाव पड़ा। जब लालाजी 23 वर्ष के युवक थे तब उनकी प्रसिद्धि कांग्रेस में तेजी से फैली।

लाहौर में

हिसार का छोटा शहर उनके बढ़ते सामाजिक कार्य के लिए अपर्याप्त साबित हुआ। वकील के रूपये अभ्यास करने की योग्यता प्राप्त करने के बाद वे पंजाब उच्च न्यायालय में एक वकील के रूप में, 1892 में लाहौर में बस गए। कांग्रेस अधिवेशन 1893 मे लाहौर में आयोजित किया गया। दादाभाई नौरोजी पहले भारतीय ब्रिटिश संसद के सदस्य थे, जो सत्र के अध्यक्ष बने। लालाजी ने एक उत्साही स्वयं सेवक के रूप में कार्य किया। लालाजी ने एक मधुमक्खी की तरह निरंतर काम किया। उनके पास आराम के लिए समय नहीं था। जब वे कांग्रेस में व्यस्त थे तब आर्य समाज में विभाजन हो गया। लालाजी ने डी.ए.वी. कॉलेज को एक नया आकार दिया और उसके लिए खड़े रहे।

उनकी लेखन शक्ति

लालाजी केवल एक उत्कृष्ट राजनेता ही नहीं, ब्लकि एक अच्छे लेखक भी थे। उनकी उर्दू में लिखी आत्मकथाएँ यादगार हैं। उन्होंने इटली को एकीकृत करने वाले देशभक्त मेज्जिनी और गैरीबाल्डी की जीवनी लिखी। उन्होंने भारतीय महान पुरुष शिवाजी, श्रीकृष्ण और दयानंद सरस्वती के बारे में पुस्तकें लिखी। मेज्जिनी और शिवाजी पर लिखी पुस्तकों में ऐसे अंश थे जो स्वतंत्रता के लिए लड़ने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करते थे। इस लिए सरकार ने लालाजी को गिरफ्तार करने के बारे में भी सोचा।

सेवा भावना

लाला में दलित और गरीबों की कठिनाइयों में मदद करने के लिए सेवा की भावना थी। 1896 में मध्य प्रांत में एक भयानक अकाल आया। जिसने लोगों को हिलाकर रख दिया। उस समय लाला द्वारा निभाई गयी भूमिका कोई नहीं भूल सकता है उस समय अनाथ और बेसहारा लोग ईसाई मिशनरियों की दया पर निर्भर थे और उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित किया जा रहा था।

लाला जी ने अनाथ बच्चों की मदद के लिए एक आंदोलन शुरू किया। उन्होंने जबलपुर, बिलासपुर और अन्य जिलों से 250 अनाथ बच्चों को बचाया और पंजाब लाकर उन्हें आर्य समाज के अनाथालयों में भर्ती करा दिया। उन्हें यह महसूस हुआ कि उनके पास समाज सेवा और लीगल प्रैक्टिस दोनों

के लिए पर्याप्त समय नहीं है। इसलिए 1898 में उन्होंने अपने कानूनी अभ्यास को कम कर दिया। 1899 में एक भयानक अकाल पंजाब, राजस्थान, काठियावाड और सेंट्रल प्रांतों में आया। लाला जी ने फिर से असहाय बच्चों को बचाने के लिए आर्य समाज के आंदोलन का नेतृत्व किया।

नोट

उनके लिए एक बार पुन: कोशिश करने का समय था। उन्होंने एक असाधारण आंदोलन का आयोजन किया। उन्होंने न केवल 2,000 असहाय व्यक्तियों को बचाया बल्कि उन्हें भोजन, कपड़े, शिक्षा और रोजगार प्रदान किया। इस आंदोलन में वे ईसाई मिशनरियों के साथ संघर्ष कर रहे थे। सरकार ने 1901 में अकाल राहत आयोग का गठन किया और लाला जी के विचार मांगे। अकाल की स्थिति के विवरण और उनके विचारों ने बेसहारों के लिए सरकार के रवैये में बदलाव लाया। हिंदू और अन्य धर्मों के लोगों ने प्रांतों के बेसहारा बच्चों के लिए अनाथालय की स्थापना करने में योगदान किया।

सन 1905 में लालाजी को एक दूसरी आपदा में कार्य करने का मौका मिला। कांगडा जिले में एक भूकंप आया जिसके परिणामस्वरूप जीवन और संपत्ति का भारी नुकसान हुआ। लाहौर के आर्य समाज ने एक राहत समिति की स्थापना की, इसके सचिव के रूप में लाला जी ने बड़े पैमाने पर पंजाब प्रांत का दौरा किया और समिति के लिए पैसा एकत्र किया। उस समय की गई सेवा लोगों के लिए अविस्मरणीय थी।

इंग्लैंड की यात्रा

उसी साल इंग्लैंड में आम चुनाव होने थे, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत में मौजूद स्थिति से वहां की जनता को अवगत कराने के लिए दो प्रतिनिधियों को भेजने का फैसला किया, जो लाजपत राय और गोपाल कृष्ण गोखले थे। जब वे इंग्लैंड के दौरे से वापस आये तब हजारों लोगों ने लाहौर रेलवे स्टेशन पर उनका स्वागत किया।

इंग्लैंड के दौरे के दौरान लालाजी ने लोगों को ब्रिटिश शासन में भारत की स्थिति के बारे में बताया । इस स्थिति को जानना महत्वपूर्ण था । उनके लिए यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय अपने भविष्य और उसके प्रयोजन को खुद आकार दे सकते हैं, बशर्ते कि सरकार उनके हाथ में हो उन्होंने संकल्प लिया कि भारत को स्वतंत्रता की लड़ाई शुरू करनी चाहिए, और भारत में बनी वस्तुओं का उपयोग और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना चाहिए। उन्होंने सूरत शहर में आयोजित 1907 के कांग्रेस अधिवेशन में अपने विचारों को रखा।

सरकार का प्रकोप

1907 लाला जी की साहसिक जीवन ऊँचाईयों पर था। यह वह क्रांतिकारी समय था जब परिवर्तन की हवा देश भर में बह रही थी; नए विचार और एक नया उत्साह लोगों में थे। लाहौर और रावलपिंडी में दंगे चल रहे थे। मेरठ में स्वतंत्रता के लिए पहली लड़ाई (1857) की पचासवीं साल गिरह की तैयारी चल रही थी। किसान पंजाब में पानी की दरों में वृद्धि के सरकार के प्रस्ताव से परेशान थे। यह सरकार की आँखों में एक गंभीर अपराध था कि लाला जी और कुछ वकील दंगों का समर्थन कर रहे थे।

सर डेन्सिल इबोटसन पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे। उन्होंने लार्ड मोर्ले और बाद में ब्रिटिश कैबिनेट के मंत्री जो भारतीय मामले के प्रभारी थे को लिखा, कि ऐसा प्रतीत हो रहा था कि लाला जी जैसे कुछ नेताओं के पास ब्रिटिश शासन को भारत से निकालने की कसम खाई है। यह एक प्रयास हो, जो अंग्रेजों के खिलाफ घृणा जगाने और सरकार की प्रशासनिक मशीनरी को तोड़ने के लिए किया जा रहा है।

एक समय था जब सरकारी हल्कों में डर की भावना थी। एक गरीब भारतीय मारा गया था। एक तथ्यात्मक रिपोर्ट अखबारों में छपी। एक पंजाबी पत्रकार का अपराधी घोषित करने का प्रयास किया

नोट

गया। पंजाब के लोगों ने सरकार के खिलाफ विरोध किया। इसके अलावा, औपनिवेशिक अधिनियम और भूमिबंधक संशोधन अधिनियम की तरह अन्यायपूर्ण कानूनों में गड़बड़ी, भूमि और पानी की दरों पर टैक्स में वृद्धि से पंजाब में अशांति थी। सर डेन्सिल परेशान थे। बिना किसी कारण के लालाजी और उनके साथ अजीत सिंह (महान देशभक्त भगत सिंह के एक रिश्तेदार) को बर्मा के मांडले से निर्वासित कर दिया।

देश में सभी लोग सरकार के इस अन्याय का विरोध कर रहे थे। तिलक ने अपने अखबार केसरी में लिखा कि अगर ब्रिटिश शासक रूसी जारों की तरह कार्य करेंगे, तो भारत के लोग रुसी लोगों की तरह ही प्रतिक्रिया करेंगे। सरकार को लोगों के इस जोरदार विरोध प्रदर्शन और कानूनी पेशे के सामने झुकना पडा; उनके पास कोई अन्य चारा नहीं था। सरकार ने महसूस किया कि निर्वासन आदेश अनुचित और अवैध था। 18 नवंबर को लाला को लाहौर लाया गया और उन्हें आजाद कर दिया गया।

लाला जी को कांग्रेस की प्रसिद्ध त्रिमूर्ति में से एक माना जाता था। तीन महान पुरुष पंजाब के लाला लाजपत राय, महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक और बंगाल के विपिन चन्द्र पाल थे। देश उन्हें प्यार से लाल, बाल और पाल बुलाते थे। कांग्रेस संगठन में कट्टरपंथियों और उदारवादियों के बीच एक विभाजन था। लालाजी ने पाया की दो गुटों के बीच कोई समझौते कराना संभव नहीं। इसलिए उन्हें कुछ साल के लिए कांग्रेस से बाहर रखा गया। 1911 में उन्होंने लाहौर नगर परिषद में दुबारा प्रवेश किया। जब वह नगर परिषद के चुनाव के लिए खड़े हुए तो उनकी लोकप्रियता बहुत थी। यहां तक कि बहरे, गूंगे और विकलांग लोगों ने उनके लिए वोट किया। एक गूंगे मतदाता ने लालाजी की तस्वीर ली यह प्रदर्शित करने के लिए कि वह लालाजी के लिये मतदान देगा।

हिन्दुओं को संगठित करना

वे मोतीलाल नेहरू के 'स्वराज पार्टी' में शामिल हो गए। वे केन्द्रीय विधान सभा के लिए चुने गए। उस समय तक गांधी जी द्वारा प्रस्तावित हिन्दू मुस्लिम एकता विफल हो गया था।

लाला जी ने सांप्रदायिक समस्याओं की ओर ध्यान दिया। वे स्वयं आर्य समाज से प्रभावित और हिंदू धर्म के कट्टर समर्थक थे। लेकिन उनको स्वराज के लिए लड़ाई में हिंदू मुस्लिम एकता की जरूरत के बारे में पता था । असहयोग आंदोलन समाप्त हो रहा था और विभिन्न समुदायों के बीच साम्राज्यक खतरनाक स्तर तक पहुंच गई थी। 1924 में कोहट के उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए जिसमें हिन्दुओं को नुकसान उठाना पड़ा। दो दिनों के दंगों में न केवल 150 हिन्दू मारे गए बल्कि 400 लोगों की रावलपिंडी में स्थानान्तरित करना पड़ा।

महात्मा गांधी ने एक उपवास किया। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच सामंजस्य बनाने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। जिसमें एक राष्ट्रीय परिषद का गठन किया गया। परन्तु समस्या का समाधान नहीं हुआ। कोहट की त्रासदी ने लालाजी को दुखी और निराश कर दिया। और उन्हें हिन्दुओं के साथ खड़ा होना पड़ा मुसलमानों द्वारा गठित संघों की प्रतिक्रिया के रूप में लाला जी ने हिंदू धर्म के उत्थान और हिंदू धर्म के संगठन के लिए आंदोलनों को बढ़ावा दिया। 1924 में लालाजी ने मुसलमानों द्वारा भारत को विभाजित करने और अपने लिए एक नए प्रांत मांगने का भय व्यक्त किया । इससे उनकी दूरदर्शिता का पता चलता है । उन्होंने 1925 में कलकत्ता में आयोजित हिंदू महासभा की अध्यक्षता की। हिंदू धर्म और उसकी आवश्यकता के बारे में दिए गए भाषण द्व ारा उन्होंने हिन्दुओं को जगाया। सन् 1926 में लालाजी ने भारत में श्रमिकों के एक प्रतिनिधि के रूप में जिनेवा में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भाग लिया। उन्होंने इसी तरह के ब्रिटेन और फ्रांस में आयोजित समेल्लनों में भाग लिया।

विपिनचंद्र पाल

नोट

राष्ट्रवाद सबसे ताकतवर मसीहाओं में एक कहे जाने वाले जो बिपिन चंद्र पाल, बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय के साथ स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के अपने पहले चरण के दौरान भारत के राजनीतिक इतिहास के साथ जुड़े थे। ये तीनों स्वराज के आदर्श और पूरी राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए साहस, स्वयं सहायता और आत्म बलिदान के माध्यम से खड़े रहे अतः इस तिकड़ी को चरमपंथी कहा गया। अध्यापक, पत्रकार, लेखक और लाइब्रेरियन, विपिन चन्द्र पाल पहले ब्रह्म समाज के एक समर्थक और उसके बाद वेदांत की ओर रुख करके अन्त में, श्री चौतन्य के वैष्ण ाव दर्शन के समर्थक बने हो गया था। वे एक प्रबल समाज सुधारक थे। उन्होंने अपने जीवन में दो बार एक उच्च जाति की एक विधवा से शादी की और अपनी सहमति से 1891 के एज ऑफ बवदेजमदज बिल का समर्थन किया। उन्होंने राजा राम मोहन राय, केशव चंद्र सेन, श्री अरविंद घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, आशुतोष मुखर्जी और एनी बेसेंट जैसे भारत के निर्माताओं पर अध्ययन कर, एक श्रृंखला लिखी। उन्होंने समग्र देशभक्ति निहित सार्वभौमिक दृष्टिकोण का प्रचार किया।

परिदर्शक (1886-बंगाली साप्ताहिक), न्यू इंडिया : (1902-अंग्रेजी साप्ताहिक) और बंदे मातरम (1906-बंगाली दैनिक) पत्रिका उनके द्वारा शुरू की गयी।

7 नबम्बर 1858 को सिलहट (अब बांग्लादेश) के एक गांव में एक समृद्ध परिवार में जन्मे पाल को अपनी शिक्षा इंटरमीडिएट में छोड़नी पड़ी। वे अपने समय के प्रख्यात बंगाली नेता केशवचंद्र सेन और पंडित शिवनाथ शास्त्री के प्रभाव में आये। बंदे मातरम् राजद्रोह के मामले में श्री अरविंद के खिलाफ सबूत देने से उनके इनकार के कारण उन्हें छह महीने के लिए जेल भेजा गया। उन्होंने इंग्लैंड (तीन बार) और अमेरिका का दौरा किया।

पाल ने 1920 के गांधी जी के असहयोग आंदोलन का विरोध किया। उन्होंने पहले कांग्रेस अधि वेशन में सिलहट से एक प्रतिनिधि के रूप में 1886 में भाग लिया।

पाल ने लगभग 1920 से राजनीति से संन्यास ले लिया। वे मई 20, 1932 को अपनी मृत्यु तक राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करते रहे।

उनकी सेवा और विचारधारा

बिपिन चंद्र पाल के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी की उन्होंने 1907 में उन्हें राजद्रोह के मामले में अरबिंदो घोष के खिलाफ सबूत देने से इनकार करने के लिए छह महीने की कैद का सामना करना पड़ा। लेकिन इस घटना ने उन्हें एक राष्ट्रीय नायक बना दिया। उन्होंने अपने अंतिम दिन गरीबी में बिताए। 20 मई 1932, एक दुःखी आदमी का निधन हो गया।

12 अगस्त 1901 को बिपिन चंद्र पाल ने न्यू इंडिया नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र शुरू कर दिया। संस्थापक संपादक पाल ने अपने उद्घाटन अंक में सरगर्मी से अपने आदर्शों को घोषित किया। उन्होंने अपना रुख राष्ट्रीय भावना की ओर रखा। भारत नैतिक और बौद्धिक उपलब्धियों सभ्यता और आकांक्षा में साफ तौर पर सार्वभौमिक था। भारत का शैक्षिक और आर्थिक पुर्ननिर्माण पर मुख्य रूप से ध्यान केंद्रित था। न्यू इंडिया में उन्होंने सांस्कृतिक उत्थान के साथ मुख्यतः आर्थिक और शैषिक पुनर्निर्माण पर जोर दिया। राजनीतिक आंदोलन पर विशेष जोर दिया।

जब ब्रिटिश सरकार ने दिसंबर 1903 में बंगाल के विभाजन की घोषणा की। ये बंगाल के युवा क्रांतिकारी विपिन चन्द्र पाल ही थे, जिन्होंने राजनीतिक दर्शन का निर्माण किया और उस क्रांतिकारी पंथ के लिये मद्रास या दक्षिण भारत को साथ लेने में सफल रहे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि 20वीं सदी के पहले दशक में तमिल क्रांतिकारी राष्ट्रवादी जैसे महाकवि भारती, वी.वी.

सू. इयर, सुब्रमनिया शिव, और व.व. चिदंबरम पिल्लै और बहुत सारे लोग बिपिन चंद्र पाल के क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित हुए।

नोट

बंगाल के स्वदेशी आंदोलन ने इतिहास में एक नए युग की शुरुआत की। उस समय स्वदेशी भारत में देशभक्ति के रूप में उभरा और 'स्वदेशी आन्दोलन' नए भारत का उद्‌गम स्थल बन गया। यह एक अत्यंत आध्यात्मिक आंदोलन था और हर मायने में हर भारतीय के लिए स्वाधीनता का उद्‌देश्य था। इस आन्दोलने ने ब्रिटिश माल, स्कूलों, अदालतों और प्रशासन के बहिष्कार के लिए उत्कृट राष्ट्रीय सरगर्मी से जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी को गले लगाने के लिए अपील की। स्वदेशी, शिक्षा, भाषा, साहित्य और पूर्ण स्वराज या राजनीतिक स्वतंत्रता को राष्ट्र के लक्ष्य बनाया गया।

स्वदेशी आंदोलन सिर्फ एक राजनीतिक या एक आर्थिक आंदोलन नहीं था। यह जीवन के सभी क्षेत्रों में, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और सबसे ऊपर आध्यात्मिक, हर भारतीय की पूर्णरूप से मुक्ति के लिए एक आंदोलन था। राष्ट्र में बहुत पहले से ही बन्दे मातरम के हित में समर्थन शुरू कर दिया था। इस सम्बन्ध में ऊर्जा, जुनून, साहस और जोरदार उत्साह के साथ स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया। हर शब्द के अर्थ में यह था कि जयप्रकाश नारायण की 1975 में इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल लगाए जाने के बाद की क्रांति चाहते थे। बंदे मातरम बंगाल के विभाजन के बाद हर क्रांतिकारी और हर स्वतंत्रता सेनानी के होठों पर था। स्वदेशी, ब्रिटिश बहिष्कार और बंदे मातरम सभी महत्वपूर्ण आंदोलन भारत के स्वतंत्रता सेनानियों के जीवन का अंग बन गए थे। विपिन चन्द्र पाल ने सख्ती से ब्रिटिश शासन के संगठित प्रतिरोध के नए दर्शन को स्पष्ट किया। 1906 में स्वदेशी आंदोलन और बायकाट आंदोलन की पहली सालगिरह पर, विपिन चन्द्र पाल ने 500/- की एक मामूली पूंजी के साथ एक अंग्रेजी दैनिक बंदे मातरम प्रारंभ करने के लिए कड़ा निर्णय लिया जो हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में अपने लिए एक खास जगह बना सके। बिपिन चंद्र पाल ने वंदे मातरम के सम्पादक मंडल में शामिल होने के लिए अरबिंदो घोष को आमंत्रित किया। जिसे अरबिंदो घोष ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। 'बंदे मातरम' में अब संपादक के रूप में बिपिन चंद्र पाल अरविंद घोष सहायक संपादक और हमनेन्द्र प्रसाद घोष, श्याम सुन्दर चक्रवर्ती और विजय चटर्जी सहायकों के रूप में एक बेहद प्रतिभाशाली संपादकीय मंडल था। इस प्रकार विपिन चन्द्र पाल और अरबिंदो घोष ने अनूठी राजनीतिक भागीदारी शुरू की। अरबिंदो घोष एक प्रभावशाली लेखक और लेखन के माहिर थे। वे पर्दे के पीछे काम करने वालों को प्राथमिकता देते थे। विपिन चन्द्र पाल दूसरी ओर एक प्रभावशाली वक्ता थे और लोगों के बीच मंच पर जाना उन्हें अच्छा लगता था। इन दोनों नेताओं ने एक दूसरे को समझा और सराहना की।

18 सितम्बर, 1906 के बंदे मातरम में एक लेख में उन्होंने लिखा था "यदि हम शारीरिक बल से शारीरिक बल का विरोध नहीं कर सकते हैं, फिर भी हम किसी दिन भारत में प्रशासन असंभव बना देंगे। हमारी आदर्श स्वतंत्रता है जिसका मतलब है सभी विदेशी नियंत्रण की समाप्ति हमारा तरीका निष्क्रिय प्रतिरोध है।

अप्रैल 1907 में उसी पत्रिका में लेखन में अरबिंदो घोष विस्तार से लिखा। सरकार के साथ संघर्ष के दो रूप हैं। हिंसक और अहिंसक। बल प्रयोग, नुकसान या क्षति से सरकार से आदमी मांग को पूरा कराना हिंसक प्रतिरोध है हर तरह से सरकार की मदद न करना निष्क्रिय प्रतिरोध है। निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा प्रशासन में गतिरोध बनाने का काम चरमपंथियों का था।

दिसंबर 1906 में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में, अंबिका चरण मजूमदार ने बहिष्कार और स्वदेशी को समर्थन का प्रस्ताव रखा और विपिन चन्द्र ने इसका अनुमोदन किया। एक उग्र भाषण में विपिन चन्द्र पाल ने कहा तुम बायकाट शब्द को आंदोलन शब्द के साथ जुड़ा

पाओगे। इसका मतलब है की यह बिंदु से बिंदु, शहर से शहर, प्रान्त से प्रान्त, हमें अपने लोगों के समुदाय में एक राष्ट्र के रूप में एकत्रित करेगा, मेरा मतलब है स्वराज।

बिपिन चंद्र पाल, बायकाट आंदोलन और स्वदेशी आंदोलन का संदेश प्रांत से प्रांत ले गए। जनवरी 1907 में, वे नये प्रांत ईस्ट बंगाल, संयुक्त प्रांत में इलाहाबाद और बनारस के अलावा, उड़ीसा के कटक, विशाखापत्त्नम, वर्तमान आंध्र प्रदेश में विजय नगरम, काक्कीनाड़ा, राजमुंद्री और अन्त में मद्रास शहर के लम्बे दौरे पर निकल गए।

नोट

विपिन चन्द्र पाल ने 2 मई 1907 से 9 मई 1907 तक मद्रास तट पर पांच व्याख्यान दिए। जिनमें राष्ट्रीय आंदोलन और दर्शन, लक्ष्य, कार्यक्रम रणनीति पर काफी विस्तार से कहा। महाकवि भारती, सुबरमण्यम शिव, और आर.टी. माननीय. श्रीनिवास शास्त्री ने मद्रास तट पर इन सभी व्याख्यान में भाग लिया।

माननीय श्रीनिवास शास्त्री पर विपिन चन्द्र पाल अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये। बाबू विपिन चन्द्र पाल नए राजनीतिक पंथ के एक उपदेशक के रूप में मद्रास में पूर्ण प्रसिद्ध रहे हैं। समुद्र तट की रेत पर कई दिनों के लिए उन्होंने भावनाओं और सूक्ष्म तर्क के साथ आक्रोशित शब्दों बात की। जो श्रोताओं के मन में गूंज रहे थे।

4.6 सुभाषचन्द्र बोस– सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधाराएं

स्वतंत्रता आंदोलनों के समय बहुत सारे महान नायक पैदा हुए। सब अपने-अपने तरीके से एक ही लक्ष्य ''भारत की आजादी'' को पाने में लगे हुए थे। कुछ अहिंसा में विश्वास करते थे तो कुछ नहीं। ऐसे एक नायक सुभाष चन्द्र बोस थे जो नेता जी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उनका जन्म जनवरी 23, 1897 को एक सफल वकील जानकीनाथ बोस और उनकी पत्नी प्रभावती के यहाँ हुआ। उनके पिता भी नगर की समिति के अध्यक्ष भी थे और अपने प्रांत में शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे। उनकी माता स्वामी रामकृष्ण परमहंस की अनुयायी थी और उन्होंने अपने पुत्र को आध्यात्मिक मूल्यों से जोड़ी। नेताजी भी स्वामी विवेकानंद से प्रभावित थे।

अपने पिता के कहने पर नेताजी भारतीय सिविल सेवा (आईसीएस) परीक्षा के लिए देने के लिए इंग्लैंड चले गए, और योग्यता सूची में चौथा स्थान हासिल किया। लेकिन उनका अंग्रेजों की सेवा का कोई इरादा नहीं था। इसके बजाय वे राष्ट्रवादी आंदोलन में भाग लेने और अपनी मातृभूमि को आजाद कराना चाहते थे।

नेताजी लोकमान्य तिलक और श्री अरविंद से अधिक प्रभावित थे। वे अहिंसा के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त करने के गांधीजी के तरीकों से सहमत नहीं थे। राणा प्रताप और शिवाजी नेताजी के नायक थे और उनका विश्वास था कि अपने लोगों और मातृभूमि को हिंसा से ही आजाद कराया जा सकता है।

सर्वप्रथम नेताजी ने कांग्रेस में शामिल हुये तथा बाद में अध्यक्ष भी बने। लेकिन वे उनके विचारों से सहमत नहीं थे इसलिए कांग्रेस से अलग होकर फॉरवर्ड ब्लॉक बनाया। विभिन्न अवसरों पर उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण जेल भी भेजा गया। सुभाषचन्द्र बोस भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के एक असाधारण व प्रसिद्ध नेता बन गये जिनको हीरो व करिश्माई के तौर पर देखा गया। उनकी आत्मकथा के अध्ययन से हमारे सामने एक उनकी अस्पष्ट ईर्ष्या दिखी जिसमें वह अपने अनुभव के रूप में, सैद्धन्तिक स्थापना ताकि अपने योजनाओं को क्रियात्मन के लिए, उनके व्यक्तिगत जीवन व स्वतंत्रता संघर्ष में तथा इस सन्दर्भ में उनपर उनके माता-पिता बेनी यादव दास, रेवेन्सा कालीजिएट के प्रधानाध्यापक, रामकृष्णन द्वारा पढ़ाया जाना, विवेकानन्द अरविन्दो घोष, सी.आर. दास, लेनिन,

मुस्तफा कमाल पासा, डी वलेरा, जोसफ मैजनी, कैबूर, गैरीवाली से प्रभावित तथा विभिन्न देशो के स्वतंत्रता संग्रामों जैसे स्वतंत्रता के लिए अमेरिकन युद्ध, सार्वभौमिकता व एकीकरण के लिए इटालियन संघर्ष, चैकोस्लोवाकिया का उदाहरण के लिए संघर्ष तथा स्वतंत्रता के लिए आइरिश संघर्ष से भी वे प्रभावित हुए।

नोट

इस प्रकार की उनकी पृष्ठभूमि से उनके लक्ष्य निर्धारित हुऐ जो निरीक्षण व उपशाखा के रूप में तथा अपनी मातृभूमि को अंग्रेजों के दबाव व शोषण से मुक्त कराना तथा एक स्वतंत्र भारत बनाना। सुभाष चन्द्र बोस को आर्थिक सामान प्रत्यक्ष पत्र उनके स्वतंत्रता संघर्ष के विभिन्न चरणों में उनकी गतिविधियों, पत्रों, लेखों तथा भाषण जिनमें उनके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास की प्रक्रिया जो उनके अपने दिमाग में छुपे हुये हैं से सम्बन्धित हैं तथा इससे संबंधित भारत तथा विश्व में वातावरण बनाना। उनकी कुछ धारण व विचार उनकी परनिकता बनाते हैं हालांकि वे क्रियावा अधिक थे।

सामाजिक अवधारणा

धार्मिक सामंप्रदाय आदि पर दृष्टिकोण : यह उनके माता-पिता के प्रभाव ही था कि उनके दिमाग में धर्म व आध्यात्मिकता गंभीर रूप से थी और अपनी प्रारम्भिक जीवनकाल के अन्तिम दिनों में दक्षिण-पूर्वी एशिया के 1945 में युद्ध सेन स्पेन में हिन्दू शाह के प्रति उनका प्रेम ज्यादा था उनकी धार्मिक व आध्यात्मिक समृद्धता तब और बढी तथा व्यापक हुई जब वे रामकृष्णन परमहंस तथा विवेकानंद के सम्पर्क में आये। वह हमेशा अपनी कार्यक्षेत्रों की पोशाक के जेब में भी आने वाले गीता की कापी रखते थे। वो दक्षिणी-पूर्वी वे युद्ध क्षेत्र में भी रात के सुनसान में अपनी चिंतन मनन में चले जाते थे। जबकि सिंगापुर में भी रात को देर तक रामकृष्ण मिशन चलाते तथा खुद को पुजारी का सिकन धोती में एक गुलाब के फूल के साथ प्रार्थना कक्ष में चले जाते तथा घंटों चिन्तन मनन करते थे। वह अपनी जीवन के दुखों, परेशानियों के घंटों में खुद को ईश्वर की समर्पण को दिखाते। आजाद हिन्द की प्रान्तीय सरकार की घोषणा के समय उन्होंने शपथ ग्रहण की ''मैं भारत की स्वतंत्रता तथा 38 करोड़ देशवासियों की शपथ लेता हूं। मैं सुभाष चन्द्र बोस अन्तिम सांस तक पवित्र स्वतंत्रता के लिए युद्ध करूंगा। 26 अगस्त 1943 को प्छ। की सीधे कमाण्ड को लेते हुए उन्होंने कहा था कि ईश्वर मुझे इतनी शक्ति दे ताकि मैं किसी भी प्रकार की समस्याओं से लड़ता हुआ। भारतीयों के प्रति कर्तव्य को पूरा करूं। भारतीय राष्ट्रीय आर्मी को सिंगापुर में संबोधित करते हुये पुनः उन्होंने कहा कि मेरे भगवान आने वाली लड़ाई में हमारी फौज को आशीर्वाद दो तथा हमे विजय दिलाओ।'' सुभाष चन्द्र बोस ने उपनिषद की अवधारणा त्याग को अपनाया तथा आत्म साक्षात्कार के लिए मुक्ति को आत्मसात किया तथा अपने देश तथा मेहनती जनता के लाभ के लिए लगातार कार्य का निश्चिय किया। सुभाष चन्द्र बोस पंथ निरपेक्ष तथा सभी धर्मों के प्रति निष्पक्ष थे। उनके अनुसार स्वतंत्र भारत की सरकार को सभी धर्मों के प्रति तटस्थ तथा निष्पक्ष होना चाहिए और प्रत्येक को अपनी ईच्छानुसार धर्म अपनाने व अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। धर्म व्यक्गित मामला है इसे राज्य का मामला नहीं बनाया जा सकता है।

यह ब्रिटिश सरकार की चतुर व सूक्ष्म राजनीति थी कि उन्होंने साम्प्रदायिक समस्याओं को खतरनाक स्तर पर पहुंचा दिया था। सुभाष चन्द्र बोस के अनुसार राष्ट्रव्यापी स्वतंत्रता संग्राम राजनीति के सामने मनोवैज्ञानिक कायापलट होगा। बोस का दृढ मत था कि आर्थिक मुद्दा साम्प्रदायिक विभाजन व अडचनों को समाप्त करता है। गरीबी तथा बेरोजगार, असाक्षरता, बीमारी, कर तथा ऋण की समस्या से सभी हिन्दू व मुस्लिम तथा अन्य भी प्रभावित थे। इसकी उपचार राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित राजनीतिक समस्या में है। जिसमें लोग सीधे भागीदारी निभाते तथा अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना करते

नोट

हैं। उनके द्वारा वैज्ञानिक तरीके से साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए प्रचार किया। शाह नवाज खां ने कहा कि सुभाष के लिए कोई धर्म नहीं तथा कोई प्रान्तीय विभन्नता नहीं है। भारतीय राष्ट्रीय आर्मी में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्खों को महसूस कराया गया कि वे एक ही मातृभूमि के पुत्र हैं। मुस्लिमों में अधिकतर नेजाती के उत्साही व प्रशंसक पाये गये। दूसरे नेताजी से नजदीकी साथी ैण।ण अपर ने गहा कि उच्च क्रम की साम्प्रदायिक सद्भावना उच्च श्रेणी में व्याप्त है।

उनकी अधूरी आत्मकथा 'एन इंडियन पिलग्रेम' में, हम पाते हैं कि सुभाष एक समीक्षक के रूप में, कहा है ''मैं भाग्यशाली हूं कि मैं ऐसे वातावरण में बढा हूं जहां मस्तिष्क की व्यापकता के अनुकूल हैं। पूरा वातावरण उदार है कटक के ओरया बाजार में उनका पैतृक घर था। वह क्षेत्र मुस्लिम बहुलवादी था तथा उनके पड़ोसी मुस्लिम थे उनके बीच उनके पिता जानकीनाथ बोस कुलपति के रूप में पसन्द किये जाते थे। जानकी बाबू मुस्लिम रसोइया तथा नौकर रखते थे। बीस परिवार मुस्लिमों के त्यौहार जैसे मोहररम आदि में भाग लेते थे, उनकी आत्मकथा में बोस लिखते हैं कि वास्तव में मैंने मुस्लिम व हमारे बीच किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं देखी सिवाय वे प्रार्थना के लिए मस्जिद जाते थे।

सार्वजनिक भाषण में सुभाष ने प्रभावी पूर्ण से जाति प्रथा को समाप्ज करने की वकालत की तथा छुआछूत विरोध सिरसण सप्ताह 6 अप्रैल से 13 तक प्रारम्भ किया। उन्होंने भारत में अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। स्वामी विवेकानन्द के सच्चे शिष्य की तरह बोस ने समझा कि दलितों के उत्थान जिनको अछूत समझा जाता है जो समाज की महत्वपूर्ण इकाई है, से ही भारत कीा विकास सम्भव है।

दक्षिण-पूर्व एशिया में सभी भारतीय सुभाष चन्द्र के उत्तेजित नेतृत्व में एकत्व की भावना, विश्वास, तथा भारत माता की मुक्ति के मुख्य लक्ष्य के लिए त्याग के साथ भारतीय राष्ट्रीय आर्मी में बिना किसी जाति, नस्ल, वंश की विभेदता के साथ रहते थे।

महिलाओं की मुक्ति : सुभाष चन्द्र बोस ने राजनीतिक उपदेशों में आत्मसात किया, देशबन्धु चितरंजन तथा आध्यात्मिक उपदेशक विवेकानन्द ने महिला शिक्षा तथा मुक्ति के बारे में कहा तथा प्राचीन भारत की विद्वान तथा कुलीन महिलाओं जैसे मैत्रेयी, गार्गी, कान्ट तथा लीलावती के उदाहरण का भी प्रयोग किया। बोस चाहते थे कि महिलाओं को समाज व परिवार में उच्च स्थिति प्रदान की जानी चाहिए तथा महिलाओं की मुक्ति को सत्य अर्थ में विश्वास किया त्था महिलाओं को कृत्रिम अक्षमताएं जैसे आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक तथा बंधनों से स्वतंत्र करना चाहिये। उनके अनुसार स्वतंत्र भारत में जाति, लिंग, नस्ल तथा धन आदि आधारों पर किसी भी प्रकार का विभेद नहीं होना चाहिये।

महिलाओं द्वारा चमत्कारिक भूमिका खासकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान बहादुरी तथा त्याग की भावना निभायी जिसने उनके प्रति शक्ल बदल दी। प्यार तथा मोह तथा मदद आदि उनको कुछ महिलाओं से प्राप्त हुई विशेषकर उनकी अपनी मां प्रभावती देवी सी.आर. दास की आदर्श पत्नी बसन्ती देवी शरत चन्द्र बोस की पत्नी विभावती देवी तथा व्यापक प्रभावों ने महिलाओं के प्रति उनके विचारों को प्रदान किया।

सुभाष चन्द्र बोस ने महिलाओं के दासत्व का मूल कारण अशिक्षित तथा आर्थिक निर्भरता को माना। महिलाओं के मुक्ति के रास्ते में आने वाली समस्याओं को हटाने के बारे में स्पष्ट रूप से कहा। उन्होंने महिलाओं की पढ़ाई के बारे में कहा जिसके लिए उन्होंने एक विधि बनाई जिसमें

पढ़ाई, शारीरिक तथा व्यवसायिक शिक्षा आदि का घरों में भी सिखाना शामिल कियौ। उन्होंने विध वा पुनर्विवाह तथा पर्दा प्रथा को हटाने के वकालत

की थी।

नोट

जब उनके उग्र भाषण में महिलाओं के सभी तरह से मुक्ति के बारे में वकालत की तब महिलाओं के लाभ के लिए आंदोलन चलाया, यह भारत में प्रथम महिला संगठन था। भारतीय महिला एसोसिएशन की स्थापना मद्रास में 1917 में की गई। भारत में महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद स्थापना महिलाओं के लाभ उद्देश्य तथा कल्याण और भारत तथा अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलनों को जोड़ने के लिए तथा प्रांतीय महिला परिष्दों के मध्य समन्वय के लिए 1924 में की गई।

सुभाष चन्द्र बोस अंतिम समय में उन चमत्कारिक महिलाओं जो कांग्रेस के आन्दोलन तथा गांधी जी द्वारा निर्देशित सविनय अवज्ञा आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उनको अंतिम समय में सुभाष चन्द्र बोस ने निर्देशित किया। महिलाओं ने पुरूषों के समान सभाओं को सम्बोधित किया, चुनाव अभियानों को करवाया तथा विभिन्न अवसरों पर निर्दयी ब्रिटिश पुलिस की लाठियों का सामना किया तथा वे जेल भी गयी अमानवीयता से उनको परेशान किया। नेताजी को पूर्ण विश्वास तथा कि कोई भी देश स्वतंत्र नहीं हो सकता है यदि उनके देश की महिलाएं स्वतंत्रता की लड़ाई में विभिन्न अवसरों पर अपनी क्षमता अनुसार जैसे अस्पतालों में सेवा करके, घायल सिपाहियों की देखभाल करके ओर इसी तरह के सहायक भूमिका निभाकर तथा वे दुश्मनों के खिलाफ हथियार भी उठा सकती थी। इसलिए उसने झांसी की रानी रेजिमेंट बनाई इससे भी महिलाओं के साथ पुरूषों के समान पूर्ण समानता नहीं थी। उन्होंने आजाद हिन्द फौज के प्रांतीय सरकार में उनको महिला कैबिनेट मंत्री बनाया गया उसको उनके बाद वरीयता दी गई।

1925 में महिलाओं के लिए राष्ट्रीय परिषद का गठन किया गया। जिसके तहत महिलाओं की उन्नति तथा कल्याण के लिए कार्य किए गए और इसे भारत में अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ा गया। बाद के वर्षों में सुभाष चंद्र बोस ने विशेष रूप से करते हुए महिलाओं को जैसे स्वतंत्रता आंदोलन में भारतीय महिलाओं द्वारा निभाई गई भूमिका की सराहना की, और जनसभाओं में संबोधित चुनाव अभियान का आयोजन, क्रूर ब्रिटिश पुलिस द्वारा लाठी के आरोपों का सामना करने में जुलूस बाहर ले जाने और जेल जीवन, यातना और अपमान में पुरुषों के बराबर बताया था। नेता जी का मानना था कोई भी देश आजाद नहीं हो सकता अगर आजादी की जंग में महिलाएं भाग न लें। जैसे अस्पताल में नर्स, घायल सैनिक का ईलाज करने में, और महिलाएं दुश्मनों के खिलाफ हथियार भी उठा सकती है।

उन्होंने रानी झांसी त्महपउमदज बनाया, पर तब भी वह महिला पुरूष असमानता से संतुष्ट नहीं हुए उन्होंने अस्थायी आजाद हिन्द सरकार में महिला की केबिनेट मंत्री बनाया।

शिक्षा

सुभाष चंद्र बोस ने के अनुसार, शिक्षा चरित्र निर्माण और मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। शिक्षा, मस्तिष्क और विचारों को भीतर से अनुशासन में लाती है जो बदले में क्रिया या कर्मों में नियंत्रण से बाहरी अनुशासन पैदा करता है।

उनके आध्यात्मिक गुरु विवेकानंद का विचार था कि शिक्षा मन में पहले से ही विद्यमान पूर्णता की अभिव्यक्ति है। सभी ज्ञान, धर्मनिरपेक्ष या अध्यात्म मानव आत्मा से आता है। इस प्रकार शिक्षा सभी ज्ञानों का भंडार है, जो मन को जागृत करने में मदद करती है। शिक्षा से चरित्र, मनोबल, पौरूष और आदमी की स्वतंत्रता को बढ़ावा मिलता है। इसी तरह, बोस ने अपने पुर्ननिर्माण की योजना में एक स्वतंत्र भारत का सपना देखा। असके अनुसार नागरिकों को सही अथो में पूर्णरूप से जागरूक

नोट

किया जाएगा ताकि वे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के साथ स्वतंत्रता से भारत में खुली हवा में सांस ले सकें। निरक्षरता की समस्या एक मूलभूत समस्या थी।

सार्वभौमिक मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र से पहले सार्वभौमिक शिक्षा होनी चाहिये, किजॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा प्रतिपादित यह विचार अच्छी तरह बोस की समझ में आ गया था और इसलिए, उन्होंने सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा की वकालत की थी। एक समाजवादी और मानवतावादी के रूप में, वे सभी के लिए बडे पैमाने पर प्राथमिक शिक्षा चाहते थे और एक व्यक्तिवादी रूप में, वे योग्य प्रतिभाशाली और बुद्धिमान छात्रों के लिए उच्च शिक्षा के पक्ष में थे। सोवियत संघ में एक बहुत ही कम समय के भीतर भारी शैक्षिक पुर्ननिर्माण बोस के लिये एक आदर्श था। जिससे शैक्षिक समस्याओं को सुलझाने के लिए राज्य नियंत्रित शिक्षा प्रणाली का समर्थन करता है।

बोस को यह एहसास हुआ कि शिक्षा लोगों में राष्ट्रीय एकता और एकजुटता की भावना जगाने के लिए एक बड़ी ताकत है और उस के लिए आम लिपि हो रोमन लिपि और हिन्दुस्तानी एक लोकभाषा।

प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने के संबंध में, बोस, जर्मनी और स्कैंडिनेविया में बालवाड़ी इंग्लैंड - के नर्सरी स्कूल और फ्रांस की इकोलस मटरनेललेस प्रणाली से प्रभावित थे। वे शिक्षा के दृश्य या संवेदी विधि के पक्ष में थे। बोस विवेकानंद का आदमी-निर्माण और चरित्र-शिक्षा के क्षेत्र में निर्माण तत्वों की अवधारणाओं से इतने प्रभावित है कि वे चरित्रचान पुरुषों द्वारा विदेशी शासन से भारत को मुक्त करना चाहते थे। बोस को दृढ़विश्वास है, कि कोई भी शैक्षिक योजना शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए एक व्यापक प्रणाली के बिना सफल नहीं होगी।

आर्थिक अवधारणा

फरवरी 1938 में हरिपुरा में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 51वें सत्र में अपने अध्यक्षीय भाषण में, सुभाष चंद्र बोस ने आर्थिक नियोजन और स्वतंत्र भारत के औद्योगीकरण के बारे में अपने विचारों को व्यक्त किया, राष्ट्र के पुर्ननिर्माण व हमारे भविष्य की व्यापक योजना तैयार करने के लिए सरकार को सबसे पहले एक आयोग गठित करना होगा।

बोस, राष्ट्रीय योजना आयोग की सलाह पर राज्य धीरे-धीरे उत्पादन और वितरण दोनों ही क्षेत्रों और औद्योगिक प्रणाली के समाजीकरण के लिये एक वृहद् योजना चाहते थे। उन्होंने जमींदारी और कृषि ऋण के उन्मूलन के बारे में भी बात की। सुभाष चंद्र बोस ने आधुनिक तर्ज पर भारत में तेजी से औद्योगीकरण के लिए जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना समिति का गठन किया।

सुभाष के अनुसार मोटे तौर पर स्वतंत्रता राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता की द्योतक है। उनके लिए आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता का सार था।

सुभाष चंद्र बोस ने भारत की स्वतंत्रता के लिए बहादुरी से लड़ाई लड़ी, लेकिन वह आजादी भारत के लिये एक आर्थिक आवश्यकता थी। उन्होंने कहा कि हमारे लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, उनके लिए रोटी-कपड़ों तथा उन्हें शिक्षित करने की समस्या है और राष्ट्र में स्वास्थ्य में सुधार की समस्या है - भारत की इन सभी समस्याओं तब हल नहीं किया जा सकता है जब तक कि भारत स्वतंत्र है। इस सब को देखते हुए वे आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक और तरीकों पर आधारित आर्थिक पुर्ननिर्माण और औद्योगीकरण चाहते थे।

सुभाष चंद्र बोस ने कहा, जैसे ही भारत स्वतंत्र होगा हमारी, सबसे महत्वपूर्ण समस्या होगी। अपनी सुरक्षा को व्यस्थित करना ताकि हम भविष्य में इसकी रक्षा कर सकें। इसके लिये हमें आधुनिक युद्ध उद्योग लगाने होंगे जिनमें हम आत्मरक्षा के लिए हथियारों के उत्पादन कर सकेंगे। औद्योगीकरण एक बड़ा कार्यक्रम है। उन्होंने बेरोजगारी की समस्या तथा कृषि के आधुनिकीकरण की आवश्यकता

को महसूस किया, और उद्योगों के इस विकास में सुधार के लिए कृषि से अधिशेष श्रम अवशोषित करना अनिवार्य होगा। वे कम अवधि में तेजी से औद्योगिकीकरण के माध्यम से आर्थिक विकास को मजबूत की वे सोवियत संघ की अनुकरणीय सफलता से बहुत प्रभावित थे। अतः उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की धीमी प्रगति के बजाय रूस की तेज प्रगति का समर्थन किया।

नोट

सुभाष चंद्र बोस ने उद्योगों को तीन श्रेणियों वर्गीकृत किया, भारी उद्योग, मध्यम उद्योग और कुटीर उद्योग। उनके अनुसार, भारी उद्योग तेजी से आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं। बडे उद्योगों की श्रेणी में, मुख्य उद्योगों के उत्पादनों के साधनों तथा उद्योगों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए महत्वपूर्ण हैं इन में धातुओं, रसायन, मशीनरी और उपकरण, और रेलवे, तार, टेलीफोन और रेडियो जैसे संचार उद्योग हैं. वे बड़े पैमाने के उद्योगों के पक्ष में ज्यादा थे, लकिन उन्होंने भारत जैसे अविकसित देश में कुटीर और लघु उद्योगों को किसी भी दृष्टि में अनदेखा नहीं किया।

राजनीतिक अवधारणा

सुभाष चंद्र बोस के राजनीतिक दर्शन को उनके आध्यात्मिक, राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, लोकतांत्रिक और समाजवादी विशेषताओं के विश्लेषण की आवश्यकता है।

(1) आध्यात्मिक विशषतायें

उनके जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण मूलतः उनके माता-पिता के प्रभाव आया। बाद में वे रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद और श्री अरविंदो घोष की शिक्षा, तथा लेखन और दर्शन के संपर्क में आए। स्कूल के दिनों में अर्थ, और मानव जीवन के महत्व उद्देश्यों का पता लगाया। रामकृष्ण परमहंस ने सामान्य और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चरित्र निर्माण पर जोर दिया था। रामकृष्ण के अनुसार वासना, धन और आत्म बलिदान का त्याग एक आध्यात्मिक जीवन के लिए अपरिहार्य हैं।

इस प्रभाव के तहत सुभाष चंद्र बोस, राज्य के लिए अधिक आदर्शवादी और राज्य के लिए आध्यात्मिक हो गये उन्होंने कहा कि मैं अपने ही मोक्ष के लिए और मानवता की सेवा के लिए सभी सांसारिक इच्छाओं को छोड़ना, जिसने मेरी आत्मा को प्रभावित किया था, जो अब मेरे लिए एक नया आदर्श है। ध्यान, यौन संबंध नियंत्रण और ब्रह्मचर्य उनकी प्राथमिक चिंता का विषय बन गया। उन्होंने आध्यात्मिक कल्याण और मानवता के उत्थान के संदर्भ में अपने भविष्य के बारे में सोचना शुरू किया। यह उनके मन का धार्मिक और आध्यात्मिक रुझान का आदर्शवादी आयाम बन गया।

कॉलेज के दिनों में सुभाष अरविंद के लेख व दर्शन शास्त्र के माध्यम से उनके संपर्क में आए। हमें दैवीय शक्ति की ऊर्जा से परिपूर्ण होना चाहिए। जिससे आस पास के हजारों लोग में शक्ति, व प्रकाश से आनंद भर जायेगा। अरविंदो घोष 'भवानी मंदिर' में लिखा कि राष्ट्र क्या है? हमारी मातृभूमि क्या है?, यह कला का एक टुकड़ा नहीं है और नहीं एक भाषण है, और न ही किसी के मन की उपज है, यह राष्ट्र के लिए सभी लाखों लोगों की शक्ति से बनी एक शक्तिशाली शक्ति है। जिनसे राष्ट्र बनता है जैसे कि भवानी महिषमर्दिनी का बल बड़े पैमाने पर इकट्ठे हुए और एकता में सभी लाखों देवताओं की शक्ति से अस्तित्व के रूप में है। हम शक्ति को भारत में भवानी भारती कहते हैं वह शक्ति 300 मिलियन लोगों की शक्ति में रहने वाली एकता है। सुभाष अरविंदो घोष के इस दर्शन को आत्मसात किया और देवी माँ, एक आध्यात्मिक संस्था है, सार्वभौमिक भावना के एक टुकड़ा के रूप में भारतीय राष्ट्र के बारे में सोचा। इस प्रकार अध्यात्मवाद उनके राजनीतिक दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक बन गया।

(2) राष्ट्रवादी के विशेषताएं

सुभाष चंद्र बोस के पिता एक सरकारी वकील और लोक अभीयोजक थे तथा बंगाल विधान परिषद

नोट

के सदस्य बने और राय बहादुर का खिताब अर्जित किया था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों के विरोध में अपने पद से इस्तीफा दे दिया व राय बहादुर का खिताब लौटा दिया। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक सत्र के स्थाई आमंत्रित सदस्य थे। तथा स्वदेशी के कट्टर समर्थक थे। इस प्रकार सुभाष को अपने पिता से राष्ट्रवाद की भावना विरासत में मिली।

अपने प्रारंभिक जीवन में बैप्टिस्ट मिशन द्वारा चलाए जा रहे एक यूरोपियन स्कूल के छात्र के रूप में अपनी राष्ट्रवाद की भावना दिखाई इस स्कूल में भारतीय छात्रों के साथ भेदभाव किया जा रहा था। अंग्रेजों की नस्लीय की भावना के खिलाफ विरोध के लिए प्रेसीडेंसी कॉलेज से उनका निष्कासन उनकी राष्ट्रवाद की भावना का एक स्पष्ट उदाहरण है। उन्होंने कहा, मुझे संतुष्टि है कि है हमारे सम्मान और आत्म-सम्मान के लिए मैं उठ खड़ा हुआ था और मैंने एक नेक काम के लिए बलिदान किया।

सुभाष में राष्ट्रवादी उत्साह स्वामी विवेकानंद के प्रभाव के अधीन बढ़ा। विवेकानंद का आह्वान कि भगा भारतीय, अनपढ़ भारतीय, ब्रह्ममण भारतीय, सब भारतीय मेरे भाई हैं यह सुभाष के दिल में गूंज उठा था।

अरबिंदो की त्याग और की भावना तथा राजनीति के लिए उनके आकर्षक आईसीएस कैरियर के बलिदान ने सुभाष अधिक प्रभावित किया। अरविंद के अध्यात्मवाद और राष्ट्रीयता संश्लेषण का सुभाष पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना के कारण सिविल सेवा से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने कहा, कि यह सिविल सेवा एक जंजीर के सामान है, जो पूरी तरह से देश की सेवा करने के लिए संभव नहीं है। संक्षेप में, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक आकांक्षाएं और सिविल सेवा की शर्तों की आज्ञाकारिता साथ-साथ नहीं चल सकती हैं। कैम्ब्रिज से लिखे अपने पत्र में देशबंधु सी.आर. दास को संबोधित करते हुए, उन्होंने दृढ़ता से सिविल सेवा से इस्तीफा देने और स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के अपने फैसले को व्यक्त किया। कैम्ब्रिज से अपनी वापसी पर वे राष्ट्रीय आंदोलन में लग गए।

भारत के बाहर से स्वतंत्रता आंदोलन के मजबूत करने के क्रम में समर्थन हासिल करने के लिए नाजी और फासीवादी शक्तियों का दरवाजा खटखटाया विशेष रूप से एक्सिस शक्ति और जापान मुक्त भारत देखने के लिए उत्सुक हो गये। इस प्रकार, ब्रिटिश सेना के विरोध में, उन्होंने 30,000 सैनिकों और अधिकारियों को शामिल कर आजाद हिंद फौज को संगठित किया। ये उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा को ही उदाहरण हैं।

(3) धर्मनिरपेक्षता के लक्षण

धर्मनिरपेक्षता धर्म न होना या या नास्तिकता नहीं है बल्कि एक-दूसरे पर विश्वास, आपसी मेलभाव और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की संहिता है। इसमे आध्यात्मिक चेतना और परमात्मा के साथ संपर्क शामिल है। राष्ट्रवाद के सुभाष के दर्शन को अपने माता पिता, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और अरविंद के प्रभाव से एक आध्यात्मिक तत्त्व मिला। जब उन्होंने भारतीय राष्ट्र के बारे में सोचा है, तो उन्हें देवी मां, भगवान की प्यारी भूमि के रूप में अध्यात्म और धर्म के बारे में उनका दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्ष था।

सुभाष सभी धर्मों के लोगों के प्रति एक व्यापक गैर सांप्रदायिक और कैथोलिक दृष्टिकोण प्राप्त करने में मदद उनके परिवार के एक उदार और धर्मनिरपेक्ष वातावरण ने की। रामकृष्ण और विवेकानंद द्वारा प्रतिपादित विभिन्न धार्मिक प्रथा के संश्लेषण ने सुभाष में धर्म निरपेक्षता को विकसित किया। सुभाष की धर्मनिरपेक्षता भारतीय संस्कृति और सभ्यता के संश्लेषण का एक दर्शन है अपने दृढ़विश्वास

से जन्म लिया है। उसके आजाद हिंद सरकार और सेना में उन्होंने मुसलमानों, हिंदुओं और सिखों के बीच एकता का एक अद्‌भुत भावना लाने में चमत्कारी सफलता हासिल की थी। धर्मनिरपेक्षता के प्रति प्रतिबद्धता एक व्यापक अभिन्न और समग्र राष्ट्रवाद की उनकी अवधारणा को प्रतीक थे।

(4) समाजवादी लक्षण

नोट

उनकी स्वतंत्र भारत की अवधारणा के अनुसार में, सुभाष चंद्र बोस सभी सदस्यों को लगभग बराबर आर्थिक लाभ और सामाजिक स्थिति का लाभ मिलना चाहिए जिसमें एक समतावादी समाज बनाने का उद्देश्य था। और जन्म, माता-पिता, धर्म और पंथ के आधार पर आदमी और आदमी के बीच कोई भेद नहीं होगा। मई 3, 1928 को पुणे में आयोजित महाराष्ट्र प्रांतीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय संबोधन में उन्होंने कहा यदि आप भारत को वास्तव में महान बनाना चाहते हैं कि हमें एक लोकतांत्रिक समाज के धरातल पर एक राजनीतिक लोकतंत्र का निर्माण करना चाहिए। जन्म, जाति, नस्ल के आधार पर विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए, और समान अवसर सभी जाति, पंथ या धर्म के लोगों को मिलना चाहिए।

अक्टूबर, 1929 में लाहौर में आयोजित छात्र सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय संबोधन में उन्होंने भारत के लिए, जो स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा स्पष्ट की– यह स्वतंत्रता राजनीतिक बंधन से मुक्ति ही नहीं है बल्कि धन का समान वितरण, जातीय और सामाजिक बाधाओं का विनाश तथा साम्प्रदायिकता और धार्मिक असहिष्णुता की समाप्ति भी है इससे वे जमींदारों, पूंजीपतियों और समाज में उच्च वर्गों के विशेषाधिकारों को कम किया जा सकेगा। उन्होंने कहा, स्वतंत्र भारत पूंजीपतियों, जमींदारों और जातियों का एक देश नहीं होगा। मुक्त भारत एक सामाजिक और राजनीतिक लोकतंत्र होगा।

एक सच्चे समाजवादी के रूप में उन्होंने दलित व्यक्ति यानी, किसानों और मजदूरों की मुक्ति चाहते थे। उनके द्वारा कल्पित साम्यवादी संघ के उद्देश्यों को जानकारी देते हुए उन्होंने कहा कि पार्टी किसानों और आम जनता के हित के लिए काम करेगी न कि जमींदारों, पूंजीपतियों और पैसे उधार देने वाले वर्ग के लिए।

बीसवीं सदी के शुरू में वे से संपूर्ण बंगाल यूथ लीग के संस्थापक अध्यक्ष बने उन्होंने एक कार्यक्रम की घोषणा की जिसमें भारत की संपूर्ण स्वतंत्रता, मजदूरों और किसानों, आम जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार, काम के घंटे की कमी, मजदूरी की एक न्यूनतम दर, पूरा वेतन, चिकित्सा छुट्टी, वृद्धावस्था पेंशन, दुर्बलता या गंभीर दुर्घटनाओं के लिए मुआवजा शामिल था।

उनके नेतृत्व में जमशेदपुर में टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स में श्रम हड़ताल 1928 में एक सम्मानजनक निपटारे के साथ समाप्त हुई। वे 1931 में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष बने। श्रम के हितों को बात करते हुए। उन्होंने कहा, कि आज लेबर काम करने का अधिकार चाहता है। यह नागरिकों को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए राज्य का कर्तव्य है और यदि राज्य इस कर्तव्य का पालन करने में विफल रहता है, उनके भरण पोषण की जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में कार्यकर्ता मालिकों की दया पर निर्भर नहीं रहेंगे जो उन्हें जब चाहे नौकरी से निकाल दिया जाये और भूखा मरने को बाध्य किया जाये।

(5) लोकतांत्रिक विशेषताएं

सुभाष चंद्र बोस ने बलिदान, त्याग, आत्म त्याग और एक तरह से जीवन का एक लोकतांत्रिक तरीका अपनाया आत्म बलिदान पर आधारित जीवन के लिए एक नैतिक दृष्टिकोण विकसित किया है। इस नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों ने उन्हें भारतीय संस्कृति और सभ्यता सामंजस्य के साथ एक राजनीतिक दर्शन के उनके निर्माण में योगदान दिया। उनके बड़े संयुक्त परिवार ने उन्हें उसे

नोट

प्यार, उदारता, दया, धैर्य, सहिंता, सहयोग और सहानुभूति सिखाई जो लोकतंत्र के मूल थे।

सुभाष की बड़े सामाजिक संदर्भ में विचार और कार्रवाई की स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है जो उनके मित्र हेमंत कुमार सरकार को लिखे 1915/07/18 की लिखे उनके पत्र से स्पष्ट है के व्यक्तिगत जीवन दर्शन में हस्तक्षेप करने या उसके विरूद्ध बोलने का अधिकार नहीं है। लेकिन दर्शन का आधार स्पेंसर के सिद्धांत के अनुसार में ईमानदार और सच होना चाहिये - वह व्यक्ति तब तक बोलने के लिये स्वतंत्र है जब तक इससे किसी की स्वतंत्रता का हनन न हो।

स्वतंत्रता की बदलती अवधारणा पर उन्होंने कहा मानव स्वतंत्रता की अवधारणा बदल गयी है प्राचीन काल में भारत की स्वतंत्रता से लोगों का अभिप्राय आध्यात्मिक स्वतंत्रता त्याग, वासना, लोभ आदि से मुक्ति था। लेकिन इस स्वतंत्रता में राजनीतिक और सामाजिक बंधन से मुक्ति भी शामिल थी सुभाष चंद्र ने व्यक्तिगत गरिमा पर बल दिया, उन्होंने अधिनायकवादी सिद्धांत-राज्य मालिक और व्यक्ति नौकर है" स्वीकार करने की अनुमति कभी नहीं दी थी। एक राजनीतिक प्रणाली - एक सत्तावादी चरित्र के एक राज्य की जरूरत में हालांकि एक राज्य का मतलब है तथाकथित लोकतांत्रिक प्रणाली के स्थान पर यह एक अंग के रूप में या जनता के सेवक के रूप में

काम करेंगे।

लोकतांत्रिक दर्शन का राजनीतिक आधार अधिकार के स्रोत के रूप में लोगों का वर्चस्व है। स्वामी विवेकानंद के प्रभाव के कारण सुभाष का लोगों की शक्ति के बारे में अटूट विश्वास था, जो सुभाष चंद्र द्वारा अपने दोस्त चारु चन्द्र गांगुली को कैंब्रिज से लिखा 1920/03/23 दिनांक को उनके पत्र से स्पष्ट है, स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि भारत की प्रगति केवल किसान, धोबी, मोची और सफाई कर्मचारियों द्वारा प्राप्त की जायेगी ये शब्द पश्चिमी दुनिया के लोगों ने दिखा दिया है कि लोग सत्ता कैसे प्राप्त कर सकते हैं।

लोकतांत्रिक सिद्धांत परिवर्तन, विकास और प्रगति के एजेंट के रूप में आम आदमी पर जोर देती है, और राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के लिए आम आदमी की शक्ति और क्षमता को पहचानता है। सुभाष चंद्र, विवेकानंद के उस विचार में विश्वास ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने दिन समाप्त हो गये और अब, शूद्र, गरीब और नीचे दलित वर्गों की बारी है। जो विकास के एजेंट बने उन्होंने कहा, शूद्र या भारत के अछूत श्रमिक है। उनकी ताकत और उनका बलिदान भारत में प्रगति लायेगा।

4.7 श्री अरबिंदो घोष– कट्टरपंथी राष्ट्रवादी

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक और बीसवीं शताब्दी का पदार्पण आधुनिक भारत के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस दौरान, धार्मिक- सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पश्चिम की प्रेरणा वाले उदारवाद और अंग्रेजी राज के विरोध मे एक सशक्त शक्ति के रूप में उभरकर आया। बंगाल में रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद और पंजाब में स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय परंपरा में रूचि के पुर्नजागरण का नेतृत्व किया। इस आंदोलन का परिणाम भारतीय युवाओं में गर्व की भावना भरने के उद्देश्य से भारतीय परंपरा की फिर से विवेचना करने के प्रयास के रूप में सामने आया। इस आंदोलन का एक और पहलू था, इसका क्रांतिकारी राजनीतिक दृष्टिकोण। इन दो पहलुओं ने एक दूसरे को मजबूत किया। श्री अरबिंदो भारतीय राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक बुनियाद देने वाली इस नेतृत्व परंपरा के सबसे उत्तम उदाहरण हैं। इस इकाई में श्री अरबिंदो के जीवन और उनके चिंतन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारको की झांकी प्रस्तुत की गई है। इसके बाद, हम राष्ट्रवाद पर उनके विचारों की दार्शनिक बुनियादों, उनके द्वारा निर्धारित राजनीति कार्यवाही की दिशा और स्वराज का

विश्लेषण करेगे है। अंत में भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

उनका जीवन और कार्य

श्री अरबिंदो का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता में हुआ था। उनका जीवन पटनाओं से पूर्ण रहा और उन्होने दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में भरपूर योगदान दिया। उनके जीवन काल को चार दौरों में बांटकर उसका अध्ययन किया जा सकता है।

नोट

प्रारंभिक जीवन-निर्माण का दौर

अरबिंदो का पालन-पोषण पूरे तौर पर पश्चिमी ढंग से हुआ। चौदह साल (1879 से 1873)तक उन्होंने इंग्लैंड में पढ़ाई-लिखाई की। इस दौरान, उन्होंने असाधारण बौद्धिक योग्यता दिखाई। उन्होंने कई प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय भाषाएं सीखीं। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान वे भारतीय राजनीति में रुचि लेने लगे और भारत के कुछ युवा क्रांतिकारियों के संपर्क में आये। उन पर आयरिश राष्ट्रवादियों और आयरलैंड की आजादी के लिए उनके प्रयासों का भी गहरा असर पड़ा। वे 1893 में 21 वर्ष की उम्र में अपने हृदय में राष्ट्रवाद की धधकती आग और इसके लिए काम करने की दृढ़ इच्छा लेकर भारत लौटे।

तैयारी का दौर

भारत आकर उन्होंने बड़ौदा रजवाड़े में सरकारी नौकरी कर ली। बड़ौदा में उन्होंने भारतीय इतिहास, दार्शनिक ग्रंथों और बंगाली साहित्य का गहन अध्ययन किया। वे भारतीय दर्शन और साहित्य में छिपे आध्यात्मवाद से प्रभावित हुए और उससे उनके राजनीतिक चिंतन में एक नया आयाम जुड़ा। इस दौरान, अरबिंदो ने देश की उस समय की हालत पर काफी कुछ लिखा और राष्ट्र, राष्ट्रवाद आदि पर अपने विचारों को विस्तार से सामने रखा। वे सामान्य तौर पर स्वतंत्रता आंदोलन और विशेष तौर पर बंगाल में चल रही क्रांतिकारी गतिविधियों के संपर्क में भी रहे। फिर भी क्रांतिकारी राजनीति में अपनी रुचि के कारण वे अपनी आध्यात्मिक खोज से दूर नहीं रहे।

राजनीतिक सक्रियता का दौर

वर्ष 1905 में बंगाल का बंटवारा हो गया। इस घटना से देश भर में गहरा क्षोभ फैल गया। अरबिंदो ने बड़ौदा की अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया (1906) और वह सक्रिय राजनीति में कूद पड़े, जिसके साथ उनके जीवन के तीसरे दौर की शुरुआत हुई। राजनीतिक सक्रियता का यह दौर छोटा था। राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया और तिलक के नेतृत्व वाले क्रांतिकारी समूह को अपना समर्थन दिया। उन्होंने कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में हिस्सा लिया। उन्होंने इस दौर में राष्ट्रीय महतव के विभिन्न विषयों पर जम कर लिखा। 1908 में, उन्हें मानिकटोला बम कांड में फंसाकर गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें 1909 में, बाइज्जत बरी कर दिया गया। छूटने के बाद, वे कुछ समय राजनीति में बने रहे। 1910 में , वे सक्रिय राजनीति से हट गए, वे चंद्र नगर चले गये और वहां से पौंडिचेरी आ गये। सक्रिय राजनीति से उनका अचानक हट जाना आध्यात्मिक विकास के प्रति उनकी इच्छा का परिणाम था।

बाद का दौर-1910 के बाद के वर्ष

इस दौर में, अरबिंदो ने मुख्य तौर पर मानवता और उसके आध्यात्मिक विषय के व्यापक संदर्भो में लेखन किया। उन्होंने मानव विकास और इसके मानव एकता के अंतिम लक्ष्य के संदर्भ में अपने विचारों और विचारधाराओं को विस्तार से सामने रखा। "लाइफ डिवाइन" "एसेज ऑन गीता– "द सिथेसिस ऑफ योग" जैसी उनकी महत्वपूर्ण कृतियां इसी दौर में लिखी गयी। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी राजनीतिक सक्रियता और आध्यात्मिक विकास अलग-अलग नहीं, बल्कि

एक दूसरे से जुड़े थे। उनका राजनीतिक चिंतन उनकी यौगिक और आध्यात्मिक दृष्टि का ही विस्तार था। इसलिए, राजनीति की प्रमुख अवधारणाओं पर उनके बिचारों का अध्ययन करने से पहले, उन दार्शनिक बुनियादों को समझना आवश्यक है, जिनसे उनका राजनीतिक चिंतन उभरा।

नोट

2.8 श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद

निर्माण या तैयारी के दौर में उन पर होमर से लेकर गेटे तक के यूरोपीय दार्शनिकों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा और उनके राजनीतिक चिंतन पर गीता, उपनिषदों और वेदांत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा। जैसा कि रोम्यां रोलां ने कहा, श्री अरबिंदो "एशिया की प्रतिभा" (जीनियस) और यूरोप की प्रतिभा का सबसे उत्कृष्ट मिश्रण थे। उन्होंने पश्चिमी दर्शन को आदर्शवादी परंपरा से मिलाने का प्रयास किया। रामकृष्ण और विवेकानन्द ने जिस वेदांत दर्शन का प्रतिपादन किया था, उसका भी अरबिंदो के चिन्तन पर प्रभाव पड़ा। उन्हें भारत की बौद्धिक परम्परा की असाधारण विविधता और तेजस्विता या स्थायी प्रकृति से भी प्रेरणा मिली। उनका विश्वास था कि वेदांत के साधुओं और बुद्ध के लेखों में भारतीय मन की प्रतिमा का प्रतिबिंम्ब देखने को मिलता है। लेकिन, उनके अनुसार, बाद में जाकर भारत की दार्शनिक परंपरा अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण हो गयी और अपनी गति और सक्रियता खो बैठी। जबकि, इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन ने अपनी गति को बनाये रखा और उसका बिकास होता रहा। अरबिंदो भारत और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा के सर्वोत्तम तत्वों को मिलाना चाहते थे।

उन्होंने अपने उद्विकास के सिद्धांत में इस विश्व की उत्पत्ति, प्रकृति और नियति की व्याख्या की। उनके सृजन के सिद्धांत के अनुसार, पदार्थ विकास के कई चरणों से होकर निकलता है, बनस्पति और जंतु के स्थिति से मन और महामन के स्थिति तक। उनकी दृष्टि में पदार्थ आत्मा का छिपा रूप हे, जो धीरे धीरे से आत्मा के उजागर होने की स्थिति की ओर बढ रहा है,जो सर्वोत्तम, उन्मुक्त और परम यथार्थ है। उद्विकास की इस प्रक्रिया में, मन से महामन की ओर परिवर्तन में, योग की तकनीक इस प्रक्रिया को तीव्र करने में मानव की मदद करती है। श्री अरबिंदो ने "आंतरिक योग" या "पूर्ण योग" के नाम से अपनी तकनीक का विकास किया, जिसमें चार योगों-अर्थात् कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, ओर राज योग-की तकनीकों और तांत्रिक दर्शन का समावेश है। इस आंतरिक योग के माध्यम से कोई योगी महामानसिक स्तर तक उठ सकता है, जिससे आनंद की प्राप्ति होगी। आनंद की प्राप्ति से व्यक्ति को आत्मज्ञान और मानव सेवा में मदद मिलती है।

उनके अनुसार पदार्थ क्योंकि आत्मा से भिन्न नहीं होता, इसलिए पदार्थ का क्रमिक उद्विकास होने से वह शुद्ध आत्मा में बदल जाएगा। मार्ग में इस प्रक्रिया को धीमा करने वाली बाधाओं के बावजूद आत्मिक पूर्णता की दिशा में मानवता की प्रगति चलती रहेगी। इस प्रक्रिया में, कुछ विकसित आत्माएं मार्गदर्शक का काम करेंगी और दूसरों के लिए मार्ग ढूंढने के लिए संघर्ष करेंगी। अरबिंदो का विश्वास था कि भारत की आत्मिक चिंतन और व्यवहार की परंपरा बहुत उन्नत है और पूरी मानवता अपनी आध्यात्मिक यात्रा में इसका लाभ उठा सकती है। वे चाहते थे कि भारत इस क्षेत्र में नेतृत्व करे और इसीलिए उनका सोचना था कि भारत को स्वतंत्र होना चाहिए जिससे वह विश्व के आध्यात्मिक पुनरुद्धार में अपनी सही भूमिका निभा सके।

अरबिंदो का राजनीतिक चिन्तन : प्रारंभिक दौर

अरबिंदो के लेखन की बारीकी से जांच करने से पता चलता है कि उन्होंने अपनी राजनीति गतिविधि के प्रारंभिक दौर में विद्यमान राजनीतिक महत्व के मसलों पर व्यापक रूप से लिखा। उस समय उनके राजनीतिक चिंतन में निम्न बातें शमिल थी :

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारत में अंग्रेजी राज के बारे में उनके बिचार
2. राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत
3. उनका कार्यवाही कार्यक्रम-निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धांत आदि।

नोट

इस दौर के उनके लेखों को हमारे देश की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षो की राजनीतिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा जाना चाहिए। उनका उद्देश्य जनसाधारण को विदेशी शासकों के खिलाफ संघर्ष के लिए जागृत करना और उनका अंतिम लक्ष्य देश के लिए पूर्व स्वतंत्रता प्राप्त करना था। बाद के दौर में, अर्थात् 1910 के बाद के वर्षो में, अरबिंदो के विचारों में मानवता के लिए जीवन के आध्यात्मिक प्रयोजनों की आवश्यकता की स्पष्ट छवि दिखायी देती है। इस अनुच्छेद में, हम उनके चिंतन पर ध्यान केंद्रित करेंगे, जिनकी अभिव्यक्ति उनके जीवन के प्रारंभिक दौर (1883-1905) में और उनकी राजनीतिक गतिविधि के पहले दौर (1905-1910) में हुई। बाद में हम मानव एकता पर उनके विचारों का अध्ययन करेंगे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर श्री अरबिंदो के विचार

इंग्लैंड से लौटने पर श्री अरबिंदो ने भारत की राजनीतिक स्थिति को देखा और 'वंदे मातरम्' जैसी पत्रिकाओं में लेख लिखकर अपने विचार व्यक्त किए। उस समय वे कांग्रेस संगठन ओर उसके नेताओं के आलोचक थे। उन्होंने चार बातों के लिए कांग्रेस की आलोचना की-अर्थात् (1) इसके लक्ष्य और उद्देश्यों,(2) इसका संगठन, (3) नेताओं के उद्देश्य और (4) उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनके द्वारा अपनाये गये तरीके। इसका यह मतलब नहीं है कि वे बुनियादी तौर पर कांग्रेस के विरोधी थे। इसके बिपरीत उन्होंने तो यह ऐलान किया कि "कांग्रेस हमारे लिये ऐसी है जैसी कि मनुष्य के लिए सबसे प्रिय, सबसे ऊंची और सबसे पवित्र वस्तु होती है।" लेकिन इसी के साथ-साथ, उन्होंने इसके कामों को लेकर अपने मोहभंग होने और असंतोष को व्यक्त करने में भी कोई हिचक नहीं दिखायी।

कांग्रेस संगठन के ध्येयों और उद्देश्यों को लेकर उनका सोचना यह था कि कांग्रेस के पास 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। कांग्रेस के नेता कुछ प्रशासनिक सुधार जैसी छोटी-मोटी बातों पर अपना समय नष्ट कर रहे थे, जोकि समय की मांग को पूरा करने में बिल्कुल अपर्याप्त थे। अरबिंदो के अनुसार कांग्रेसी नेताओं की मांगें 'शर्मनाक ढंग से संकोची' थीं।

कांग्रेस के संगठन के बारे में, उनका सोचना था कि कांग्रेस एक मध्यम वर्गीय संगठन है। और आम भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नही करता। नये पढ़े-लिखे मध्यम वर्गीय नेता केवल सत्ता ओर भारतीय राजतंत्र में स्थान पाने में दिलचस्पी रखते थे। अरबिंदो ने राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ी संख्या में सर्वहारा वर्ग के लोगों को शामिल कर उसे एक जन आंदोलन का रूप देने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर भारतीय सर्वहारा का उदय कांग्रेस को एक सचमुच राष्ट्रीय और जनप्रिय संगठन का रूप देने की समस्या को सुलझाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक होगा।

तीसरे, कांग्रेसी नेताओं के उद्देश्यों के बारे में उनका सोचना यह था कि वे निष्ठावान नेता नहीं थे। वे दब्बू थे और अपने शासकों को नाराज करने से डरते थे। उनका विश्वास था कि संगठन के इन दोषों ने देश के राष्ट्रीय आंदोलन पर उल्टा असर डाला था।

वह सोचते थे कि कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजी राज को सही ढंग से नही देखा या समझा और इसलिए अपने लक्ष्य को हिम्मत के साथ सामने रखने के बजाय, ये नेता, अंग्रेजी शासकों की उदारता और न्याय-भावना पर भरोसा करते रहे। वे कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों या सभाओं में व्यर्थ के आवेदनों,

नोट

आदि का सहारा लेते रहे। इसलिए अरबिंदो ने एक व्यापक आधार वाले संगठन की आवश्यकता पर बल दिया, जो देश की समूची ताकत को इसे विदेशी शासन से मुक्त कराने में लगाा सके। इस तरह जनसाधारण में स्वाधीनता की भावना भरने पर उनका बल देना, स्वतंत्रता आंदोलन को एक जनआंदोलन का रूप देने की दिशा में पहले प्रयासों में से एक था।

अंग्रेजी राज की प्रकृति

आंग्ल-मराठी अखबार "इंदु प्रकाश" में लिखे अरबिंदो के पहले राजनीतिक लेख अंग्रेजी राज पर सीधा प्रहार थे। बेशक, राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने वाले कुछ नेता भी उस समय अंग्रेजी राज की आलोचना कर रहे थे, लेकिन उनकी अलोचना अप्रत्यक्ष थी। अरबिंदो के लेख इस तरह की आलोचना से हटकर थे। उन्होंने देश में ऐसी सनसनी फैला दी कि न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे को इंदु प्रकाश के संपादक को सावधान रहने की चेतावनी दी और अरबिंदो से यह अनुरोध करना पड़ा कि वे अपने तेवर में नरमी लायें, जिस पर अरबिंदो ने अनिच्छा से अमल किया।

अरविंदो दो उद्देश्यों से अंग्रेजी राज की आलोचना करते थे। पहले, वह देश में अंग्रेज विरोधी भावनाओं को मजबूत करना चाहता थे, और दूसरे, वे अंग्रेजों की श्रेष्ठता की भ्रांति को तोड़ना चाहते थे।

उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि जैसा भारतीय बुद्धिजीवी समझते थे, अंग्रेजी, राजनीतिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ नहीं थी। वे सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के न होने की आलोचना करते थे। इसलिए, वे यह मानते थे कि अंग्रेजी व्यवस्था की नकल करना हमारे देश के हित में नहीं है। भारत में अंग्रेजी राज की प्रकृति के बारे में उनका विचार यह था कि ''बुनियादी तौर पर यह व्यापारिक है और चरित्र से शोषक।'' इसलिए इसकी बुनियाद को ही कमजोर किया जाना चाहिए, जिससे देश के लिए स्वतंत्रता और स्वाधीनता हासिल की जा सके।

अरबिंदो अंग्रेज अफसरों के व्यवहार को रूखा और अशिष्ट बताते थे। उनका मानना था कि अंग्रेजों ने भारत में जो प्रशासनिक व्यवस्था कायम की थी, वह भारतीय जनता, उनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, उनके मन और प्रतिभा के बिल्कुल अनुपयुक्त थी। वे अंग्रेजियत में रंगे उन भारतीयों की भी आलोचना करते थे, जो अंग्रेजी जीवन शैली और संस्कृति को अपनाने के काबिल समझते थे।

लेकिन, उन्हें अंग्रेजों के अनुभव से सीखने पर कोई ऐतराज नहीं था। वैसे यह यूरोप के विचारों और विचारधाराओं की बिना सोचे नकल करने के खिलाफ थे। उन्हें भारतीयों में अपने अतीत को अनदेखा करने और भविष्य की कोई स्पष्ट ध्वनि न होने पर एतराज था।

राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत

अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा पर महान बंगाली उपन्यासकार बंकिमचंद्र का गहरा प्रभाव था। उनका यह मानना था कि राष्ट्र केवल एक भूमि का टुकड़ा या मनुष्यों का समूह नहीं है। न तो यह कोई अलंकार है और न ही मन की उपज। यह एक भौगोलिक इकाई या लोगों की कल्पना से भी बढ़कर है। इस तरह, अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा गहरी और राष्ट्र के बारे में आम राष्ट्रभक्त धारणाओं से बहुत भिन्न है।

उनके लिए भारत उनकी मां के समान था और इसलिए वे पूरी तौर पर उसके प्रति समर्पित थे। वे भारत को मां देवी की तरह महिमामंडित करते थे और युवा राष्ट्रभक्तों को यह सलाह देते थे कि वे अपने राष्ट्र के लिए काम करें जो उनकी मां है। वे मानते थे कि मातृभूमि को मुक्त कराना उसके बच्चों का सबसे पहला कर्त्तव्य है, जिसके लिए उन्हें अपनी जान तक कुर्बान करने को तैयार रहना चाहिए। जैसे कि अरबिंदो ने समझा, राष्ट्र एक जबरदस्त शक्ति है जो राष्ट्र निर्माण करने वाली लाखें

नोट

इकाइयों की शक्ति से बनी है। इस तरह यह एक जीती-जागती सत्ता है। उन्होंने अनेक लेखों और कविताओं में मातृभूमि के प्रति प्रेम और समर्पण की अपनी गहरी भावना को व्यक्त किया। उनका विश्वास था कि इस तरह की राष्ट्रभक्ति से चमत्कार हो सकते हैं। इस तरह अरबिंदो की राष्ट्रवाद की परिभाषा में एक आध्यात्मिक आयाम था, जो राष्ट्रवाद शब्द की आम राष्ट्रभक्त समझ से भिन्न था। अरबिंदो के विचार में राष्ट्रवाद केवल एक राजनीतिक आंदोलन नहीं है। न तो यह कोई राजनीतिक कार्यक्रम है और न ही बुद्धिजीवीयों क समय काटने का कोई मनोरंजन। उनके विचार में, राष्ट्रवाद धर्म के बराबर है। यह एक धर्म और एक मत है जिसे व्यक्ति को जीना चाहिए। यह ईश्वर का दिया हुआ धर्म है। इसलिए इसे कुचला नहीं जा सकता। अगर बाहरी ताकतें लगाकर इसे दबाने की कोशिश भी की जाती है तो, अपने अंदर ईश्वर की शक्ति होने के कारण यह फिर उभर आता है और जीवित रहता है। राष्ट्रवाद अमर है। यह मर नहीं सकता क्योंकि इसे मनुष्य ने नहीं, ईश्वर ने बनाया है। अगर कोई व्यक्ति राष्ट्रवादी होना चाहता है, तो उसे अपने राष्ट्र के लिए काम करना चाहिए। उनकी राय में राष्ट्रवाद एक गहरी और भक्तिपूर्ण धार्मिक साधना है। यही अरबिंदो की राष्ट्रवाद की अवधारणा और उनके समय के दूसरे चिंतकों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की राष्ट्रवाद की अवधारणा का अंतर है।

बंगाल के बंटवारे ने जिस राष्ट्रवादी आंदोलन की चिंगारी भड़कायी, वह अरबिंदो की राय में ईश्वर की प्रेरणा और मार्गदर्शन वाला आंदोलन था। उनकी राय में इस आंदोलन का मार्गदर्शन किसी राजनीतिक आत्म हित के हाथ में नहीं था, बल्कि यह एक धार्मिक उद्देश्य था जिसे पूरा करने की कोशिश लोग कर रहे थे। इस तरह उनके लिए राष्ट्रवाद एक धर्म है जिसके जरिये लोग ईश्वर को अपने राष्ट्र में अपने देशवासियों में मूर्त करने की कोशिश करते हैं।

अंतिम लक्ष्य-स्वराज

विदेशी प्रभुत्व से भारत की मुक्ति अरबिंदो का अंतिम लक्ष्य था। स्वराज, अर्थात् भारतीयों द्वारा स्वशासन प्रकृति से केवल आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं था। बल्कि मानवता के उत्थान को समर्पित भारत के आध्यात्मिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था।

अरबिंदो ने निम्न कारणों से भारत की स्वाधीनता की वकालत की :

1. स्वतंत्रता बौद्धिक, नैतिक, वैयक्तिक और राजनीतिक हर प्रकार के तर्कसंगत विकास के लिए अनिवार्य है, इसलिए यह अपने आप में राष्ट्रीय जीवन की एक आवश्यकता है। इसलिए केवल स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता हासिल करने का प्रयास भी निरर्थक नहीं था।
2. दूसरे मनुष्यों के विकास की प्रक्रिया में आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति भौतिक उन्नति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अरबिंदो की राय में, आध्यात्मिक प्रगति वाले भारत की यह नियति है कि वह दुनिया की प्रगति का नेतृत्व करे और इसलिए भी भारत को स्वतंत्र होना चाहिए।
3. भारत अच्छे ढंग से और खुशहाल रहे, इसके लिए भी आवश्यक था कि भारत में स्वराज हो। इसके लिए यह आवश्यक था कि भारतवासी गुलामों की तरह नहीं, बल्कि आजाद लोगों की तरह रहकर मनुष्य जाति के आध्यात्मिक और बौद्धिक लाभ के लिए काम करें।

अरबिंदो के जीवन के प्रारंभिक चरण में उनके चिंतन और गतिविधियों पर राष्ट्रवाद की जो अवधारणा प्रमुख रूप से विद्यमान थी, वह मनुष्य जाति की एकता की दिशा में ले जाने वाली एक सीढ़ी मात्र थी। मनुष्य जाति की इस एकता को वे प्रकृति की अंतिम योजना और मानव विकास का

नोट

अनिवार्य लक्ष्य मानते थे। (इस बिंदु पर अनुच्छेद 10.5 में विस्तार से चर्चा की गयी है।) राष्ट्रीय स्वाधीनता के इस लक्ष्य को पाने के लिए उन्होंने कुछ तरीके समझाये। राजनीतिक गतिविधियों से उनका जो थोड़े समय का जुड़ाव रहा उसमें उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही की जो योजना रखी उस पर हम विस्तार से बात करेंगे।

राजनीतिक कार्यवाही का सकारात्मक कार्यक्रम

वर्ष 1906 में अरबिंदो ने अपनी बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। इसी दौर में उन्होंने उन राजनीतिक तरीकों के बारे में सोचा और लिखा जिन्हें अंग्रेजों के खिलाफ अपनाया जाना था। उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही का जो मार्ग सुझाया, उसके दो सैद्धांतिक आधार थे। अंग्रेजी प्रभुत्व से पूरी स्वतंत्रता उनका अंतिम लक्ष्य था और उनका मानना था कि इसे विदेशी मालिकों की दया की दुहाई देकर हासिल नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए लाखों भारतवासियों की असीम शक्ति को सही दिशा में इस्तेमाल करना आवश्यक था।

अरबिंदो के अनुसार, जनता की आंतरिक शक्ति और बल के इस अपार भंडार को सही दिशा देने के लिए विभिन्न किस्म की राजनीतिक कार्यवाहियों का सहारा लिया जा सकता था, अर्थात् 1. क्रांतिकारी संगठन बनाकर उसके जरिये गुप्त क्रांतिकारी प्रचार किया जाये। इस कार्यवाही का लक्ष्य एक हथियारबंद विद्रोह की तैयारी करना था। 2. दूसरे, लेखों, भाषणों, जनसंपर्क आदि के जरिये विदेशी शासन के खिलाफ लगातार प्रचार किया जाए। उस समय बहुत से लोग इसे असंभव योजना मानते थे क्योंकि उनकी राय में ब्रिटिश साम्राज्य इतना मजबूत था कि उसे ऐसी तरकीबों से हिलाना असंभव था। 3. तीसरे, विभिन्न संगठनों के जरिये जनसाधारण को जागृत करके असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध जैसे तरीकों से विदेशी शासन का खुला और पूरा विरोध किया जाए। अरबिंदो ने इन तीनों ही तरीकों को आजमाया। जब वे बड़ौदा में थे, उस समय भी उनके संपर्क बंगाल और महाराष्ट्र के क्रांतिकारी संगठनों से थे। उन्होंने बड़ौदा सेना में अपने बंगाली संपर्कों के जरिये गुप्त टोलियां बनाने की कोशिश की। उसी समय उन्होंने तिलक जैसे क्रांतिकारी कांग्रेस नेताओं से सम्पर्क बढ़ाया और कांग्रेस में नरमपंथियों के असर को कम करने में उनका साथ दिया। बंगाल के बंटवारे के बाद की राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति में, उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीकों का आयोजन और प्रचार किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके की उनकी वकालत नरमपंथी नेताओं के संवैधानिक तरीकों से उनके मोह भंग का परिणाम थे। वह प्रस्ताव पारित करने, आवेदन भेजने और अंग्रेजी शासकों के साथ बातचीत करने जैसे तरीकों के खिलाफ थे। इसकी जगह वे विदेशी सामान का बहिष्कार, शासकों के साथ असहयोग आदि जैसे तरीकों की वकालत करते थे। उनकी दृष्टि में उस समय ये ही तरीके सबसे उपयुक्त थे, क्योंकि भारतीयों पर शासन ऐसे शासकों का था जो अवाम की मांगों के प्रति संवेदनरहित और अत्याचारी थे।

इस तरह, उन्होंने जिन तरीकों की वकालत की, वे नैतिक या आध्यात्मिक न होकर अत्यंत व्यावहारिक राजनीतिक उपाय थे। इन तरीकों को अपनाते समय वे बल प्रयोग को अस्वीकार नहीं करते थे। हिंसा अरबिंदो के लिए निषेध नहीं थी। परिस्थितियों की मांग होने पर बल और हिंसा का इस्तेमाल औचित्यपूर्ण था। गांधी जी के सविनय प्रतिरोध के तरीके और अरबिंदो के निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच यही अंतर था। गांधी जी हिंसा को अनैतिक मानते थे और इसलिए उनकी दृष्टि में यह हानिकर और अवांछनीय थी। वे इसे नैतिक कायरता से दूषित मानते थे और यह भी मानते थे कि जिस

लक्ष्य को पाने के लिए इसका इस्तेमाल होना था, उससे इसका मेल नहीं बैठता। लेकिन अरबिंदो के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध राष्ट्रीय पुरनरुद्धार का एक व्यापक कार्यक्रम था।

कार्यवाही का कार्यक्रम

नोट

अंग्रेज शासकों के निरंकुश और दमनकारी उपायों का प्रतिरोध करने के लिए कार्यवाही का जो कार्यक्रम प्रस्तावित था, बहिष्कार उसका प्रमुख महत्वपूर्ण अंग था। इस संदर्भ में 'बहिष्कार' का अर्थ था ऐसा कोई भी काम करने से संगठित रूप से इंकार करना जिससे अंग्रेज अफसरों को प्रशासन चलाने में मदद मिले। यह असहयोग तब तक चलना था जब तक अवाम की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती। बहिष्कार के इस तरीके को कार्यक्रम के अग्रिम मोर्चे पर रखने का उद्देश्य विद्यमान स्थितियों में प्रशासन को असंभव बनाना था। बहिष्कार का मुख्य निशाना अंग्रेजी सामान था, क्योंकि अंग्रेजी शासकों के हाथों आर्थिक शोषण को तुरंत रोकना था। अरबिंदो का यह विश्वास था कि अगर यह हो गया तो, इसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी साम्राज्य ध्वस्त हो जाएगा।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धित का बहिष्कार इस कार्यक्रम का एक और अंग था। इस शिक्षा पद्धति की बुनियादें राष्ट्र विरोधी और दोषपूर्ण थीं, इस पर पूरी तरह से सरकार का नियंत्रण था और इसका इस्तेमाल शासक अपने प्रति निष्ठा बनाने और राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को हतोत्साहित करने के लिए कर रहे थे। इस कार्यक्रम में सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों का बहिष्कार शामिल था और इसका उद्देश्य ऐसी राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं और शिक्षा पद्धति की स्थापना करना था जिसका लक्ष्य देश के युवाओं में देश की समस्याओं के प्रति जागरुकता, राष्ट्र के प्रति प्रेम और मानसिक तैयारी का वातावरण बनाना था, जिससे वे विदेशी ताकत के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ सके। इस कार्यक्रम में अंग्रेजी ढंग की न्यायिक व्यवस्था के बहिष्कार की भी वकालत थी। इस व्यवस्था को पक्षपातपूर्ण, महंगा, शासकों के राजनीतिक लक्ष्यों के अधीन और इस देश की जनता के लिए विनाशकारी माना गया। न्याय करने का ढंग अफसरशाही होने के लिए इसकी आलोचना की गयी।

अंतिम, इस कार्यक्रम में प्रशासन का बहिष्कार भी शामिल था। अधिशासी (या कार्यकारी) और प्रशासनिक तंत्र के बारे में यह माना गया कि वह निर्मम, दमनकारी, मनमाना, हस्तक्षेप करने वाला और अनावश्यक रूप से कुतूहल रखने वाला था। बहिष्कार का उद्देश्य इस प्रशासनिक तंत्र का ढांचा भर रहने देने का था, जिससे शासक इस देश के असहाय जनसाधारण को शोषित और तंग करने के अपने प्रयासों में इसका इस्तेमाल न कर पाये।

अरबिंदो इस बात को पूरी तरह से जानते थे कि देश के लिए व्यवस्था और अनुशासन महत्वपूर्ण थे। बहिष्कार की वकालत करते समय, उन्होंने इस बात की वकालत भी की थी कि विद्यमान व्यवस्था का स्थान लेने के लिए वैकल्पिक प्रबंध भी किये जायें। इस कार्यक्रम को वह आत्म-विकास की योजना मानते थे और उनका विश्वास था कि अगर लोगों ने दृढ़ता से इन तरीकों को लागू कर लिया, तो अंग्रेजी राज को चुटकियों में खत्म किया जा सकता था।

श्री अरबिंदो घोष के राजनैतिक विचार (दूसरा दौर– 1910 से बाद के वर्ष)

हम पहले ही बता चुके हैं कि अरबिंदो ने 1910 में नाटकीय ढंग से राजनीति छोड़ दी और पांडिचेरी चले गये। ऐसा उन्होंने रहस्यात्मक अनुभवों के जरिये अपनी अंतरात्मा की लगातार पुकार के बाद किया। इस दौर के उनके लेख मुख्य रूप से दार्शनिक प्रकृति के हैं, जिनमें हमें उनके पहले के राजनीतिक विचारों का विस्तार मिलता है, अब इनकी अभिव्यक्ति मानवता और उसके आध्यात्मिक भविष्य के व्यापकतर संदर्भ में हुई।

नोट

मानव समाज का उद्‌विकास

अरबिंदो का तर्क है कि मानव समाज को अपने विकास को प्रक्रिया में तीन चरणों से होकर गुजरना होता है। पहला चरण सहजता का चरण होता है। इस चरण में, समुदाय के निर्माण के स्वरूप और कार्यकलाप, इसकी परंपराएं और प्रथाएं और संस्थात्मक संगठन स्वाभाविक संगठित विकास के परिणाम होते हैं। प्राकृतिक मूल प्रवृत्तियों और परिवेश संबंधी आवश्यकताएं इसके निर्माण में एक अहम भूमिका अदा करती हैं। लोग कुछ चिन्हों में विश्वास करते हैं, जिनकी प्रकृति कल्पना और मूल प्रवृत्ति के गुणों वाली होती है। एक ही नस्ल या नातेदारी वाले लोग समान चिन्हों का इस्तेमाल करते हैं जो उनके लिए धर्म बन जाते हैं। इस तरह, विकास के इस चरण में, प्राकृतिक मूल-प्रवृत्तियां और धार्मिक चिन्ह साथ-साथ चलते हैं।

दूसरा चरण चेतना का चरण है, जिसमें लोग आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं के प्रति सचेत हो जाते हैं और बुद्धि और सृजनात्मक शक्ति की मदद से जीवन और इसकी समस्या के बारे में सोचने लग जाते हैं। इस चरण की प्रकृति मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक और नैतिक होती है। इस चरण में बुद्धिजीवी महत्वपूर्ण हो जाते हैं और तर्क या विद्रोह या प्रगति या स्वतंत्रता के युग पहलकर्त्ताओं के रूप में आगे आते हैं।

तीसरा चरण तर्क की जीत और हार दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस चरण में मनुष्य सामूहिकता में और भी गहनता से और उद्‌देश्य के साथ जीने लगते हैं। इस चरण में मनुष्य का जीवन सहज स्वतंत्रता, सहानुभूति और एकता के बोध से और व्यक्तिगत और सामुदायिक अस्तित्व की भावना से निर्देशित होता है। यहां से, मानवजाति को इस आध्यात्मिक समाज के विचार को मूर्त रूप देने की ओर बढ़ना होता है। यह वह आदर्श है जिसकी ओर समाज के उद्‌विकास की यह प्रक्रिया इशारा करती है।

इस आध्यात्मिक समाज में एक नियंत्रण करने वाले तंत्र के रूप में राष्ट्र के लिए कोई जगह नहीं होगी। लोग ईश्वर या अपने ही बृहत्तर रूप की तरह इसकी पूजा नहीं करेंगे। राष्ट्र के रूप में विभिन्न अस्मिताओं के आधार पर कोई टकराव या संघर्ष नहीं होगा। समूह के रूप में राष्ट्रों के भीतर एकता तो होगी ही, बल्कि, मानवजाति की अंतिम एकता भी होगी। अरबिंदो ने इस एकता को हासिल करने की प्राथमिक जिम्मेदारी भारत को सौंपी थी।

मानव एकता की प्रकृति

यह राज्य या किसी और संगठन के कड़े कानून के अधीन स्थापित कोई यांत्रिक एकता नहीं होगी, क्योंकि इस तरह की एकता संभवत: विभिन्न समूहों, व्यक्तियों या नस्लों की विविधता या अनेकता को नकार देगी। सभी व्यक्तियों और समुदायों को अपनी संभावनाओं के पूर्ण विकास और अपनी बहुआयामी अनेकता की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर मिलेगा।

भविष्य का समाज एक जटिल एकता का समाज होगा, एक ऐसा विश्व समाज जिसमें विद्यमान राष्ट्र एक समग्रता को अंतर्निहित अंग होंगे। राष्ट्रीय समाज सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में काम करते रहेंगे, लेकिन उनकी भौतिक सीमाओं की कोई प्रासंगकिता नही होगी क्योंकि वे मानवजाति की एकता के सपने को साकार करने के लिए इन सीमाओं के पार देखेंगे।

अरबिंदो उस समय में इस तरह के आध्यात्मिक समाज के उदय के रास्ते में आने वाली समस्याओं और बाधाओं के बारे में जानते थे, लेकिन वे निकट भविष्य में ऐसे समाज के उदय के प्रति आशावदी थे। वे विश्व एकता और विश्वशांति को हासिल करने के बारे में आशावान ही नहीं, निश्चित भी थे। शांति और एकता की मनुष्य की आकांक्षा 1920 में राष्ट्र संघ और 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ

की स्थापना की शक्ल में कुछ हद तक यथार्थ हो गयी थी। वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामने इस तरह के संगठनों की व्यावहारिक सीमाओं को भी जानते थे, लेकिन एक एकताबद्ध या संयुक्त विश्व के उदय में उनका दृढ़ विश्वास था। उनका यह विश्वास था कि यह निश्चित है क्योंकि इसका होना मानवता मात्र के बने रहने के लिए आवश्यक है और मामले में असफलता का मतलब होता है, खुद मानव जाति की असफलता। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मानवता ने जब-तब भले ही भूलें की हों, वह अपने ही खात्मे के लिए काम नहीं करने वाली।

नोट

4.8 वी. डी. सावरकर

भारतीय स्वतंत्रता, के संघर्ष के इतिहास में वी.डी. सावरकर की जगह अद्वितीय है। उनका विश्वास था कि भारतीयों द्वारा मजबूत सशस्त्र विद्रोह भारत को अंग्रेजों से आजाद कराने में सफल सिद्ध होगा। एक बहादुर क्रांतिकारी, दुश्मन द्वारा पकड़े जाने के बाद उन्होंने समुद्र पार कर भागने की कोशिश की और देशभक्त के रूप में नेता, उन्होंने सिपाही विद्रोह की सच्चाई को उजागर किया।

सावरकर को जन्म से विद्रोही कहा जा सकता है। जब वे सिर्फ ग्यारह साल के थे , उन्होंने बच्चों के एक गिरोह का आयोजन किया, वानर सेना (बंदर ब्रिगेड)। वह चाहते थे कि निडर व्यक्ति की तरह, सब लोग शारीरिक रूप से मजबूत हो व सभी प्रकार की आपदाओं का सामना करने में सक्षम हो फिर चाहे यह आपदा प्राकृतिक हो या मानव निर्मित। उन्होंने पर्यटन, लंबी यात्रा, तैराकी और पर्वतारोहण का नासिक के आसपास, महाराष्ट्र में अपने जन्म स्थान में आयोजन किया।

वे अपनी हाई स्कूल शिक्षा के दौरान, तिलक द्वारा शुरू किए गए शिवाजी उत्सव व गणेश उत्सव को आयोजित करते थे तथा राष्ट्रवादी विषयों पर भी नाटक प्रस्तुत करते थे। उन्होंने लोगों को प्रेरित करने तथा उनमें एक जुनून विकसित करने के लिए कविता, निबंध, नाटक, आदि का लेखन शुरू कर दिया।

सावरकर के राजनीतिक विचार

सावरकर का राजनीतिक दर्शन भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केद्रित था। भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक पहलूओं के सामंजस्य में रही है। उनका प्रबल तर्क था कि अधिसंख्यक हिंदुओं द्वारा अनुसरित धार्मिक व्यवस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या के विपरीत, यह हिंदुत्व अथवा जनमानस और चेतना में व्याप्त हिंदुतव ही है जो भारत की राष्ट्रीयता केंद्र में स्थित है। इस प्रकार की अवधारणा में हिंदुत्व के अंतर्गत इस देश के अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक रूप से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। अपने विचार बिंदु पर बल देते हुए सावरकर ने लिखा था लाखों की संख्या वाले सिख, जैन, लिंगायत, अनेक समाजी और अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि वे-जिनके पूर्वजों के दसवीं पीढ़ी तक हिंदुओं का रक्त संचारित हो रहा था-वे अब अचानक हिंदू नही रहे है। हिंदुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश से जुडी हैं कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ भू बल्कि पुण्य भू भी है।

फिर वे इस बात पर बल देते है कि हिंदुओं के हिंदुस्तान में जन्में और पले होने के कारण इस देश के लिये उनकी समर्पण तथा उत्सर्ग भावना असीम थी। इसलिए, राष्ट्रवाद की समतुल्यता हिंदू अधिसंख्यक होने के कारण हिंदू ही राष्ट्र का स्वरूप निर्धारण करेंगे। ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन आदि अल्पसंख्यकों को हिंदुत्व के विकास को बढ़ावा देने के लिये बहुसंख्यक हिंदुओं से स्वतंत्र सहयोग करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में निमज्जित कर लेना चाहिए। हिंदु राष्ट्र की स्पष्ट पहचान को निरूपित करते हुए सावरकर ने चेतावनी दी कि

नोट

क्षुद्र लाभों के लिए धर्म परिवर्तन करने वालों को इस पवित्र भूमि पर कोई स्थान नही मिलेगा। एक अन्य प्रसंग में उन्होंने राष्ट्रीय लक्ष्य में मुसलमानों तथा ईसाइयों की समान रूप से भागीदारी मानने से इंकार किया। राजनीतिक सत्ता में इसलिए वे ही साझीदार हो सकते हैं, जिनकी भावनाएं इस भूमि से जुड़ी हैं और जो इस देश को अपनी पुण्य भूमि मानते है। जैन, सिख, लिंगायत, समाजी इत्यादि) जहाँ तक कि नागरिक एवं राजनीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में सानुपातिक प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है, हिंदू एक एकीकृत भारत के निर्माण की प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों का सहयोग स्वीकार करने की तैयार होगे। लेकिन वे समानता, विशेष बर्ताव तथा समान रूप से सत्ता में साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे, यद्यपि योग्यता के आधार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

तत्कालीन भारत में उभरती राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकता, कांग्रेस की समझौतापरस्त नीतियों और बृहत्तर इस्लामाबाद के वर्चस्व को देखते हुए, सारवरकर ने कुछ विशेष कदम सुझाए।

1. नेतृत्व संघर्ष में नेतृत्व हथियाकर बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हिंदू समुदाय को सुसंगठित करने के लिये उन्होंने विस्तार से, मुगल शासकों को नियंत्रण मे रखने संबंधी प्रयासों के लिय शिवाजी के गुणों और बुद्धिमता की प्रशंसा की।

2. पूर्ववर्ती हिंदुओं को पुनः हिंदू धर्म को परिधि में लाने के लिए शुद्धीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया। उनके विचार से यह गैर-हिंदुओं में कट्टरपंथियों को अलग-थलग कर देगा। बहुसंख्यक हिंदू समुदाय द्वारा उठाये गये ऐसे कदम भारत की संश्लिष्ट राष्ट्रीय संकृति को क्षतिग्रस्त करेंगे, जिसमें इस्लाम का भी योगदान है। लेकिन अधिकाधिक बढ़े हुए मुस्लिम जुझारूपन के चलते, उनकी दृष्टि में, कोई और विकल्प था भी नहीं।

अनेक सिद्धांत मसलों पर सावरकर का दृष्टिकोण निम्न उद्धरण में उच्छी तरह व्यक्त होता है :

"एक सच्चा हिंदू देश भक्त एक भारत राज का प्रेमी भी होता है। हिंदुस्तान उनकी पुण्यभूमि ओर मातृभूमि होने के कारण हिंदुओं का हिंदुस्तान के लिए प्रेम असीमित है। जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, उनकी परिभाषा, दरअसल बहुसंख्यक समुदाय के राष्ट्रीय साम्यवाद के रूप में की जा सकती है। हिंदुस्तान में हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले और संख्या में सर्वाधिक हिंदू ही हैं जो राष्ट्रीय समुदाय का संघ है और राष्ट्र के राष्ट्रवाद की रचना और सूत्रीकरण। विश्व के प्रत्येक देश में ऐसा ही है। अल्पसंख्यक अपनी अलग धार्मिक आस्था और सभ्यता बनाए रखते हुए बहुसंख्यक समुदायों के साथ सहयोग करते हैं और इन देशों के सार्वजनिक जीवन तथा प्रशासन में स्वयं को रचा बसा लेते हैं।"

4.9 एम. एन. राय और उनके विचार

एक बंगाली पुरोहित परिवार में जन्मे रॉय अपने बाल्य काल में ही भारतीय राष्ट्रवादी कार्य करने के लिए आकर्षित हो गए (भारत तब एक ब्रिटिश उपनिवेश था)। उन्होंने व्यापक रूप से यात्रा की, हथियार और भारत की आजादी के लिए मदद की मांग की, मेक्सिको में मार्क्सवाद का सामना कर वहाँ उन्होंने मैक्सिकन साम्यवादी पार्टी स्थापित करने में मदद की। एक भगौड़ा के रूप में, एम. एन. रॉय ने अपनी गिरफ्तारी से बचने के लिए अनेक छद्म नाम अपनाये एक निर्वासित के रूप में उन्होंने भारतीय साम्यवादी दल स्थापित करने में मदद की, लेकिन रूसी साम्यवादी तानाशाह स्टालिन के साथ उनके संबंध खराब हो गये।

1930 में भारत लौटने पर, उन्हें अंग्रेजों द्वारा छह साल के लिए कैद किया गया था, उस समय का उन्होंने चित्र और लेखन में, इस्तेमाल किया। वे मार्क्सवाद के आर्थिक नियतिवाद से दूर चले

नोट

गए, और एक दार्शनिक और सांस्कृतिक क्रांति, 'बीसवीं सदी के पुनर्जागरण' की मांग की। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की तुलना में फासीवाद को स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए एक खतरे के रूप में देखते हुए उन्होंने 1939-45 के युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन किया। हालांकि शुरू में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक समर्थक थे, लेकिन युद्ध करने के इसके दृष्टिकोण के कारण उन्होंने इसे छोड़ दिया। उन्होंने राजनीतिक दलों को अस्वीकार कर दिया और लोकतंत्र के रास्ते के रूप में लोगों की समितियों के एक संजाल का प्रस्ताव रखा। ''नए मानवतावाद'' पर एक घोषणा पत्र में अपने कट्टरपंथी विचारों का प्रकाशन किया, और एक वैज्ञानिक, भौतिकवादी, मानवतावादी दर्शन का प्रस्ताव रखा। उन्होंने अपने नैतिकता की जैविक जड़ों का पता लगाया और सुझाव दिया कि मानव प्रगति स्वतंत्रता और सत्य की दिशा में प्रगति पर निर्भर करती है। 1948 में उन्होंने भारत में कट्टरपंथी मानवतावादी आंदोलन शुरू किया, 1952 में अंतर्राष्ट्रीय मानवतावादी और नैतिक संघ स्थापित करने के लिए वह यूरोप और अमेरिका में अन्य मानवतावादी समूहों के साथ शामिल हो गए है। रॉय प्रथम उपाध्यक्ष में से एक थे। बंबई में मानवतावादी केंद्र एम.एन. रॉय मेमोरियल मानव विकास परिसर कहा जाता है।

रॉय का जीवन और राजनीतिक सक्रियता उनके मानवतावादी मूल्यों पर आधारित थी। वे अपने लंबे और विविधतापूर्ण जीवन में स्वतंत्रता के लिये प्रतिबद्ध रहे।

रॉय की राजनीतिक गतिविधियां

अंतरराष्ट्रीय श्रेष्ठता के एक बौद्धिक, एम.एन. रॉय (मूल रूप से नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य) भी बीसवीं सदी में सामाजिक मुक्ति के लिये किये गये अनेक प्रमुख संघर्षों में एक अग्रणी के प्रतिभागी थे।

सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारत में एनार्की-राष्ट्रवादी आंदोलन के एक प्रमुख सदस्य थे, उन्होंने दुनिया के कई हिस्सों के क्रांतिकारी कारणों में सेवा की। भारत में आतंकवादी कोशिका में एक नौजवान के रूप में उन्होंने देश की आजादी के लिये एक आजीवन प्रतिबद्धता और निष्ठा की कसम खाई, उस समय जिसका अर्थ, भारत से अंग्रेजों को बाहर निकालना था।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान वे भारत में हथियारों की तस्करी के सबसे खतरनाक काम में लगे हुए थे। क्रांति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता के कारण वे सुदूर और बैटाविआ, टोक्यो, बर्लिन, पेरिस, एम्स्टर्डम, सैन फ्रांसिस्को और कोलंबिया और स्टैनफोर्ड के विश्वविद्यालयों के परिसरों जैसे विविध स्थानों पर गए।

उन्हें अमेरिका के युद्ध में प्रवेश से पूर्व न्यूयॉर्क में गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन वे एवलिन ट्रेंट के साथ वहां से मैक्सिको के लिये भाग निकले जो बाद में उनकी पहली पत्नी बनी। मेक्सिको में, बोरोदिन के सहयोग से उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन को बढ़ावा देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और सोवियत रूस के बाहर की दुनिया में पहली साम्यवादी पार्टी की स्थापना की।

बाद में, लेनिन के निमंत्रण पर, वे सोवियत रूस गए और बीसवीं सदी के दौरान साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय के अध्यक्ष-मंडली सिडियम के सदस्य चुने गए। 1920 में, रॉय ने लेनिन द्वारा तैयार शोध के पूरक के रूप में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर अपना अनुपूरक शोध को प्रस्तुत किया।

वे साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय के पूर्वी विभाग और मास्को ओरिएंटल विश्वविद्यालय के प्रमुख थे। 1927 में, रॉय साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय के विशेष प्रतिनिधि के रूप में चीन गए।

1930 में, वे भारत लौट आए लेकिन चूंकि ब्रिटिश भारतीय पुलिस उनकी तलाश में थी वे छिपे रूप में रहे और इधर उधर घूमते रहे। गिरफ्तार किए जाने से पहले के छह महीने की छोटी सी

अवधि में, रॉय दृढ़ प्रतिज्ञ लोगों का एक व्यापक संगठन बनाने में सफल रहे। उन्हें गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह/देशद्रोह – भारत में अपनी संप्रभुता से अंग्रेजों को वंचित करने का दोषी पाया गया। जिसके लिये उन्हें बारह साल की कैद की सजा सुनाई गई और उच्च न्यायालय ने इसे छह साल कम कर दिया।

नोट

उन्हें देहरादून में 20 नवंबर 1936 को जेल से रिहा किया गया था। एलेन जिससे उन्होंने कैद के वर्षों में पत्र के माध्यम से संपर्क रखा था, भारत आई और उन्होंने 10 मार्च 1937 को शादी कर ली।

1936 में उनकी रिहाई से, 1954 में अपनी मृत्यु के समय तक वे सामाजिक, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के काम में लगे रहे, जो उनके विचार में, केवल यही एक मुक्त समाज के विकास के लिए उचित स्थिति पैदा कर सकता है।

1954–1956 की अवधि के दौरान, वे एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में भी कार्य करते रहे, पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में इसे कट्टरपंथी करने की कोशिश कर, और बाद में अपनी कट्टरपंथी डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता के रूप में, जिसे दार्शनिक पुन:र्स्थापन के परिणामस्वरूप 1948 में भंग कर दिया गया।

रॉय का सबसे स्थायी योगदान, वैज्ञानिक मानवतावाद या कट्टरपंथी मानवतावाद का दर्शन है, जो उनके अनेक विचारों एवं कार्यकलापों से भरे जीवन के दौरान विकसित हुआ।

उन्होंने स्वतंत्र भारत के प्रारंभिक चरण में कट्टरपंथी मानवतावादी साप्ताहिक की स्थापना की और उसका संपादन किया, जिसने 21 मार्च 1987 को रॉय की जन्म शताब्दी के लगभग दो सप्ताह बाद 4 अप्रैल को अपनी स्वर्ण जयंती मनाई। वे एक मानवतावादी त्रैमासिक पत्रिका 'मार्क्सवादी विचार' के भी प्रारंभिक चरण में संस्थापक एवं संपादक रहे।

उन्होंने भौतिकवाद, क्रांति और जवाबी क्रांति, रूसी क्रांति, नए मानवतावाद, नई सोच और कारण, स्वच्छंदतावाद और क्रांति पर अपने पुस्तकें लिखी।

वे भारतीय पुनर्जागरण संस्थान के संस्थापक निदेशक थे जो 13 मोहिनी रोड, देहरादून में उनके आवासीय परिसर में ही स्थित थी। संस्थान के मुख्य उद्देश्यों में से एक भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने के लिए और विचार और व्यवहार के सभी मौजूदा समस्याओं और परंपराओं की जांच... .. आधुनिक ज्ञान और अनुभव के आलोक में पुराने मूल्यों को फिर से मूल्यांकन करने के लिए, सभी मौजूदा समस्याओं के लिए, सोचा की परंपराओं, और एक महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ व्यवहार; की जांच करना था और आत्मज्ञान की भावना, मानवतावाद और सत्य की खोज का प्रसार करना था। यह एलेन के शब्दों में विचारों का केन्द्र स्थल था। एक दोस्त, प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार, गाए विंट ने ''द लिट्ल गोशेन'' के रूप में वर्णित किया है।

रॉय आमतौर पर एक विफलता के लिए जिम्मेदार है। यह सब सफलता और विफलता की जांच करने के लिए किये गए मानदंडों पर निर्भर करता है। सच है कि रॉय की तुलना में बहुत कम पुरुषों ने आमतौर पर सफलता को हासिल किया है। रॉय ने खुद उत्साह से टिप्पणी की है की चीजें उनके हाथ से निकल रही थी। लेकिन अपने कैरियर के अंत से पहले चरण में उन्होंने शक्ति को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए आवश्यक साधन के रूप में देखा था। वे बाद में उन्मुखीकरण को पार कर गए और सफलता और विफलता, जीत और हार, अच्छाई बुराई के ऊपर पहुंच गये। वह वास्तव में एक उदासीन एवं आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र आदमी बन गये।

भले ही वे असफल रहे, उनकी असफलताऐं जैसी भी हो उनके महत्वपूर्ण निर्णय गलत होने के

नोट

कारण, या उनकी वास्तविकताओं के साथ न होने के कारण नहीं थी जैसा कि उनपर अक्सर आरोप लगाया गया है, बल्कि इस कारण से थी कि वे आमतौर पर अपने समय से, अपने परिवेश और अपने समकालीनों से काफी आगे थे। तारकुंडे ने अच्छी तरह से कहा है, नई व्यवस्था का समर्थक पुरानी व्यवस्था का नेता नहीं हो सकता। राय की विफलता का यही कारण है।

एक और अर्थ में, उनके बोधगम्य टिप्पणीकारों में से एक के अनुसार, रॉय की अपनी दृष्टि ने सफलता को रोका, उनकी सफलता का मतलब इतिहास का अंत और समय की समाप्ति होता। और न ही यह बंद हो सकता है। रॉय के विचारों जो खुद इतिहास का हिस्सा है, कभी भी जीवन के लिए ऊर्जावान प्रेरणा स्रोत के रूप में कार्य करेंगे।

उनके दार्शनिक विचार

एम.एन. रॉय के अनुसार, आदमी समाज का आदर्श है। कानून शासित भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि से बाहर, इंसान अनिवार्य रूप से तर्कसंगत है। एक जैविक संपदा होने के कारण, यह इच्छा के विपरीत नहीं है।

मनुष्य को कानून शासित ब्रह्मांड की विशालता से डर नहीं होना चाहिए, वह इसका हिस्सा है, और उसके, कानून उस पर भी काम कर रहे हैं। यह कानून शासित समझदारी के रूप में उसे में कार्य कर रहे हैं। मनुष्य को ब्रह्मांड के अन्य अंशों की तुलना में यह लाभ है कि उसके पास बुद्धि है जो इसे इन कानूनों को जानने और अपनी सहज समझदारी के प्रति सावधान रहने की क्षमता देती है।

आदमी का सर्वोच्च महत्व इस तथ्य का परिणाम है कि उसमें बनने की शारीरिक प्रक्रिया अब तक उच्चतम स्तर पर पहुँच गयी है। इस प्रकार मानवतावाद रहस्यवादी और जीवन का काव्य दृष्टिकोण नहीं रह गया है। मानवतावाद के साथ सामंजस्य, भौतिकवादी दर्शन में एक नैतिकता हो सकती है, जिनके मूल्यों को आदमी की सहज समझदारी की तुलना में कोई अन्य मंजूरी की आवश्यकता नही हैं।

मनुष्य मूलत: तार्किक प्राणी है। उसका आधारभूत आग्रह, विश्वास करना नहीं है, बल्कि करना और प्रश्न करना है। आदमी सबका दिमाग व्यक्ति का विकास सामाजिक प्रगति का मानदंड़ है।

अगर सामाजिक प्रगति को तकनीकी विकास और मानवीय श्रम के फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि से मापा जाता है, जो इसका मतलब व्यक्ति का आगे विलोपन, बौद्धिक अनुशासन और मानवीय सृजनात्मकता का मानकीकरण है, तो यह प्रगति नहीं है।

स्वतंत्रता की इच्छा और सत्य की तलाश मानवता की प्रगति के मुख्य अंग हैं। मानव मात्र की एक व्यक्ति के रूप में क्षमताओं को उजागर करने में लगे प्रतिबंधों को धीरे-धीरे हटाने का नाम स्वतंत्रता है।

स्वतंत्रता एक अमूर्त आदर्श नहीं है। भारत और देशों इसका की आम जनता के लिए एक निश्चित अर्थ है। सभी प्रकार की इच्छाओं नुकसान की आशंका आदि से स्वतंत्रता।

स्वतंत्रता की एक नई दुनिया बनाने के लिए, समाज को आर्थिक विकास से आगे जाना चाहिए। दलित और शोषित के नाम पर शक्ति हथियाना और उत्पादन के नाम पर निजी सम्पत्ति समाप्त करना स्वतंत्रता का आसानी अर्थ नहीं है।

एक अच्छे समाज, अच्छा पुरुषों द्वारा ही बनाया जा सकता हैं और एक तर्कसंगत और नैतिक समाज केवल तर्कसंगत और नैतिक पुरुषों द्वारा है। अच्छाई और संभावनाएं हर इंसान में होती हैं, इसलिए उन्हें विकसित किया जा सकता है।

संसदीय लोकतंत्र का विकल्प तानाशाही नहीं है बल्कि एक संगठित लोकतंत्र है। लोकतंत्र को प्रभावी

बनाने के लिए, शक्ति हमेशा लोगों में निहित रहना चाहिए और प्रभावी ढंग से सत्ता संप्रभुता, संपन्न फिराना करने के लिए, लोगों में तरीके और साधन होने चाहिए, कभी-कभी नहीं, बल्कि हमेशा चाहिए।

नोट

नये मानववाद का दर्शन आदमी और उसकी जरूरतों से शुरू होता है। शुरुआत आदमी है; आदमी समाज का मूल घटक है, नागरिक राज्य की आधारभूत इकाई है। मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता के साधन के रूप में इन दोनों को बनाया।

भौतिकवाद मानवीय जीवन के उच्च पहलुओं का विरोधी नहीं है। इसका कहना है कि केवल आदमी के जीवन के सभी तथाकथित आध्यात्मिक पहलू, इस दुनिया को पार नहीं करते, बल्कि आदमी में एक जैविक रूप में निहित हैं। आदमी बौद्धिक रूप में विकसित होता है, उसका ज्ञान विस्तृत होता है, उसमें निहित उच्च मूल्य, भौतिक अस्तित्व के अलावा अन्य चीजों में रुचि लेने की क्षमता, अच्छी भावनाओं कला, विज्ञान आदि का विकास से अधिक संभव हो जाते हैं।

नैतिकता को आदमी की सहज समझदारी के लिए वापस भेजा जाना चाहिए। उसके बाद ही आदमी अनायास और स्वेच्छा से नैतिक हो सकता है। कारण विवेक के लिए एक अपील है जो नैतिकता की ही मंजूरी है; और अंतिम विश्लेषण में विवेक फकीर या रहस्यमय कुछ भी नहीं है। यह चेतना के स्तर पर एक जैविक समारोह है।

धर्मनिरपेक्षता एक राजनीतिक संस्था नहीं है; यह एक सांस्कृतिक माहौल है जो बड़े से बड़े और ईमानदार व्यक्तियों की उद्घोषणा द्वारा नहीं बनाया जा सकता है।

4.10 गाँधी जी के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विचार

महात्मा गांधी (1869-1948) भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के सर्वोच्च नेता थे जिन्होंने 1917 और 1947 के बीच लगभग तीस साल इस का नेतृत्व किया। वे एक विचारक थे क्योंकि उन्होंने अब तक की सभी मान्यताओं और अपने समय के सिद्धांतों को चुनौती दी थी।

गांधी जी को किसी खास रूप में प्रस्तुत कर पाना वास्तव में मुश्किल है। वह तुलना में प्लूटो से बड़े थे, कोई उन्हें सुकरात कह सकता था वह एक अरस्तू की तुलना में अधिक थे, कोई उन्हें बुद्ध कह सकता था, वह एक मिल या एक मार्क्स से अधिक थे, कोई उन्हें गुरुनानक कह सकता था। गांधीजी मार्क्सवादियों के बीच एक उदार, और उदारवादियों के बीच एक मार्क्सवादी थे। उन्होंने प्रजातांत्रिकों के बीच व्यक्तिवादी और एक व्यक्तिवादी के बीच एक प्रजातांत्रिक थे। वे यथार्थवादियों के बीच एक आदर्शवादी, और आदर्शवादियों के बीच एक यथार्थवादी थे। उनमें सभी ज्ञात विचारधाराओं, अतीत और वर्तमान के गुण विद्यमान थे।

पश्चिमी सभ्यता के एक आलोचक के रूप में गांधी

गांधी जी पश्चिमी सभ्यता के एक आलोचक थे। पश्चिमी भौतिकवाद के खिलाफ उनकी शिकायत यह थी की वह अध्यात्मवाद के सार को समाप्त कर देती है। उन्होंने पश्चिमी व्यक्तियों को इस प्रकार माना जैसे वे बिना आत्मा वाले व्यक्ति हैं।

पश्चिम में विद्यमान स्थिति के विपरीत गाँधी जी ने रामराज्य की वकालत की जो केंद्रीय बलों के माध्यम से चीजों के प्रबंधन के लिए पश्चिमी शैली के खिलाफ है, वह विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के लिए खड़े रहे, उन्होंने भौतिकवाद, औद्योगीकरण और पूंजीवाद के खिलाफ, और स्वदेशी, कुटीर उद्योगों और न्यासिता के सिद्धांत के लिए एक मजबूत दलील बनायी।

नोट

सच्ची सभ्यता का अर्थ

सच्ची सभ्यता की परिभाषा गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में यूं दी है, ''सभ्यता आचार की वह विधि है, जो व्यक्ति को कर्तव्य का पथ दिखलाती है। कर्तव्य पालन और नैतिकता का पालन परिवर्तनीय पद हैं। नैतिकता पालन का अर्थ है, भावों और अपने मन के ऊपर काबू प्राप्त करना। 'सभ्यता' शब्द का गुजराती पर्याय है, ''भला आचरण।''

गांधी आगे स्पष्ट करते हैं कि सचमुच सभ्य आचरण का अर्थ है–

(1) अपनी आवश्यकताओं को कम करना,

(2) जीवन क्षय करने वाली प्रतियोगिता से बचना,

(3) ऐसी स्थितियों को रोकना जिसमें लूट, वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयां पनपती हों,

(4) ऋषियों एवं फकीरों को राजा से ऊपर दर्जा प्रदान करना और

(5) दानवी शक्तियों को आत्मा की शक्तियों के वश में रखना।

दूसरे शब्दों में, अपने राजनैतिक सामाजिक कार्यकलापें को नैतिकता और नीति शास्त्र के सिद्धांतों के अनुरूप में रखना अर्थात्– सत्य और अहिंसा के सिद्धांत।

गांधी ने विभिन्न अवसरों पर यह दुहराया था कि मनुष्य की जो यह नैतिक आचरण करने की शक्ति है, वही उसे पशुओं से उच्च स्थान दिलाती है और इसीलिए मानव सभ्यता की प्रगति को नैतिकता के पैमाने से नापना होगा, न कि शुद्ध भौतिकवाद, उपयोगितावाद या पशु बलों के प्रतिमानों से। निष्कर्षत: गांधी ने लिखा था कि सच्ची सभ्यता का पथ हिंसा का पथ नहीं है। पृथ्वी के कमजोर प्रजातियों के शोषण का पथ नहीं है। शुद्ध स्वार्थ एवं पाश्विक शक्तियों का रास्ता सभ्य आचरण का नहीं, बल्कि ठीक इसके विपरीत आचरण की ओर ले जाता है।

राज्य, विकेन्द्रीकरण, कुटीर उद्योग, न्यासिता

गांधीजी पश्चिमी समाज में मौजूद राज्य के प्रशंसक नहीं थे। उनके लिए पश्चिमी राज्य एक केंद्रित हिंसा के रूप में एक निष्प्राण मशीन है। तदनुसार, गांधी जी, ने एक दार्शनिक अराजकतावादी के रूप में स्थिति को स्वीकार किया, लेकिन बहुत अनिच्छा से, जब केवल इसकी सबसे ज्यादा जरूरत थी।

अराजकतावादी वह है जो हर प्रकार के राज्य का विरोध करे : अराजकता, अव्यवस्था का एक सिद्धांत है : राज्य के बिना, सरकार के बिना, कानून के बिना।

गाँधीवाद एक अहिंसक राज्य का हिमायती है जो इस पर आधारित था : (1) लोगों की सहमति (2)समाज में लगभग एकता। गांधी जी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की वकालत की: दोनों राजनीतिक और आर्थिक तौर पर। गांधीवादी लोकतंत्र की भावना में, विकेन्द्रीकरण की भावना है। विकेन्द्रीकरण का अर्थ प्रत्येक स्तर पर सत्ता के हस्तांतरण से है। वह व्यक्तिगत इकाई से शुरुआत करते हुए, इसको स्थानीय और शीर्ष तक पहुंचना था वह विकेन्द्रीकरण का सार, गांधीजी के अनुसार, सभी शक्तियों का आरोही क्रम में नीचे से ऊपर की ओर है।

गांधीवादी योजना में राजनीतिक शक्ति व्यक्तियों में निहित है। सभी गतिविधियों का केंद्र, स्वराज का भंडार; व्यक्ति से, शक्ति गांव को सौंपी जाती है। गांव से, शक्ति उच्च इकाई को दी जाती है और अंत में केन्द्रीय/राष्ट्रीय सरकार का जो व्यावहारिक रूप से केवल समन्वय कार्य करती है। इस प्रकार जो कार्य व्यक्ति द्वारा नहीं किया जा सका वह गांव द्वारा किया जाता है, जो गांव दूसरा नहीं

नोट

किया जाता वह स्थानीय/क्षेत्रीय सरकार द्वारा किया जाता है जो क्षेत्रीय/प्रान्तीय सरकार दूसरा नहीं किया जाता वह केन्द्रीय/राष्ट्रीय सरकार द्वारा किया जाता है।

गांधी जी की विकेन्द्रीकरण की अवधारणा का एक आर्थिक पहलू भी हैं। साथ ही उन्होंने आर्थिक शक्ति के हस्तांतरण के लिए तर्क भी दिया, उन्होंने ग्रामीण, छोटे, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने के माध्यम से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए वकालत की। वास्तव में वे आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पक्ष में थे। स्वदेशी की उनकी अवधारणा थी कि जो आत्मा हमारे निकट पड़ोसियों की सेवा करने के लिए आवश्यक है वह यह है कि दूरदराज की चीजों से ज्यादा हमारे पड़ोस में उत्पादित चीजों का उपयोग करना चाहिए।

गांधीजी ने स्वदेशी उद्योगों के पुनरुद्धार का समर्थन किया ताकि लोगों को कमाने खाने के लिए पर्याप्त साधन मिल सके। उन्होंने उस तरह की अर्थव्यवस्था की जमकर निंदा की जो लोगों का शोषण और कम हाथों में धन केंद्रित करने में मदद करती थी।

न्यासिता पर गांधी जी के विचार अद्वितीय थे। क्योंकि इसका उद्देश्य पूंजी और श्रम के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करना था, उन्होंने सभी सम्पतियों को पूरे समाज की सम्पति होने की घोषणा की, गांधी जी ने सभी नियोक्ताओं (उद्योगपतियों, पूंजीपतियों और अन्य) की वकालत की कहा वे अपनी चीजों की न्यासी है, जैसे, वह सभी (कर्मचारी आदि) अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए पैसे की जरूरत के हकदार हैं। गांधी जी के लिए एक व्यक्ति मालिक नहीं था। हर किसी को अपनी प्रस्तुत सेवा का पता है। सभी काम और सभी कर्मचारी। लाभ मालिक का नहीं है, लेकिन समुदाय के अंतर्गत आता है, नियोक्ता न्यासी है न कि मालिक : कर्मचारी उद्योग का आवश्यक घटक है : श्रमिक है न कि नौकर।

उद्देश्य एवं साधन

गांधी जी के अनुसार उद्देश्य एवं साधन एक ही वास्तविकता के दो पहलू है जैसे कि सिक्के के दो पहलू । वे उन्हें एक कार्बनिक रूप बनाते हैं गांधी जी कहा करते थे कि साधन से बाहर हो जाना साधन कि समाप्ति है। उन्होंने यह भी कहा कि साधन एक बीज की तरह है, और उद्देश्य पेड़ की तरह : उद्देश्य एवं साधन के बीच उसी तरह का पवित्र सम्बन्ध है जिस तरह पेड़ और बीज के बीच होता है। ''उन्होंने तर्क दिया कि राज्य अपने आदर्श चरित्र को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक साधन हिंसा के दागी हैं। इस कारण उन्होंने हमेशा उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए साधन की पवित्रता पर जोर दिया। अपवित्र साधन, पवित्र उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उन्होंने एक बार कहा कि वे स्वराज को नहीं स्वीकार करेंगे अगर वह रक्तपात के साथ आएगा।

दूसरे, मेरे लिए अहिंसा स्वराज से पहले है। दोनों के बीच बहुत ही करीबी और अविभाज्य सम्बन्ध है अगर एक साधन का ख्याल रखती है, उद्देश्य अपने आप प्राप्त हो जायेगा तो, इसके अलावा, गांधी जी के अनुसार उद्देश्य की प्राप्ति साधन के अनुपात में होनी चाहिये। गांधीजी कोई मैकियावेली नहीं थे। गांधी जी के लिए साधन का औचित्य उद्देश्य का औचित्य है।

समाज और सर्वोदय

गाँधीवाद केवल राजनीति का सिद्धांत, अर्थव्यवस्था, धर्म, रणनीति का सिद्धान्त ही नहीं है; बल्कि समाज का एक सिद्धांत है। गांधी जी के लिए पूरी सामाजिक दर्शन समानता का दर्शन है। समानता, पूर्ण समानता की भावना में नहीं बल्कि मानवता की भावना में है, जिसमें सभी बराबर है। गांधी जी का समाज, समानता के आधार पर है जो किसी भी और हर प्रकार के जाति धर्म, वर्ग, लिंग,

नोट

जाति या क्षेत्र के आधार पर भेदभाव को खारिज करता है। हम मानव पैदा हुए हैं न कि हिन्दू और मुसलमान, हम मनुष्य पैदा हुए है न कि ऊंची जाति और न ही दलित के रूप में। गांधीजी सभी प्रकार की भेदभावपूर्ण प्रवृत्तियों और रुझानों के खिलाफ थे। उनके लिए केवल एक जाति एक वर्ग, एक धर्म, एक जाति है, जो मानवता है। उन्होंने इसलिए, किसी भी भेदभाव को स्वीकार नहीं किया। वास्तव में, वे समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण के पक्षधर थे जैसे पुरुषों की तुलना में महिलाओं के लिए; हरिजनों की तुलना में दलितों के लिए, ऐसा नहीं था कि वे एक से लेकर दूसरे को देना चाहते थे। वह ऐसे लोगों को ज्यादा देना चाहते थे जो ऊंचाइयों को पाने में समर्थ नहीं है। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पदानुक्रम में लोगों के स्तर की समानता की वकालत की, उनका उद्देश्य समानता की उनकी अवधारणा की खाई को भरने का था न कि उन्हें दूर करने का।

गांधी जी की सर्वोदय की अवधारणा सामाजिकता पर उनके विचारों का निचोड़ था जिसका सपना वे देखते थे। सर्वोदय, के रूप में गांधी जी ने कल्पना की थी कि समाज के सभी सदस्यों को बड़ा माना जा सके। यह सभी की भलाई के लिए है, यह किसी के व्यक्तिगत की भलाई के साथ साथ सभी की भलाई, सभी के साथ प्रत्येक की भलाई के लिए है। सर्वोदय में भलाई का सिद्धांत केवल भौतिक ही नहीं बल्कि अध्यात्मिक एवं नैतिक भी है।

हिन्दू स्वराज के बारे में गांधी के विचार

गांधी ने अपने राजनैतिक विचारों को कई भाषणों और लेखनों में अभिव्यक्त किया है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण 'हिन्द स्वराज' नामक वह पुस्तिका है जो उन्होंने गुजराती में सन् 1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका वापस लौटते समय ''किल्दोनाम कैसल'' में लिखा था। यह सर्वप्रथम गांधी जी द्वारा ही सम्पादित एवं प्रकाशित थी। इस लेख में गांधी ने लंदन में रहने वाले एक भारतीय अराजकवादी को संबोधित किया था। भारतीय अराजकवादी भारत में विदेशी शासन के विरूद्ध आतंकवादी विधियों का प्रयोग करने के पक्षधर थे। इनके अनुसार, एक बार विदेशी शासन से भारत मुक्त होने पर आधुनिकता का वही पश्चिमी ढांचा जारी रखा जा सकता है। 'हिन्द स्वराज' लिखने के पीछे गांधी जी का उद्देश्य अराजकतावादियों की हिंसक पद्धति एवं आधुनिक सभ्यता के सर्वोच्चता के दावों का विरोध करना था।

गांधी, उग्रवाद एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

जैसा कि हम लोगों ने पिछले खंडों में देखा है, गांधी उन उग्रपंथियों के विचारों से सहमत थे जो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के नैतिक एवं सांस्कृतिक सर्वोच्चता के दावे को गलत मानते थे। लेकिन गांधी भारतीय परम्परा के प्रति उनके पुनरुत्थानवादी एवं प्रतिक्रियावादी विचारों से असहमत थे। आतंक एवं हिंसा की उनकी विधियां भी गांधी को नागवार गुजरती थी। गांधी का कहना था कि हिसक या आतंकवादी गतिविधियां भारत या ब्रिटेन को सच्चे स्वराज या सच्ची सभ्यता के रास्ते पर नहीं ले जा सकती। भारतीय परम्परा के प्रति उग्रवादियों के प्रतिक्रियावादी एवं पुनरुत्थानवादी रवैये के बारे में गांधी का मानना था कि यद्यपि भारतीय परम्परा में अहिंसा और सच्ची सभ्यता का भाव अन्तर्निहित रहा है, लेकिन यह परम्परा भी इतिहास में पथभ्रष्ट हुई है। गांधी ने लिखा था, ''हिन्दूवाद के दो पहलू हैं, एक ओर अश्पृशयता, पत्थरों या मूतियों का अन्धविश्वासपूर्ण पूजन वाली प्रथा इत्यादि से लिपटा ऐतिहासिक हिन्दूवाद है, तो दूसरी ओर पंतजलि के योगसूत्र, उपनिषद् एवं गीता का हिन्दूवाद है, जिसमें सृष्टि की एकता और एक ही अखण्ड, अरूप अविनाशी ईश्वर के पूजन एवं अहिंसा पर जोर दिया गया है।''

नोट

सच्ची सभ्यता के आदर्श से भारतीय परम्परा के विचलन को रेखांकित करते हुए गांधी ने अपने देशवासियों से आग्रह किया कि, ''सिर्फ अंग्रेजों को दोष देना निरर्थक है। वे हम लोगों की वजह से ही यहां आए और हम लोगों की वजह से यहां टिके भी हुए हैं और वे यहां से तभी जायेंगे या अपने व्यवहार को तभी बदलेंगे जब हम अपने को बदलेंगे।'' विशेषकर उनका इस बात पर जोर था कि हम लोगों में अपने अज्ञान, पाखंड, दब्बूपन से चिपके रहने एवं देश के लिए बलिदान करने की भावना का जो अभाव है, उससे तत्काल उबरने की आवश्यकता है। स्वराज एवं सत्याग्रह की उनकी जो अवधारणा थी, वह भारतीयों एवं उनके औपनिवेशिकों, दोनों को सभ्य बनाने के आदर्श से प्रेरित थी। दूसरे शब्दों में, गांधी का उद्देश्य था उपनिवेशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाना तथा औपनिवेशिकों को फिर से सभ्य बनाना।

गांधी, नरमपंथी एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

भारत के अर्थतंत्र के साम्राज्यवादी निर्गम के संदर्भ में नरमपंथियों ने जो आलोचना की थी, गांधी उससे सहमत थे लेकिन उनके द्वारा ब्रिटेन की आधुनिक सभ्यता की तथाकथित सांस्कृतिक सर्वोच्चता को स्वीकार करना गांधी को मान्य नहीं था। उन्होंने हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता को सच्ची सभ्यता का ठीक उल्टा माना था, क्योंकि सच्ची सभ्यता मानव के अच्छे व्यवहार एवं एक दूसरे के प्रति नैतिक दायित्व का ही दूसरा नाम है। इस प्रतिमान पर देश की सभ्यतागत स्थिति को परखते हुए गांधी ने लिखा था कि भारत पर जो शासन करने वाले अंग्रेज यहां आए थे, वे ''अंग्रेजी राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे'', ठीक उसी तरह जैसे अर्द्ध अंग्रेजीदां भारती सच्चे भारतीय राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे।

स्वराज पर गांधी के विचार

स्वराज की उनकी धारणा इंग्लिस्तान अर्थात् अंग्रेजी के बिना अंग्रेजी शासन की नहीं थी। स्वराज की उनकी धारणा में मिल या स्पेंसर जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों की धारणाओं के बदले थोरू, रस्किन एवं टौल्सटॉय जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों एवं पारम्परिक भारतीय विचार श्रेणियों से उत्पन्न है। भारतीय चिन्तन परम्परा से गांधी ने सत्य और अहिंसा के संज्ञानात्मक मूल्यांकनपरक सिद्धांतों को ग्रहण किया जो हमारे राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी गतिविधियों में भी होने चाहिये। ऐसा गांधी का मानना था। उन्होंने अपनी जीवनी 'सत्य के प्रयोग' में लिखा था, ''सत्य मेरे लिए सर्वप्रमुख सिद्धांत है, जिसमें सैकड़ों दूसरे सिद्धांत समाहित हैं। इस सत्य का मतलब सिर्फ शब्दों की सच्चाई नहीं है, बल्कि विचारों में भी सच्चाई है, हमारी अवधारणाओं का सिर्फ सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि यह सत्य निरपेक्ष है, शाश्वत है जो कि ईश्वर है।''

गांधी के अनुसार, जब हमारा आचार सत्य और अहिंसा से अनुप्राणीत होता है, तब यह धार्मिक आचार बन जाता है जो जीवन के एक्य को प्रतिष्ठित करता है तथा हर प्रकार के शोषण को दूर रखता है।

स्वराज के राजनैतिक आयाम

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को त्रुटिपूर्ण पाने पर गांधी ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ ब्रिटिश शासकों से भारतीय नेताओं को राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना ही नहीं था, बल्कि, भारतीय स्वराज राजनैतिक स्वतंत्रता या राजनैतिक प्रजातंत्र से कुछ अधिक है।

परिभाषा और अर्थ

गांधी के अनुसार स्वराज की परिभाषा थी, 'स्वराज' या ब्रहदारण्यक उपनिषद् के अभिप्राय में नैतिक रूप की स्वायत्ता जिसने अपनी सारी इन्द्रियों को जीत लिया हो। गांधी लिखते हैं, 'स्वराज' शब्द

नोट

एक पवित्र वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ है 'स्व-शासन' और 'स्व-निग्रह'। स्व-निग्रह का अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबंधों से मुक्ति नहीं है, जैसा कि स्वतंत्रता का अर्थ निकाला जाता है। स्वराज सभी कालों के लिए एक सर्वसंतुष्टि ध्येय का नाम है।'' स्वराज को मुख्य संघटक एवं प्रक्रियाएं हैं– (प) विकेन्द्रीकृत समभागी प्रजातंत्र, (पप) राजनीति और अर्थतंत्र का आध्यात्मीकरण या दूसरे शब्दों में, गांधी जी के अनुसार सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर राजनीति और अर्थतंत्र का एकीकरण।

''स्वराज की जो मेरी अवधारणा है, उसके बारे में कोई गलती नहीं होनी चाहिए। यह विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता है और सम्पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता भी है। इस तरह यह एक ओर राजनैतिक स्वतंत्रता है, तो दूसरी और आर्थिक स्वतंत्रता भी। इसके दो अन्य प्रयोजन हैं, इसमें एक नैतिक है, और दूसरा सामाजिक, जिसे जोड़ने वाला तत्व है, धर्म जिसमें हिन्दूवाद, इस्लाम, ईसाईवाद सभी समाहित हैं, वह सर्वश्रेष्ठ है। इस धर्म को आप 'सत्य' के रूप में पहचान सकते हैं जो सभी चीजों को आलोकित किए रहता है, जो सभी प्रकार के रूपान्तरण और बर्बादी के बावजूद जीवित रहेगा। नैतिक और सामाजिक उत्थान अहिंसा से ही सम्भव है। स्वराज के ये ही चार पाये हैं, जिसमें एक भी खराब होने पर पूरी आकृति बिगड़ जाने की संभावना निहित है। कांग्रेस की भाषा में हम लोग राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता बगैर सत्य और अहिंसा को हासिल नहीं कर सकते। ठोस शब्दों में कहें, तो बिना ईश्वर में विश्वास किए नैतिक और सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं।''

हिन्द स्वराज में गांधी मैजिनी की जनता केन्द्रित (राजा केन्द्रित के बजाय) इतालवी राष्ट्रवाद की प्रशंसा करने के बाद यह स्पष्ट करते हैं कि हम लोगों का उद्देश्य भारत में सिर्फ ब्रिटिश शासकों से सत्ता छीनकर भारतीय अभिजात्य वर्ग (प्दकपंद मसपजम) को सत्ता सौंपना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है– सैकड़ों भारतीयों का स्वशासन। सन् 1925 में उन्होंने लिखा था कि ''असली स्वराज कुछ लोगों द्वारा सत्ता अधिग्रहण कर लेने पर नहीं आएगा, बल्कि, यह तब आएगा, जब पूरी जनता में इतनी ताकत आ जाये कि जब भी कोई सत्ता का दुरुपयोग करे, तो उसका विरोध कर सकें।'' दूसरे शब्दों में, स्वराज जनता को शिक्षित करके ही लाया जा सकता है। जनता शिक्षित होने पर ही सत्ता को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त कर सकती है।

स्वराज या भागीदारी प्रजातंत्र

केन्द्रीकृत प्रतिनिधिक सरकार के बदले जनता के स्वराज का अर्थ होगा, एक ऐसी प्रणाली जो विकेन्द्रित सहयोगी प्रजातंत्र होगी। गांधी का कहना था कि सच्चा प्रजातंत्र केन्द्र में बैठे बीस आदमियों से नहीं चलाया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक गांव में बिल्कुल निचले तबके की हिस्सेदारी हो। वस्तुतः गांधी जी ने स्वराजवादी समाजवादी व्यवस्था का संबंध ग्रामीण गणतंत्र के ''समुद्र वृत'' से जोड़ा था। वे लिखते हैं, ''असंख्य गांवों से निर्मित ऐसी संरचना में उत्तरोत्तर विकास समान वृत होंगे, जो आरोही क्रम में व्यवस्थित नहीं होंगे। जीवन पिरामिड की तरह नहीं होगा जिसकी चोरी को उसका तल टिकाए रखता है बल्कि यह समुद्री वृत की तरह होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा, लेकिन जो गांव के लिए मर मिटने के लिए तैयार रहेगा। फिर गांव-गांव के ''वृत'' के लिए अस्तित्वहीन होना स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार यह क्रम तब तक होंगे और समान रूप से इस समुद्री वृत के वैभव का हकदार होंगे।''

स्वराज और स्वतंत्रता

गांधी जी ने स्वराज की व्याख्या ''सम्पूर्ण जनता की भलाई'' और ''सम्पूर्ण देशवासियों की स्वतंत्रता'' के संदर्भ में भी की थी। व्यावहारिकता की दृष्टि से इसका अर्थ था, हिन्दू और मुसलमान के बीच

सच्चे सम्बन्ध, जनता के लिए रोटी और अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से उन्मूलन। सन् 1931 में उन्होंने कहा था कि हिन्द स्वराज सम्पूर्ण जनता का शासन है, न्याय का शासन है।

पूर्ण स्वराज

नोट

गांधी जी के अनुसार 'स्वराज' के अन्तर्गत जनता पूंजी की बुराइयों से बची रहेगी और श्रम के उत्पादन का न्यायपूर्ण बंटवारा होगा। उनका कहना था कि स्वराज तब तक पूर्ण स्वराज का दर्जा हासिल नहीं कर पायेगा, जब तक कि गरीब से गरीब आदमी भी जीवन की उन आवश्यकताओं एवं सुख-सुविधाओं को हासिल करने के योग्य न बन जाये, जिनका उपभोग राजकुमार एवं धनी लोग अब तक करते रहें हैं। उन्होंने पूर्ण स्वराज की व्याख्या की थी कि ''यह एक ऐसा स्वराज है जो राजकुमार के लिए उतना ही है जितना कि किसान के लिए, यह धनी जमींदार के लिए उतना ही है, जितना कि गरीब हलवाहक के लिए, यह जितना हिन्दू के लिए है उतना ही मुसलमान के लिए भी।''

गांधी के पूर्ण स्वराज का आदर्श था ''राम-राज', 'खुदाई राज' या 'पृथ्वी पर भगवान का राज'। उन्होंने इसकी व्याख्या यूं की है, ''यह एक ऐसा सम्पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें सम्पत्ति, रंग, जाति, धर्म, लिंग के आधार पर किसी भी तरह की असमानता का कोई भी स्थान नहीं होगा। इसमें भूमि और राज्य जनता की सम्पत्ति होगी, न्याय सस्ता एवं मानवीय होगा तथा सब को पूजा करने, व्याख्यान देने एवं प्रेस की स्वतंत्रता होगी और यह सब व्यक्ति के स्व-निर्धारित नैतिक दबाव के तहत होगी।''

4.11 असहयोग आंदोलन

दिसंबर में नागपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस समय तक कांग्रेस में अंदरूनी विरोध लगभग ख़त्म हो चुका था। विधान परिषदों के चुनाव हो चुके थे, इसलिए इसके बहिष्कार का विवादास्पद मुद्दा भी ख़त्म हो गया था। सी.आर. दास ने भी इस सम्मेलन में असहयोग आंदोलन से संबद्ध प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव काफ़ी लंबा-चौड़ा था। असहयोग आंदोलन कार्यक्रम के तहत तमाम चीज़ें आती थीं, जैसे उपाधियों और प्रशस्तिपत्रों को लौटाना, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि बाद में जनता को सरकारी नौकरियों से इस्तीफ़ा देने और क़ानून का अवज्ञा-जिसमें कर अदायगी न करना भी शामिल हो–के लिए भी कहा जा सकता था। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना और स्थानीय विवादों के निबटारे के लिए पंचायतों के गठन का भी प्रस्ताव था। हाथ से कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने तथा हिंदू-मुसलिम एकता को बढ़ावा देने पर विशेष ज़ोर देने की बात कही गई थी। छुआछूत को मिटाने और हर हाल में अहिंसा का पालन करने का सख्त निर्देश था। गाँधीजी ने आश्वासन दिया कि यदि इन कार्यक्रमों पर पूरी तरह अमल हुआ, तो एक वर्ष के भीतर ही आज़ादी मिल जाएगी। इस तरह नागपुर कांग्रेस सम्मेलन ने जनांदोलन के संविधान इतर तरीक़े अपनाने की घोषणा कर दी। क्रांतिकारी आतंकवादियों के तमाम गुटों ने (ज़्यादातर बंगाल के) इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया।

नए कार्यक्रमों पर अमल करने के लिए कांग्रेस के संगठनात्मक ढाँचे में भी कई परिवर्तन किए गए, उद्देश्य भी बदल गया। पहले उद्देश्य था संवैधानिक और वैधानिक तरीकों से स्वशासन (सेल्फ़ गवर्नमेंट) की प्राप्ति, अब उद्देश्य था अहिंसक और उचित तरीक़ों से स्वराज की प्राप्ति। गाँधीजी द्व ारा तैयार कांग्रेस के नए संविधान ने भी कांग्रेस के चरित्र को काफ़ी हद तक बदला।

अब कांग्रेस के रोज़मर्रा के काम को देखने के लिए 15 सदस्यीय कार्यकारिणी गठित की गई।

नोट

तिलक ने 1916 में ही इसका प्रस्ताव रखा था, पर नरमपंथी कांग्रेसियों के विरोध के कारण इसे मंजूरी नहीं मिली। गाँधीजी जानते थे कि किसी आंदोलन को लंबे समय तक चलाने के लिए कोई ऐसी कमेटी होनी चाहिए, जो साल भर सारा कामकाज देखती रहे। स्थानीय स्तर पर कार्यक्रमों को अमली जामा पहनाने के लिए प्रदेश कांग्रेस समितियों का गठन किया गया। इनका गठन भाषाई आधार पर किया गया, जिससे इनमें स्थानीय लोगों की ज़्यादा-से-ज़्यादा भागीदारी हो। इसके बाद कांग्रेस ने गाँवों-क़स्बों तक पहुँचने का लक्ष्य बनाया। इस तरह कांग्रेस संगठन का दायरा भी बढ़ा और उसका विकेंद्रीकरण भी हुआ। कांग्रेस ने यह भी तय किया कि जहाँ तक संभव हो, हिंदी को ही बतौर संपर्क भाषा इस्तेमाल किया जाए। कांग्रेस द्वारा इसको अपनाने के फलस्वरूप असहयोग आंदोलन की नई ऊर्जा भरी। जनवरी 1921 से पूरे देश में आंदोलन की लोकप्रियता बढ़ने लगी। गांधीजी ने ख़िलाफत नेता अली भाइयों के साथ पूरे देश का दौरा किया, सैकड़ों सभाओं में भाषण दिए और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से मुलाकात की, उनसे बातचीत की। पहले महीने में ही हज़ारों छात्रों ने (एक आँकड़ों के अनुसार 90,000) सरकारी स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दिया और राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों में भर्ती हो गए। उस समय देश में 800 राष्ट्रीय स्कूल और कॉलेज थे शिक्षा का बहिष्कार पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक सफल रहा। कलकत्ता के विद्यार्थियों ने राज्यव्यापी हड़ताल की। उनकी माँग थी कि स्कूलों के प्रबंधक सरकार से अपना रिश्ता तोड़ें। सी.आर. दास ने इस आंदोलन को बहुत प्रोत्साहित किया और सुभाषचंद्र बोस

'नेशनल कॉलेज' (कलकत्ता) के प्रधानाचार्य बन गए। पंजाब में भी बड़े पैमाने पर शिक्षा का बहिष्कार किया गया। बंगाल के बाद इसी का नंबर था। लाला लाजपत राय ने यहाँ बड़ा काम किया, हालाँकि शुरू में वह इसके समर्थक नहीं थे। बंबई, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, असम में भी इस कार्यक्रम पर काफी अमल हुआ, लेकिन मद्रास में इसे सफलता नहीं मिली।

वकीलों ने बड़े पैमाने पर अदालतों का बहिष्कार तो नहीं किया, लेकिन देश के जाने-माने वकीलों, जैसे सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, एम.आर. जयकर, किचलू, वल्लभ भाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी, टी. प्रकाशम और आसफ़ अली के वकालत छोड़ने से लोग बहुत प्रोत्साहित हुए। संख्या की दृष्टि से इस बार भी बंगाल पहले नंबर पर रहा, उसके बाद आंध्र, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक और पंजाब।

प्रभुदास गाँधी महात्मा गाँधी के साथ देश के दौरे पर गए थे। वे बताते हैं कि दूरदराज़ के स्टेशनों पर, जब गाड़ी खड़ी होती, तो गाँधीजी स्टेशन पर खड़े लोगों से कहते कि आप लोग पूरा कपड़ा न सही, विरोध जताने के लिए अपनी पगड़ी, दुपट्टा या टोपी को ही उतार दीजिए। लोग फ़ौरन अपना दुपट्टा, टोपी या पगड़ी जिसके पास जो होता, उतार देते। प्रभुदास गाँधी बताते हैं कि जैसे ही हमारी गाड़ी आगे बढ़ती, इन कपड़ों की होली जलाई जाती। ट्रेन की खिड़की से लपटें दिखाई देतीं विदेशी कपड़े बेचनेवाली दुकानों पर धरना भी बहिष्कार आंदोलन में शामिल था। इसका नतीज़ा यह हुआ कि 1920-21 में जहाँ एक अरब दो करोड़ मूल्य के विदेशी कपड़ों का आयात था, वहीं 1921-22 में यह घटकर 57 करोड़ हो गया।

इस आंदोलन में एक और कार्रवाई, जो बहुत लोकप्रिय हुई, वह थी ताड़ी की दुकानों पर धरना। हालाँकि यह मूल कार्यक्रम में नहीं था। सरकार को इससे बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचा और वह मजबूर होकर इसके प्रचार में जुट गई। वह बताने लगी कि ताड़ी पीने के कितने फ़ायदे हैं। बिहार और उड़ीसा की सरकार ने तो इतिहास पुरुषों के नाम तक गिनाए कि कितने महान-महान लोग शराब का सेवन करते थे (मूसा, सिकंदर, जूलियस सीज़र, नेपोलियन, शेक्सपीयर, ग्लैडस्टान, टेनीसन और बिस्मार्क का नाम लिया गया)।

नोट

मार्च 1921 में विजयवाड़ा में कांग्रेस सम्मेलन हुआ। कार्यकर्ताओं को आदेश दिया गया कि वे अगले तीन महीने तक अपना सारा ध्यान कोष इकट्ठा करने, सदस्य बनाने और चरखा बाँटने पर दें। सदस्यता का लक्ष्य एक करोड़ रखा गया था। यह लक्ष्य तो पूरा नहीं हुआ, लेकिन सदस्य संख्या 50 लाख तक पहुँचा दी गई। 'तिलक स्वराज फंड' अपने लक्ष्य से भी आगे निकल गया। एक करोड़ से ज्यादा रुपए इकट्ठे कर लिए गए। चरखे और खादी का खूब प्रचार हुआ। खादी तो राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीक बन गई। छात्रों की एक सभा में गाँधीजी खादी पहनने की अपील कर रहे थे, तो कुछ लोगों ने शिकायत की कि खादी बहुत महँगी है। गाँधीजी ने सुझाव दिया कि कम कपड़े पहनिए, गाँधीजी ने खुद उस दिन से कुरता और धोती पहनना छोड़ दिया, लंगोटी पहनने लगे और जीवन भर अधनंगे फ़कीर की तरह रहे।

जुलाई 1921 में सरकार के सामने एक नई चुनौती आ खड़ी हुई। 8 जुलाई को कराची में ख़िलाफ़त सम्मेलन में मुहम्मद अली ने घोषणा की कि किसी भी मुसलमान का सेना में रहना धर्म के ख़िलाफ है। उन्होंने लोगों से कहा कि वे इस संदेश को हर मुसलमान सैनिक तक पहुँचाएँ। इस भाषण के तुरंत बाद मुहम्मद अली अपने साथियों समेत गिरफ़्तार कर लिए गए। इस गिरफ़्तारी का नतीज़ा यह हुआ कि इसके विरोध में आयोजित सभाओं में इस अपील को बार-बार दोहराया गया, उसका खूब प्रचार हुआ।

4 अक्तूबर को गाँधी समेत कांग्रेस के 47 वरिष्ठ नेताओं ने एक बयान जारी कर मुहम्मद अली के बयान की एक तरह से पुष्टि तो की ही, साथ ही यह भी कहा कि हर भारतीय नागरिक और सैनिक का कर्तव्य है कि वह दमनकारी सत्ता से अपना नाता तोड़ ले, उसे किसी तरह का सहयोग न दे। अगले दिन कांग्रेस कार्यकारिणी ने इसी तरह का

एक प्रस्ताव पास किया और 16 अक्तूबर को पूरे देश में विभिन्न कांग्रेस समितियों की बैठक में इसको मंजूरी दी गई। सरकार ने अपनी हार मान ली, बहुत बेइज़्ज़ती हुई, उसने इस घटना को अनदेखा कर दिया।

इसके बाद हुई प्रिंस ऑफ़ वेल्स की भारत यात्रा, जो 17 नवंबर 1921 को शुरू हुई थी। जिस दिन वे बंबई आए पूरे भारत में हड़ताल थी। उसी दिन गाँधीजी ने बंबई में एलफिंस्टन मिल के अहाते में मज़दूरों की सभा में भाषण किया। विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। लेकिन दुर्भाग्य से इसी दिन बंबई की सड़कों पर खून-खराबा हो गया। गाँधीजी की सभा से लौटने वालों और प्रिंस के स्वागत समारोह में भाग लेने वालों में संघर्ष हो गया। शहर में दंगा भड़क उठा और इसके ज़्यादातर शिकार हुए पारसी, ईसाई और एंग्लो-इंडियन। इन्हें अंग्रेज़ी हुकूमत का समर्थक माना जाता था। तीन दिनों तक हिंसात्मक़ वारदातें होती रहीं। हिंसा और पुलिस द्वारा गोली चलाए जाने में 58 व्यक्ति मारे गए। गाँधीजी जब तीन दिन तक अनशन पर बैठे, तब कहीं जाकर हिंसा की आग ठंडी पड़ी। गाँधीजी इन हिंसात्मक वारदातों से बहुत क्षुब्ध हुए।

'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' जहाँ भी गए, वीरान सड़कों और बंद दरवाजों ने ही उनका स्वागत किया। असहयोग आंदोलनकारियों का हौंसला बढ़ता ही जा रहा था। कांग्रेस की स्वयंसेवी कोर, दिन-ब-दिन शक्तिशाली होती जा रही थी, मानो समांतर पुलिस दस्ते का गठन हो रहा हो। वर्दी और काम के तरीक़े देख, सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। कांग्रेस ने प्रदेश कांग्रेस समितियों को यह इजाज़त दे दी थी कि जब भी उन्हें लगे कि जनता क़ानून अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयार है, वे आंदोलन छेड़ सकती हैं। मिदनापुर (बंगाल) और गुंटूर ज़िले (आंध्र) के चिराला-पिराला और पेडानंडीपाडु तालुका में तो कर अदा न करने का आंदोलन छिड़ ही गया था।

नोट

असहयोग आंदोलन अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभाव डाल रहा था। अवध (उत्तर प्रदेश) में किसान सभा और किसान आंदोलन 1918 से ही ज़ोर पकड़ते जा रहे थे। असहयोग के प्रचार से, जिसे करते हुए जवाहरलाल नेहरू भी अवध के देहातों में घूम रहे थे, इसे बल मिला। कुछ ही दिनों में यह पता लगाना मुश्किल हो गया कि बैठक किसान सभा की है या असहयोग आंदोलनकारियों की। केरल में मलाबार में असहयोग आंदोलन और ख़िलाफ़त आंदोलन ने खेतिहर मुसलमानों को उनके भूस्वामियों के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ने के लिए उकसाया, लेकिन दुर्भाग्य से आंदोलन ने यहाँ कहीं-कहीं सांप्रदायिकता का रुख अख़्तियार कर लिया।

असम में चाय-बाग़ान के मज़दूर हड़ताल पर चले गए। सरकार ने जब हड़ताली मज़दूरों पर गोली चलाइ तो स्टीमर पर काम करने वाले मज़दूर भी हड़ताल पर चले गए। असम-बंगाल रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर इनका साथ दिया। बंगाल के राष्ट्रवादी नेता जे.एम. सेनगुप्त ने इस दौरान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मिदनापुर में एक गोरी ज़मींदारी कंपनी के ख़िलाफ काश्तकारों की हड़ताल का नेतृत्व किया, कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के एक छात्र ने। आंध्र में वन-क़ानून के ख़िलाफ़ आंदोलन छिड़ा। राजस्थान में किसानों और आदिवासियों ने आंदोलन छेड़ा। पंजाब में अकालियों ने गुरुद्वारों पर भ्रष्ट महंतों के क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ा। यह वास्तव में देशव्यापी असहयोग आंदोलन का ही एक हिस्सा था। तमाम दमन के बावजूद अकाली आंदोलनकारी अहिंसा के रास्ते से डिगे नहीं। इस तरह के हज़ारों उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमारा कहने का मकसद सिर्फ़ इतना है कि असहयोग आंदोलन ने तमाम स्थानीय आंदोलनों को जन्म दिया और जो पहले से चल रहे थे उन्हें और बल दिया। बात दीगर है कि ये आंदोलन कहीं-कहीं असहयोग आंदोलन की नीतियों और अहिंसा के सिद्धांत से मेल नहीं खाते थे।

ऐसी हालत में सरकार समझ गई कि अब मामले को अनदेखा करने से काम चलने वाला नहीं है, दमन का रास्ता अख़्तियार करना ही होगा। सितंबर 1920 में जब आंदोलन शुरू हुआ था, सरकार का मानना था कि दमन से विद्रोह की आग और भड़केगी तथा जो लोग मारे जाएँगे, उन्हें जनता शहीद का दरजा देगी। मई 1921 में नए वाइसराय लॉर्ड रैडिंग ने गाँधीजी से मुलाकात की और गाँधीजी से कहा कि वे अली भाइयों को अपने भाषणों में हिंसा भड़काने वाली बातें न कहने के लिए मनाएँ। सरकार का उद्देश्य था—गाँधीजी और अली भाइयों में आपसी फूट डालना। लेकिन वह इसमें असफल हुई और गाँधी-रैडिंग वार्तालाप यहीं पर समाप्त हुआ। दिसंबर आते-आते सरकार को महसूस हो गया कि मामला हाथ से निकलता जा रहा है। उसने अपनी नीतियों में परिवर्तन की घोषणा की। स्वयंसेवी संगठनों को ग़ैर कानूनी घोषित किया गया और इसके सदस्यों को गिरफ़्तार किया जाने लगा।

सबसे पहले सी.आर. दास को गिरफ़्तार किया गया और बाद में उनकी पत्नी बासंती देवी को। इस गिरफ़्तारी का बंगाल में व्यापक पैमाने पर विरोध हुआ और हज़ारों लोगों ने गिरफ़्तारियाँ दीं। अगले दो महीने के भीतर पूरे देश में लगभग 30 हज़ार लोग गिरफ़्तार किए गए। बाद में तो बड़े नेताओं में केवल गाँधीजी ही बाहर रह गए थे।

दिसंबर के मध्य में मालवीयजी के माध्यम से बातचीत करके मामला सुलझाने की कोशिश की गई, पर इसके साथ जो शर्तें जुड़ी थीं, ख़िलाफ़त आंदोलनकारियों के हितों के विरुद्ध थीं। अत: गाँधीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वैसे भी ब्रिटेन की सरकार समझौते के मूड में नहीं थी और उसने वाइसराय लॉर्ड रैडिंग को आदेश दिया कि वह वार्तालाप को वहीं समाप्त कर दें।

नोट

चौरीचौरा कांड

उधर गाँधीजी पर राष्ट्रीय स्तर पर क़ानून की सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने के लिए लगातार दबाव पड़ रहा था। दिसंबर 1921 में अहमदाबाद कांग्रेस सम्मेलन में ही कांग्रेस ने भावी रणनीति तय करने की पूरी ज़िम्मेदारी गाँधीजी पर सौंप दी थी। उधर सरकार के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दे रहा था। जनवरी 1922 में सर्वदलीय सम्मेलन की अपील और वाइसराय के नाम गाँधीजी के पत्र का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। गाँधीजी ने लिखा कि यदि सरकार नागरिक स्वतंत्रता बहाल नहीं करेगी, राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं करेगी, तो वह देशव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने को बाध्य हो जाएँगे। सरकार पर, जब इसका कोई असर नहीं हुआ, तो गाँधीजी ने मजबूर होकर सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की घोषणा की। यह आंदोलन बारदोली तालुका (सूरत) से शुरू होने वाला था। गाँधीजी ने देश की जनता से अपील की कि वह पूरी तरह अनुशासित और शांत रहे, जिससे सारा ध्यान बारदोली पर ही केंद्रित किया जा सके। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। चौरीचौरा (गोरखपुर-उत्तर प्रदेश) कांड ने बारदोली में प्रस्तावित आंदोलन को छह साल के लिए रोक दिया। 5 फ़रवरी 1922 को चौरीचौरा में कांग्रेस और ख़िलाफ़त का एक जुलूस निकला था। कुछ पुलिसवालों ने इनके साथ दुर्व्यवहार किया, जिसका नतीज़ा यह हुआ कि जुलूस में शामिल एक जत्थे ने पुलिस पर हमला बोल दिया। पुलिस ने गोली चलाई। पुलिस की गोलीबारी से जुलूस में शामिल सारे लोग उत्तेजित हो गए और पुलिस पर हमला बोल दिया। सिपाही भागकर थाने में घुस गए, तो भीड़ ने थाने में आग लगा दी। जो सिपाही भागने के प्रयास में बाहर आए उन्हें भीड़ ने मार डाला और आग में फेंक दिया। 22 पुलिसकर्मी मारे गए। इस घटना की ख़बर मिलते ही गाँधीजी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा कर दी। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी से इस फ़ैसले को स्वीकृति देने की अपील की। 12 फ़रवरी 1922 को असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया।

मोतीलाल नेहरू, सी.आर. दास, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस व अन्य नेता यह ख़बर सुनकर भौंचक्के रह गए। उन्हें यह समझ में नहीं आ रहा था कि एक दूरदराज़ के गाँव में कुछ लोगों की ग़लत हरकतों का खामियाज़ा पूरा देश क्यों भुगते। कई लोगों को लगा कि महात्मा गाँधी में अब नेतृत्व की क्षमता नहीं रह गई है। वे असफल हो गए हैं और उनकी लोकप्रियता के दिन अब ख़त्म हो रहे हैं।

ब्रितानी मार्क्सवादी रजनीपाम दत्त और उनकी बनाई हुई परंपरा पर चलने वाले कई और टीकाकारों ने भी गाँधी के निर्णय की आलोचना की। गाँधी के इस निर्णय को वे बतौर सबूत पेश करते हैं कि गाँधीजी अमीर वर्गों के हितों का ख्याल रखते थे। इनका तर्क है कि गाँधी ने यह निर्णय महज़ इसलिए नहीं किया कि चौरीचौरा की घटना उनके अहिंसक सिद्धांत के विरुद्ध थी, बल्कि उन्हें यह महसूस होने लगा था कि भारतीय जनता अब जुझारू संघर्ष के लिए तैयार हो रही है, अमीर शोषकों के ख़िलाफ कमर कस रही है। गाँधी को लगा कि आंदोलन की बागडोर उनके हाथ से निकलकर लड़ाकू ताक़तों के हाथ में जाने वाली है। उन्हें लगा कि पूँजीपतियों और भूस्वामियों के ख़िलाफ लड़ाई होने ही वाली है। इन्हीं के हितों को मद्देनज़र रखते हुए उन्होंने आंदोलन वापस लिया। ये लोग अपने तर्क के लिए 'बारदोली प्रस्ताव' (12 फ़रवरी 1922 को बारदोली में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई थी, जहाँ यह प्रस्ताव पारित हुआ जो बारदोली प्रस्ताव के नाम से मशहूर है) को बतौर सबूत पेश करते हैं। इनका कहना है कि गाँधीजी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा के साथ-साथ किसानों से कर और काश्तकारों से लगान देने की अपील भी की थी। आंदोलन वापस लेने के पीछे गाँधी का असली मक़सद यही था।

नोट

हमारे ख्याल में गाँधीजी के आलोचकों ने उनके साथ पूरी तरह न्याय नहीं किया। एक दूरदराज़ के गाँव में हिंसात्मक वारदात आंदोलन वापस लेने का कारण नहीं हो सकती, यह तर्क वज़नदार नहीं दीखता। गाँधी ने बार-बार कहा था कि बारदोली में अवज्ञा आंदोलन के दौरान देश के अन्य हिस्सों में किसी भी तरह का आंदोलन नहीं होना चाहिए–अहिंक आंदोलन भी नहीं। आंधप्रदेश कांग्रेस कमेटी ने कुछ ज़िला इकाइयों को अवज्ञा आंदोलन चलाने की अनुमति दे दी थी। गाँधीजी ने निर्देश दिया कि वह अपनी अनुमति वापस ले ले।

गाँधीजी शायद सोचते थे कि इस समय देशव्यापी आंदोलन छेड़ने से हिंसा भड़क उठने का ख़तरा है,, जैसा कि 1921 में बंबई में और बाद में चौरीचौरा में हुआ था। इस तरह की वारदातों से सरकार को पूरे देश में आंदोलन के ख़िलाफ दमनात्मक क़दम उठाने का बहाना मिलता। गाँधीजी को आशंका थी कि इस तरह की कार्रवाइयों से अहिंसक असहयोग आंदोलन की रणनीति विफल हो जाएगी। अहिंसक आंदोलन की रणनीति यह थी कि दमनकारी सत्ता यदि इस आंदोलन के ख़िलाफ दमनात्मक कार्रवाई करेगी तो उसका चरित्र बेनकाब हो जाएगा क्योंकि अहिंसक और निहत्थे लोगों पर हमले से पूरा जनमत उसके ख़िलाफ़ हो जाएगा।

इस प्रकार यह कहना ग़लत है कि चौरीचौरा कांड और बारदोली आंदोलन प्रकरण का कोई आपसी संबंध नहीं था। बारदोली आंदोलन को दबाने के लिए सरकार को चौरीचौरा की घटना का बहाना मिल जाता, सरकार ही यह संबंध बना देती।

गाँधीजी का शायद यह अनुमान था कि चौरीचौरा कांड ने, बारदोली से व्यापक अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की संभावनाओं को, काफ़ी हद तक कम कर दिया है। उनका मानना था कि यदि इस समय बारदोली में आंदोलन शुरू हुआ, तो सरकार चौरीचौरा कांड का बहाना लेकर कार्यकर्ताओं का दमन करेगी और अवज्ञा आंदोलन शुरू में ही विफल हो जाएगा। आंदोलन वापस लेने के पीछे गाँधीजी की मंशा आंदोलन की ऊर्जा को बरक़रार रखने व जनता को हतोत्साहित होने से बचाने की थी। हालाँकि आंदोलन वापस लेने की घोषणा से भी जनता का एक बहुत बड़ा तबका निराश हुआ था, लेकिन यदि सत्ता को दमन का बहाना मिलता और वह दमन पर उतारू हो जाती, तो जनता में इससे कहीं अधिक निराशा व्याप्त होती (जैसा 1932 में हुआ)।

यह नहीं भूलना चाहिए कि असहयोग आंदोलन, अँग्रेजी हुकूमत के ख़िलाफ देशव्यापी जनसंघर्ष का प्रथम प्रयास था। शुरुआती दौर में इस पर किसी तरह का हमला घातक सिद्ध होता। आंदोलनकारियों में ही नहीं, जनता में भी निराशा व्याप्त हो जाती।

दूसरा तर्क कि, गाँधीजी ने लड़ाकू ताक़तों के बढ़ते प्रभाव से डरकर आंदोलन वापस लिया, सच्चाई से दूर है। चौरीचौरा कांड को बतौर सबूत पेश किया जाता है। पर चौरीचौरा में पुलिस थाने पर हमला करने वाली भीड़ ने ऐसा कोई काम नहीं किया था, जिससे यह लगे कि ये लोग ज़मींदारों, पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ संगठित हो रहे थे या संघर्ष कर रहे थे। आर्थिक संबंधों के ख़िलाफ आंदोलन छेड़ने जैसी भी कोई बात नहीं थी। ये लोग पुलिस के दुर्व्यवहार से नाराज़ हो गए थे और अपना गुस्सा उन्होंने पुलिस पर ही उतारा। उत्तरप्रदेश और मलाबार में किसान आंदोलन तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। अवध के ग्रामीण इलाक़ों में कहीं-कहीं एका आंदोलन चल रहा था, पर यह ज़मींदारी को उखाड़ फेंकने के लिए था। इस आंदोलन की माँग थी कि ज़मींदार अवैध कर न वसूलें और मनमाने ढंग से मालगुज़ारी न बढ़ाएँ। एका आंदोलन में शामिल करने से पहले सदस्यों को जो शपथ दिलाई जाती थी, उसमें एक शपथ यह भी थी कि 'हम ख़रीफ़ और रबी में नियमित रूप से लगान देते रहेंगे।' आंध्र के गूंटूर ज़िले में कर-अदायगी न करने का आंदोलन तो असहयोग

नोट

आंदोलन का ही एक हिस्सा था। यह सरकार के ख़िलाफ़ था और पूरी तरह अहिंसक था। इस तरह यह पता नहीं चल पाता कि वे कौन-सी जुझारू व लड़ाकू ताक़तें थीं, जिनसे गाँधीजी डर गए थे।

तीसरा तर्क यह है कि बारदोली प्रस्ताव ने किसानों और काश्तकारों से कर व लगान की अदायगी करने को कहा और ज़मींदारों को यह विश्वास दिलाया कि उनके अधिकारों को कम करने का कांग्रेस का कोई इरादा नहीं है। आरोप है कि आंदोलन वापस लेने के पीछे वास्तविक उद्देश्य ज़मींदारों के हितों की रक्षा करना था, यह आरोप ग़लत है। कांग्रेस का इसके पीछे कोई 'छिपा मंतव्य' नहीं था। सच तो यह है कि पूरे आंदोलन के दौरान कांग्रेस ने कभी भी

ज़मींदारों के अधिकार पर प्रश्नचिह्न लगाया ही नहीं था, अत: बारदोली प्रस्ताव ने इस मुद्दे पर कांग्रेस की नीतियों की महज़ पुष्टि की थी। कर न अदा करने का आंदोलन का एक हिस्सा था। जब असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया, तो कर अदा न करने का आंदोलन कैसे चलता?

गाँधीजी द्वारा आंदोलन वापस लेने के पीछे शायद एक और कारण था। 1921 की दूसरी छमाही के शुरू होते-होते आंदोलन कमज़ोर पड़ने लगा था। छात्र स्कूलों में और वकील अदालतों में लौटने लगे थे। व्यापारी वर्ग विदेशी कपड़ों के 'स्टॉक' से चिंतित होने लगा था, बैठकों और रैलियों में लोगों की संख्या कम होती जा रही थी। हालाँकि कुछ जगहों जैसे बारदोली (गुजरात) और गुंटूर (आंध्र) में राजनीतिक गतिविधियाँ काफ़ी तेज़ थीं और लोग संघर्ष के लिए आतुर थे, लेकिन 1921 के शुरू में पूरे देश में आंदोलन के प्रति जो उत्साह था, अब वह नहीं रह गया था।

सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और नेता तो चाहते थे कि आंदोलन को आगे बढ़ाया जाए, उसे तेज़ किया जाए, पर किसी जन आंदोलन की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनता का कितना बड़ा हिस्सा इसमें

शामिल है। हम यह बात दावे के साथ नहीं कह रहे हैं कि गाँधीजी ने आंदोलन के प्रति घटते उत्साह के कारण ही इसे वापस लिया चूँकि इस विषय पर शोध-कार्य अभी अपूर्ण है, अत: हमारा कहना है कि इस बारे में कोई निष्कर्ष निकालते समय इस संभावना को भी ध्यान में रखा जाए।

गाँधी के आलोचक अकसर यह भूल जाते हैं कि कोई भी जनांदोलन लगातार नहीं चलता। उसमें पड़ाव आता है। कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वह सुस्ताता है, थकावट दूर करता है और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक ऊर्जा जुटाता है। इसका मूल कारण यह है कि जनता की दमन सहने और बलिदान करने की शक्ति असीमित नहीं होती। इस तरह कभी आंदोलन वापस लेने की घोणा या कभी समझौतावादी रुख अख्तियार करना जनता पर आधारित राजनीतिक संघर्ष की सही रणनीति है। आंदोलन को वापस लेना विश्वासघात नहीं करता, यह तो रणनीति का हिस्सा है। हाँ, इस बात पर बहस हो सकती है कि आंदोलन सही समय पर वापस लिया गया है या ग़लत समय पर।

वापस लेने का समय आ ही गया है, ऐसा सोचने के लिए शायद गाँधीजी के सामने काफ़ी कारण थे। गाँधीजी ने जब यह निर्णय किया, तो आंदोलन को लगभग एक साल से ज्यादा हो चुका था, अँग्रेज़ी सरकार का अड़ियल रवैया बरकरार था। इससे पहले कि आंदोलन की अपनी कमज़ोरियाँ उभरकर सामने आतीं और समर्पण की नौबत आती, चौरीचौरा कांड ने आंदोलन वापस लेने का एक मौक़ा दिया।

गाँधीजी ने वादा किया था यदि उनकी नीतियों पर सही ढंग से अमल किया गया, तो एक साल में स्वराज की स्थापना हो जाएगी। साल ख़त्म हो गया। स्वराज की बात तो दूर, अंग्रेज़ी हुकूमत छोटी-मोटी रियायतें भी देने को तैयार न थी, लेकिन क्या समूचा संघर्ष निरर्थक था? आंदोलन विफल

नोट

रहा? इसका जवाब 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। असहयोग आंदोलन की अनेक सफलताएँ-उपलब्धियाँ हैं। इसी आंदोलन ने पहली बार देश की जनता को इकट्ठा किया। अब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर कोई यह आरोप नहीं लगा सकता था कि वह कुछ मुट्ठी भर लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। अब इसके साथ किसान, मज़दूर, दस्तकार, व्यापारी, व्यवसायी, कर्मचारी, पुरुष, महिलाएँ, बच्चे, बूढ़े, सभी लोग थे। पूरे देश में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ इस आंदोलन का असर न पड़ा हो। बात दीगर है कि कहीं असर तेज़ था, कहीं कम।

इसी आंदोलन ने यह दिखाया कि हिंदुस्तान की वह जनता, जिसे फ़िरंगी मूर्ख, दीन-हीन समझते थे, आधुनिक राष्ट्रवादी राजनीति की वाहक हो सकती है, राजनीतिक संघर्ष शुरू कर सकती है। भारतीय जनता के त्याग और बलिदान ने दमनकारी सत्ता को जता दिया कि देश की आज़ादी की भूख पढ़े-लिखों को ही नहीं, निरक्षर जनता को भी सताती है। आज़ादी के लिए गुलाम देश का हर नागरिक संघर्ष करेगा। यह बात अलग है कि सभी लोग आज़ादी के लिए संघर्ष के सारे दाँव-पेंच एकदम से नहीं समझ सकते थे, अपेक्षित अनुशासन नहीं बरत पाते थे, लेकिन असहयोग आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता यही रही कि उसने जनता को आधुनिक राजनीति से परिचित कराया, आज़ादी की भूख जगाई। यह पहला अवसर था, जब राष्ट्रीयता ने गाँवों, क़स्बों, स्कूलों, सबको अपने प्रभाव में ले लिया। शुरुआती दौर था यह। कमियाँ तमाम थीं, इसलिए सफलताएँ भी कम मिलीं। लेकिन जो कुछ भी हासिल हुआ, वह आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक हुआ।

मलाबार की घटनाओं के बावजूद इस आंदोलन में बड़े पैमाने पर मुसलमानों की भागीदारी और सांप्रदायिक एकता आंदोलन की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। मुसलमानों की भागीदारी ने ही इस आंदोलन को जनांदोलन का स्वरूप दिया, कुछ क्षेत्रों में तो गिरफ़्तार लोगों में दो तिहाई मुसलमान थे। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि बाद के वर्षों में, जब सांप्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ लिया, तो राष्ट्रीय आंदोलनों में सांप्रदायिक सद्भाव का वह चरित्र बरक़रार न रह सका। असहयोग आंदोलन में गाँधीजी व अन्य नेता मसज़िदों में भाषण देते थे, गाँधीजी ने मुसलमान औरतों की सभा में भाषण किया। लेकिन यह सौहार्द और एकता आज़ादी के लिए बाद के संघर्षों में नहीं दिखी। फ़िलहाल, 12 फ़रवरी 1922 को आंदोलन में जो पड़ाव आया था, वह अस्थायी साबित हुआ। मांटाग्यू और बरकेनहेड ने चुनौती दी थी कि "भारत, दुनिया की सबसे शक्तिशाली सत्ता को चुनौती नहीं दे सकता और अगर चुनौती दी गई, तो इसका उत्तर पूरी ताक़त से दिया जाएगा।" गाँधी ने आंदोलन वापस लेने के बाद 23 फ़रवरी 1922 को 'यंग इंडिया' में अपने लेख में इस चुनौती का उत्तर दिया। "अँग्रेज़ों को यह जान लेना चाहिए कि 1920 में छिड़ा संघर्ष अंतिम संघर्ष है, निर्णायक संघर्ष है, फैसला होकर रहेगा, चाहे एक महीना लग जाए, या एक साल लग जाए, कई महीने लग जाएँ या कई साल लग जाएँ। अँग्रेज़ी हुकूमत चाहे उतना ही दमन करे जितना 1857 के विद्रोह के समय किया था, फ़ैसला होकर रहेगा।"

4.12 सविनय अवज्ञा आंदोलन 1930-1931

कांग्रेस की कार्यकारिणी को 1929 में हुई लाहौर कांग्रेस में यह अधिकार दिया गया था कि वह देश में सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) आंदोलन छेड़े। इस आंदोलन में कर न अदा करना भी शामिल था। इसने विधान सभा के सदस्यों से विधायक पद से इस्तीफ़ा देने का भी आह्वान किया था। 1930 की मध्य फ़रवरी में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें गाँधीजी को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अपनी इच्छा से जब और जिस

नोट

जगह से चाहें, सविनय अवज्ञा आंदोलन का शुभारंभ कर सकते हैं। गाँधीजी जन-आंदोलनों के माने हुए विशेषज्ञ थे, वे "गंभीरता से जन-संघर्ष छेड़ने के लिए प्रभावी तरीक़ा तलाश कर रहे थे।" हर प्रकार से न्यूनतम माँगों वाली 31 जनवरी की उनकी चेतावनीभरी माँग को, जिसमें न्यूनतम माँगों का 11-सूत्रीय माँगप्रत्र पेश किया गया था, लॉर्ड इरविन ने अनदेखा कर दिया था। इसलिए अब सिर्फ़ एक ही रास्ता बचा था–सविनय अवज्ञा का।

फ़रवरी के अंत में जैसे-जैसे गाँधीजी ने नमक की बात करनी शुरू की, सत्याग्रह का सूत्र स्पष्ट होने लगा और 2 मार्च को गाँधीजी ने वाइसराय को अपना पत्र लिखा जिसमें उन्होंने विस्तार से स्पष्ट किया कि वे क्यों ब्रिटिश राज को अभिशाप मानते हैं। "लगातार शोषण करने वाली व्यवस्था क़ायम करके इसने असंख्य दीनहीन लोगों को दरिद्र बना दिया है...राजनीतिक रूप से इसके कारण हमारी अवस्था भूदासों की हो गई है। इसने हमारी संस्कृति की चूलें हिला दी हैं...इसके कारण हमारा आध्यात्मिक अध:पतन हुआ है।" इसके बाद गाँधीजी ने अपनी भावी कार्ययोजना की सूचना दी थी, जैसा कि उनका विश्वास था कि हर सत्याग्रही को करना चाहिए–

'...इस महीने की 11वीं तारीख को मैं आश्रम के अपने कुछ ऐसे सहयोगी कार्यकर्ताओं को लूँगा, जिनको मैं ले सकता हूँ और नमक क़ानून तोड़ूँगा। मैं जानता हूँ कि आप मुझे गिरफ़्तार करके मुझे ऐसा करने से रोक सकते हैं लेकिन मुझे उम्मीद है कि मेरे बाद भी हज़ारों-लाखों लोग इस काम को एकदम अनुशासित तरीक़े से करने के लिए तैयार रहेंगे। इस नमक क़ानून को तोड़ने में उनको जो भी सज़ा दी जाएगी उसे भुगतने के लिए तैयार रहेंगे, ऐसा कानून जो क़ानून की पुस्तक में कलंक जैसा है।"

इसकी योजना बहुत समझदारी से बनाई गई यद्यपि शुरू में इसकी घोषणा के समय बहुत कम लोगों ने इसके महत्त्व को समझा था। गाँधीजी को, साबरमती आश्रम के अपने 78 सहयोगियों के साथ अहमदाबाद मुख्यालय से गुजरात के गाँवों में होते हुए 240 मील की यात्रा करनी थी। उनके इस कार्य के सहयोगियों में भारत के सभी क्षेत्रों और धर्म के लोग शामिल थे। दांडी में समुद्र के किनारे पहुँचकर गाँधीजी को नमक़ कानून तोड़ना था। ऊपर से हानि रहित दिखने वाला आंदोलन भयंकर साबित हुआ। भविष्य में होने वाली इस नाटकीय घटना की उम्मीद में लोग हज़ारों की संख्या में पहले से ही साबरमती आश्रम में एकत्र होने लगे थे। गाँधीजी ने अत्यंत मेहनत से लोगों को अपनी योजना समझाई, भविष्य की कार्रवाई के लिए निर्देश दिए, लोगों को अहिंसा का महत्त्व समझाया और इस बात के लिए उनको तैयार किया कि सरकार से उन्हें किस बात की उम्मीद करनी चाहिए और किस बात की उम्मीद नहीं करनी चाहिए–

जहाँ भी हो सके नमक़ कानून को लेकर सिविल नाफ़रमानी शुरू की जानी चाहिए। शराब और विदेशी कपड़ों की दुकानों के सामने धरना दिया जाना चाहिए। यदि हम लोगों में अपेक्षित शक्ति हो तो हम कर अदा करना अस्वीकार कर सकते हैं। वकील अपनी वकालत बंद कर सकते हैं। आम लोग अपने मुक़द्दमें कचहरी तक न ले जाकर उसका बहिष्कार कर सकते हैं। सरकारी नौकर अपने पदों से इस्तीफा दे सकते हैं...मैं केवल एक शर्त रखता हूँ। स्वराज्य पाने की सत्य और अहिंसा की हमारी प्रतिज्ञा का ईमानदारी से पालन किया जाना चाहिए।

सिविल नाफरमानी की ताक़त की व्याख्या करते हुए गाँधीजी ने कहा–

"मान लें कि भारत के 7 लाख गाँवों में से हर एक से दस व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेकर नमक क़ानून तोड़ते हैं, वैसी स्थिति में आपके विचार में यह सरकार क्या कर सकती है। भयंकर तानाशाह भी, आप सोचिए कि शांतिपूर्ण ढंग से प्रतिरोध करने वाली विशाल जन सेना को तोप की नली से

नोट

नहीं उड़ा सकता। यदि आप बहुत थोड़ा भी इस काम में लग गए, तो हम आपको पूरा विश्वास दिलाते हैं कि बहुत कम समय में हम इस सरकार को थका डालेंगे।"

गाँधीजी ने यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार अहिंसा के कारण ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों की इसमें भागीदारी संभव है और इससे सरकार विचित्र असमंजस में फँस जाएगी। 10 मार्च को आश्रम पहुँची जनता की भीड़ को संबोधित करते हुए गाँधीजी ने कहा था–

"यद्यपि लड़ाई एक-दो दिनों के बाद आरंभ होने वाली है, कैसे संभव हुआ कि आप बेखटके यहाँ पहुँच गए? मैं नहीं समझता कि यदि आप को गोली और बम का सामना करना होता तो आप में से कोई भी व्यक्ति यहाँ दिखाई देता। क्यों? माने लीजिए कि यदि यह घोषणा करता कि मैं हिंसक अभियान आरंभ करने जा रहा हूँ जरूरी नहीं कि इसमें भागीदार लोग बंदूकों से लैस हों, वे लाठी, डंडे और पत्थरों से भी लैस हो सकते हैं) तो क्या आप सोचते हैं कि सरकार मुझे खुला छोड़ देती? क्या इतिहास में आप ऐसी मिसाल पेश कर सकते हैं चाहे अमरीका हो, इंग्लैंड हो अथवा रूस हो जहाँ की राजसत्ता ने हिंसापूर्ण विद्रोह को एक दिन के लिए भी बर्दाश्त किया हो? लेकिन यहाँ आप देख रहे हैं कि सरकार दुविधा और परेशानी में पड़ गई है।"

अपने समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ हाथ में लाठी लेकर गाँधीजी ने जब यह यात्रा शुरू की तो इस दृश्य में कुछ ऐसा जादू था कि लोगों का मन आंदोलित हो उठा। गाँधीजी के आगे बढ़ने का समाचार अख़बारों के जरिए देश के कोने-कोने तक पहुँचने लगा। उनके व्याख्यानों के बारे में, हज़ारों लोगों द्वारा उनका स्वागत करने और यात्रा में उनके साथ हो लेने के विषय में, मार्ग में तोरण-द्वार आदि बनाकर और उस पर झंडे आदि लगाकर उनके प्रति प्यार जताने के बारे में, जहाँ से गाँधीजी गुजरते थे वहाँ सड़क के किनारे बैठ चरखा चलाकर उनके प्रति लोगों द्वारा सम्मान जताने के बारे में, गाँधीजी के आह्वान पर गुजरात के 300 ग्राम अधिकारियों द्वारा अपने पदों से त्यागपत्र देने के बारे में भी ख़बरें अख़बारों ने प्रकाशित कीं और समूचे देश को इन गतिविधियों से अवगत कराया। हज़ारों कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने आख्यानों के जरिए जनता के सामने इसकी जीवंत तस्वीर पेश की। जब गाँधीजी दांडी पहुँचे तब समूचा देश उत्तेजित होकर आशा भरी नज़रों से देखने लगा था और गाँधीजी द्वारा अंतिम निर्देश की प्रतीक्षा करने लगा था। 1930 को 6 अप्रैल के दिन एक मुट्ठी नमक हाथ में लेकर गाँधीजी ने सिविल नाफ़रमानी आंदोलन का श्रीगणेश किया। यह ऐसा आंदोलन था जो राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में आम जनता की भागीदारी की दृष्टि से बेमिसाल था।

जिस समय गाँधीजी दांडी की तरफ़ आगे बढ़ रहे थे, उस समय कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता विभिन्न स्तरों पर संगठन-संबंधी कठिन कामों में व्यस्त थे। स्वयंसेवकों और सदस्यों की भर्ती कर रहे थे, निचले स्तर पर कांग्रेस समितियों का गठन कर रहे थे, कोष एकत्र कर रहे थे और गाँवों तथा क़स्बों में घूम-घूमकर राष्ट्रीय संदेश पहुँचा रहे थे। नमक़ सत्याग्रह की शुरुआत के लिए तैयारियाँ की गईं, स्थानों का चयन किया गया, स्वयंसेवकों को तैयार किया गया तथा संघर्ष के लिए साधनों का हिसाब लगाया गया।

एक बार जब गाँधीजी ने दांडी में दमन हाथ में लेकर इसके शुरू होने की रस्म पूरी कर दी तो नमक क़ानून तोड़ने का सत्याग्रह समूचे देश में शुरू हो गया। तमिलनाडु में तंजौर के समुद्री तट पर चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने, त्रिचिनापल्ली से वेदारण्यम की नमक यात्रा प्रारंभ की और 30 अप्रैल को जब उनको गिरफ़्तार किया गया तो उनके शिविर में इतने अधिक लोग एकत्र हो चुके थे कि उनकी मदद से यह सत्याग्रह काफ़ी समय तक चलता रहा। मालाबार में वैकम सत्याग्रह के नायक ने नमक क़ानून तोड़ने के लिए कालीकट से पयान्नर तक की यात्रा की। सत्याग्रहियों का एक दल

नोट

असम के सिलहट स्थान से बंगाल के नोवाखाली समुद्र तट तक नमक बनाने के लिए पहुँचा था। आंध्र प्रदेश के विभिन्न ज़िलों में नमक सत्याग्रह के मुख्यालय के रूप में काम करने के उद्देश्य से 'शिविरम' (सैनिक शिविरों की तर्ज पर) स्थापित किए गए थे तथा सत्याग्रहियों के जत्थे गाँवों से होते समुद्र-तट की तरफ़ नमक क़ानून को चुनौती देने के लिए बढ़ते चले गए थे। लौटते समय वे दूसरे-दूसरे गाँवों से होते हुए आए थे। नमक क़ानून भंग करने पर सरकार गाँधीजी को गिरफ़्तार करने में असफल रही। स्थानीय स्तर के नेताओं ने इसको अपने पक्ष में इस्तेमाल किया और लोगों को यह समझाकर प्रभावित किया कि "हम लोगों से सरकार भयभीत हो गई है।" और यह कि "जब से नमक सत्याग्रह आरंभ हुआ है, सरकार गायब हो गई है। यह कहीं जाकर छिप गई है और गाँधीजी की सरकार कायम हो गई है।" 14 अप्रैल को नमक क़ानून तोड़ने के जुर्म में जवाहरलाल नेहरू को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके जवाब में मद्रास, कलकत्ता और कराची आदि नगरों में प्रदर्शन हुए और प्रदर्शनकारियों की विशाल भीड़ और पुलिस के बीच टकराव हुए।

पेशावर (पश्चिमोत्तर प्रांत) में जनाक्रोश की अभिव्यक्ति कई रूपों में देखने को मिली जहाँ कांग्रेस नेताओं की गिरफ़्तारी को लेकर जनता ने अभूतपूर्व प्रदर्शन किया। इस इलाक़े में खान अब्दुल गफ़्फार खाँ वर्षों से सक्रिय थे और उनके द्वारा जनता में किए गए काम की वजह से अहिंसक क्रांतिकारियों के बहादुर जत्थे यानी ख़ुदाई ख़िदमतगारों के दल तैयार हुए थे। ये लोग 'लालकुर्ती' के नाम से जाने जाते थे। सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में इनकी भूमिका काफ़ी सक्रिय थी। उस ज़माने में उनके काम की वजह से जो माहौल बना था, पेशावर में जन-उभार के पीछे उसका बहुत बड़ा हाथ था जिसके कारण एक सप्ताह से भी अधिक समय तक पेशावर पर आम लोगों का नियंत्रण रहा। पेशावर की घटनाएँ इसलिए भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण थीं कि गढ़वाल रेजिमेंट के सिपाहियों ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था।

धीरे-धीरे यह बात साफ़ होती जा रही थी कि सरकार द्वारा खेला गया जुआ उसके लिए फ़ायदेमंद नहीं हुआ। सरकार ने सोचा था कि यदि आंदोलन में हस्तक्षेप न किया गया तो यह अपने आप टाँय-टाँय-फिस्स हो जाएगा और गाँधीजी की नमक की रणनीति का कोई नतीज़ा नहीं निकलेगा। वस्तुत: सरकार को पता ही नहीं था कि इस आंदोलन के प्रति वह क्या रास्ता अपनाए और जैसा कि गाँधीजी ने अनुमान लगाया था, सरकार "दिग्भ्रमित और भौंचक्की" रह गई थी। सरकार जिस दुविधा में फँसी थी, उसे उस दुविधा में डालने के लिए ही गाँधीजी ने अहिंसात्मक तरीक़े के सविनय अवज्ञा आंदोलन की रणनीति बनाई थी। सरकार ज़बरदस्त संकट में थी, "इसको दबाने में संकट और न दबाने में भी संकट, यानी कि यदि सरकार उस आंदोलन को नहीं दबाती तो खुलेआम उसके क़ानून की धज्जियाँ उड़ जाती हैं, इससे प्रशासन की ताक़त कमज़ोर होती है और जनता पर पकड़ ढीली होती है। लेकिन यदि सरकार इसका दमन करती है तो लोगों की निग़ाह में इसकी एक नृशंस और जन-विरोधी सरकार की छवि बनती है, ऐसी सरकार जिसने शांतिपूर्ण आंदोलन को दबाने के लिए हिंसक तरीक़ा अख़्तियार किया है। यदि हम कुछ ज़्यादा कहें तो कांग्रेस चिल्लाकर कहेगी 'दमन हो रहा है', और यदि हम नाममात्र का प्रतिरोध करें तो कांग्रेस कहेगी–'हम जीत गए' मद्रास के एक सरकारी अधिकारी ने 1930 में अपनी दुविधाग्रस्त स्थिति को व्यक्त करते हुए यह बात कही थी। दोनों ही स्थितियों में ब्रिटिश सरकार के प्रभुत्व को धक्का लगना था।

तेजी से फैलते हुए आंदोलन के कारण सरकार को अपने चेहरे पर पड़ी प्रजा-वात्सलता का नक़ाब उठाना पड़ा और उसने फ़ौज का इस्तेमाल किया। अधिकारियों, गवर्नरों तथा सैनिक अधिकारियों की ओर से दबाव पड़ने लगे थे। अंतत: 4 मई को वायसराय ने आदेश जारी किया कि गाँधीजी

नोट

को गिरफ़्तार किया जाए। गाँधीजी ने ऐलान किया था कि 'धरासना नमक निर्माणशाला' पर अपने साथियों को लेकर वे धावा बोलेंगे और इस तरह वे अपना नमक़ क़ानून तोड़ने का काम जारी रखेंगे। इस प्रकार प्रशासन को मजबूर होना पड़ा लेकिन गिरफ़्तारी के समय का चुनाव बहुत ग़लत था। तो इससे सरकार को वह लाभ मिला जो शुरू में ही प्रहार करने पर मिला होता और गाँधीजी को आंदोलन में तेज़ी लाने से रोक दिया होता, न इसे सरकार की इस नीति को सफलता मिली कि यह तो अपने आप ही समाप्त हो जाएगा जिसका सरकार को फ़ायदा मिलेगा। आंदोलन में तीव्रता आने के बाद नतीज़ा उलटा हुआ और इससे गतिविधियों में और तेज़ी आ गई। यह सरकार के लिए बेशुमार परेशानियों का कारण बना।

गाँधीजी की गिरफ़्तारी का लोगों ने ज़बरदस्त विरोध किया। बम्बई में लोगों की बहुत बड़ी भीड़ सड़कों और गलियों में निकल आई। यह भीड़ इतनी अधिक थी कि पुलिस को पीछे हटना पड़ा। इसमें रेलवे और सूती मिलों में काम करने वाले मज़दूर हजारों की संख्या में जमा थे। कपड़ा व्यापारियों ने छह दिन की हड़ताल रखी। दिल्ली और कलकत्ता में पुलिस के साथ टकराव हुए और गोली भी चली। लेकिन महाराष्ट्र के शोलापुर नगर में इसकी प्रक्रिया सबसे उग्र थी। इस क़स्बे में सूती मिल मज़दूरों की तादाद बहुत अधिक थी। 7 मई से वे हड़ताल पर चले गए तथा क़स्बे के अन्य नागरिकों के साथ मिलकर उन लोगों ने शराब की दुकानें जलाईं और उन सभी प्रतिष्ठानों पर आक्रमण के लिए निकल पड़े जो सरकार की शक्ति के प्रतीक थे यानी रेलवे स्टेशन और नगरपालिका के भवन आदि। उन लोगों ने क़स्बे पर क़ब्ज़ा कर लिया और लगभग एक समानांतर सरकार क़ायम कर ली और 16 मई को मार्शल लॉ लागू करने के बाद ही इसको समाप्त किया जा सका था।

21 मई को सरोजिनी नायडू (जिनको अख़िल भारतीय कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था), गाँधीजी के अफ्रीका संघर्ष के दिनों के दोस्त इमाम साहब तथा गाँधीजी के पुत्र मणिलाल 2000 कार्यकर्त्ताओं को अपने साथ लेकर इनका नेतृत्व करते हुए उस घेरे की तरफ़ दृढ़तापूर्वक बढ़े जो धरासना नमक कारख़ाने की रक्षा के लिए बनाया गया था। जैसे ही वे नजदीक पहुँचे वैसे ही लोहे की मुठवाली लाठी लेकर के पुलिस आगे बढ़ी और निहत्थे सत्याग्रहियों पर तब तक लाठी बरसाती रही जब तक कि घायल होकर वे ज़मीन पर गिर नहीं पड़े। घायलों को वहाँ से हटाने का काम उनके अन्य सत्याग्रही साथियों ने किया और उनकी जगह दूसरा जत्था आगे बढ़ा। उनके साथ भी वही हुआ और यही क्रम आगे तक जारी रहा। इसी तरह जत्थे के बाद जत्था आगे बढ़ता रहा। थोड़े समय बाद उस घेरे को तोड़ने के बजाए लोग रास्ते में बैठ जाते थे और पुलिस की लाठियों की प्रतीक्षा करते थे। रक्षा के लिए किसी ने अपना हाथ तक नहीं उठाया। और 11 बजे दोपहर तक, जबकि छाया में तापमान 46 फारेनहाइट था, 320 लोग घायल हो चुके थे और दो लोग अपने प्राण गँवा चुके थे। अमरीकी पत्रकार मिलर ने इसका ब्यौरा दिया है। उसके ब्यौरे में भारतीय राष्ट्रवाद की खुशबू है जिसे कई देशों तक उसने पहुँचाया था तथा उसके द्वारा सत्याग्रहियों के शौर्य प्रदर्शन के विवरण ने अत्यंत प्रभावशाली तरीक़े से स्पष्ट किया कि अहिंसात्मक प्रतिरोध कोई कायरों का काम नहीं है। उसके विवरण का संक्षेप इस प्रकार है– "बीसेक देशों में समाचार भेजने के अपने कार्यकाल के 18 वर्षों के दौरान मैंने असंख्य नागरिक विद्रोह देखे हैं, दंगे, गली-कूचों में मारकाट और विद्रोह देखे हैं, लेकिन धरासना जेसा भयानक दृश्य मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा है।"

नमक सत्याग्रह के नए रूप को जनता ने बड़ी उत्सुकता से अपना लिया और देखते-देखते यह जन-आंदोलन में बदल गया। बंबई के बाहरी किनारे पर स्थित बड़ाला में नमक के कारख़ानों पर

नोट

धावा बोला गया। 1 जून को 15,000 लोगों की भीड़ ने सामूहिक कार्रवाई कर डाली, यह कार्रवाई पूर्ववर्ती कार्य की परिणति थी। ये लोग बहादुरी से पुलिस को चुनौती देते हुए घेरा तोड़कर वहाँ से नमक ले गए। कर्नाटक में 10,000 लोगों ने सैनीकट्टर्ा नमक कारख़ाने पर धावा बोला और लाठियाँ तथा गोलियाँ खाईं। मद्रास में नमक क़ानून तोड़ने की वजह से जनता और पुलिस के बीच टकराव हुए और 23 अप्रैल को समुद्र के किनारे विरोध जताने के लिए जनसभा आयोजित की गई। इस प्रदर्शन में जनता को तितर-बितर करने के लिए पुलिस ने लाठियों तथा गोलियों का प्रयोग किया था और तीन लोगों की मौत हो गई थी। इस घटना से पूरा शहर नस्ली आधार पर दो हिस्सों में बँट गया। यहाँ तक कि उदार-से-उदार व्यक्ति ने भी इसकी निंदा की तथा वह राष्ट्रवादी कांग्रेसियों का समर्थक बन गया। आंध्रप्रदेश में महिलाओं के जत्थे मीलों चलकर नमक क़ानून को चुनौती देने पहुँचे थे और बंगाल में पुराने गाँधीवादी आश्रमों में नगरों से बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों के आने से फिर से जान आ गई। इससे मिदनापुर के इलाक़े में नमक सत्याग्रह काफ़ी समय तक चलता रहा। इसके साथ दूसरे इलाक़ों में भी नमक सत्याग्रह चलाया गया। उड़ीसा में बालासोर, पुरी और कटक ज़िले गैरक़ानूनी तौर पर नमक निर्माण के मुख्य केंद्र बने रहे।

इस दौर में राजसत्ता को दी जाने वाली अनेक प्रकार की चुनौतियों को बढ़ावा देने के लिए 'नमक सत्याग्रह' ने प्रारंभ में उत्प्रेरक का काम किया। गिरफ़्तारी के पहले ही गाँधीजी ने ज़ोरदार तरीक़े से विदेशी कपड़ों तथा शराब के बहिष्कार का आह्वान किया था। उन्होंने महिलाओं से विशेष रूप से इसमें अग्रगामी भूमिका निभाने के लिए कहा था। गाँधीजी ने एक बार कहा था, "महिलाओं को कमज़ोर कहना उनका अपमान है यह पुरुषों का महिलाओं के प्रति अन्याय है।" और 1930 में भारत की महिलाओं ने विशेष रूप से यह दिखा दिया कि वे शक्ति और सामर्थ्य में किसी से कम नहीं हैं। जो महिलाएँ अकेले कभी अपनी देहरी से बाहर नहीं निकली थीं, जो पर्दे में रही थीं, वे युवा माताएँ और विधवाएँ और अविवाहित लड़कियाँ अकसर सबेरे से लेकर शाम तक शराब की दुकानों के सामने तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों और नशीले पदार्थों की दुकानों के आगे धरना दिए नज़र आती थी। उस समय यह दृश्य बहुत सामान्य था। वे चुपचाप लेकिन दृढ़तापूर्वक लोगों से (ग्राहकों से) आग्रह करती थीं, कि वे अपना दृष्टिकोण बदलें।

विदेशी कपड़ों तथा शराब के बहिष्कार में छात्रों और नौजवानों की भूमिका भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण थी। उदाहरण के लिए बंबई में व्यवसाय वाले इलाकों में नियमित रूप से कांग्रेस के संतरियों को नियुक्त किया जाता था कि वे देखें कि कोई भी व्यापारी या विक्रेता विदेशी सामान के बहिष्कार के सत्याग्रह का उल्लंघन न करे। इस बहिष्कार को क्रियान्वित करने में व्यापारियों के संगठन खुद भी काफ़ी सक्रिय थे। कई मिलमालिकों ने विदेशी धागे का इस्तेमाल बंद कर दिया और शपथ ली कि वे ऐसा कोई मोटा कपड़ा नहीं बनाएँगे जिसकी स्पर्धा खादी से हो। जिन लोगों ने इसका उल्लंघन किया, उस पर संघ/संगठन की ओर से दंड लगाए गए, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। कांग्रेस ने उनको 'काली सूची' में रखा तथा उनकी दुकानों के सामने धरने दिए गए। शराब के बहिष्कार के कारण आबकारी शुल्क कम हो गया। इससे सरकारी राजस्व को काफ़ी नुक़सान हुआ। इस आंदोलन ने एक और तरह वे जन-आंदोलन का रूप ग्रहण किया और ताड़ी के वृक्षों का सिर लोगों ने काट डाला।

शराब और नशीली चीज़ों के बहिष्कार का कारण भारतीय जनता के बीच वह लोकप्रिय परंपरा थी जिसमें मदिरा न पीने को गुण माना जाता था और उस व्यक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता

नोट

था। इस परंपरा की गहरी जड़ों को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जो भी नीची जाति के लोग जातिगत सोपान में ऊपर उठना चाहते हैं तो

शराब छोड़कर ऊँची जाति के होने की अपनी हैसियत क़ायम करने की कोशिश करते हैं। मांस खाना भी छोड़ देते हैं। कर न अदा करने के अभियान का मुख्य स्थल पूर्वी भारत था जहाँ चौकीदारी के लिए कर अदा करने से लोगों ने मना कर दिया। ख़ास तौर से गाँवों से जो कर दिया जाता था उसका एक हिस्सा चौकीदारों के लिए हुआ करता था। चौकीदार गाँव के रक्षक होते थे और पुलिस बल की छोटी इकाई के पूरक के रूप में काम करते रहते थे। पूर्वी क्षेत्र में इनकी मुख्य भूमिका थी। इन चौकीदारों से लोग बहुत घृणा करते थे क्योंकि सरकार की ओर से ये खुफियागिरी करते थे तथा ज़मीदारों के ये पालतू होते थे। इस कर के ख़िलाफ़ और चौकीदारों और चौकीदारी पंचायत के प्रभावशाली सदस्यों के इस्तीफ़े की माँग को लेकर ज़बरदस्त आंदोलन चलाया गया। ये ही सदस्य चौकीदारों को नियुक्त किया करते थे। इस आंदोलन का श्रीगणेश मई के महीने में बिहार में किया गया क्योंकि समुद्र न होने के कारण वहाँ पर नमक आंदोलन की कोई गुंजाइश नहीं थी। उदाहरण के रूप में मुंगेर, भागलपुर और सारन ज़िलों में कर अदा करने से लोगों को मना कर दिया गया और चौकीदारों को त्याग-पत्र देने के लिए प्रेरित किया गया। जिन लोगों ने कोई आनाकानी की अथवा प्रतिरोध जताया, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। सरकार ने कुछ रूपयों के बदले सैकड़ों हज़ारों की संपत्ति जब्त करके इसका बदला लिया। लोगों को मारा-पीटा गया, यातानाएँ. दी गईं। मामला तब अपनी चरम सीमा पर पहुँचा जब 31 मई को भागलपुर जिले के बिहपुर गाँव में अपने क्षीण होते हुए प्रभाव को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए पुलिस ने कांग्रेस आश्रम को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। इस क्षेत्र में राष्ट्रवादी गतिविधियों का यह मुख्यालय था। आश्रम पर पुलिस के क़ब्ज़ा करने से रोज-रोज आश्रम के बाहर प्रदर्शन होने आरंभ हो गए। पटना से राजेंद्रप्रसाद और अब्दुल बारी जब वहाँ दौरे पर गए तो एक विशाल रैली का आयोजन किया गया। इस रैली को तोड़ने के लिए पुलिस ने लाठियों का प्रयोग किया। अन्य लोगों के साथ राजेंद्रप्रसाद को भी चोटें आईं। अन्य जगहों की तरह यहाँ भी दमन के कारण राष्ट्रवादी गतिविधियों की शक्ति और बढ़ गई और स्थिति ऐसी हो गई कि देहाती इलाक़ों में पुलिस का घुसना असंभव हो गया।

बंगाल में मानसून चालू होने से नमक बनाने में दिक्कत आई इसलिए आंदोलन नमक से हटकर चौकीदारी और यूनियन बोर्ड विरोधी आंदोलन में बदल गया। यहाँ भी गाँव के लोगों को भयंकर दमन का सामना करना पड़ा। हज़ारों की संपत्ति ज़ब्त की गई या नष्ट कर दी गई। पुलिस के आक्रोश से बचने के लिए लोगों को भाग कर जंगलों में भी छिपना पड़ा।

गुजरात में खेड़ा ज़िले में, बारदोली तहसील (सूरत ज़िला) में और भड़ौंच ज़िले के जंबूसर में कर न अदा करने का एक सबल आंदोलन तेज़ी से चलाया जा रहा था। यहाँ पर लोगों ने भूमिकर (भूराजस्व) अदा करने से इनकार कर दिया था। हज़ारों की तादाद में अपने परिवार के लोगों, मवेशियों तथा घर की चीज़ें लेकर गाँव के लोग ब्रिटिश नियंत्रण वाले भारत से निकलकर बड़ौदा जैसे रजवाड़े वाले इलाक़े में चले गए थे और वहाँ महीनों मैदानों में डेरा डाले रहे।

उनके घरों को तोड़कर और उनमें घुसकर चीज़ें नष्ट कर दी गईं। पुलिस ने तो सरदार वल्लभभाई पटेल की 80 वर्ष की माँ को भी नहीं बख्शा, जो करमसाड़ के अपने गाँव के मकान में बैठी खाना पका रही थीं। उनके खाना पकाने के बरतनों को उठाकर फेंक दिया गया, उनमें कंकड़-पत्थर और मिट्टी का तेल भर दिया गया। 1930 के दौरान वल्लभभाई अधिकांश समय जेल में रहे और थोड़े दिनों के लिए जब भी बाहर निकले अपने गाँव और आसपास के इलाक़ों में कठिन जीवन-यापन

कर रहे किसानों को लगातार ढाढस बँधाते और प्रोत्साहित करते रहे। यद्यपि उनके थोड़े-बहुत साधन जल्दी ही चुक गए, उनके मन में पराजय बोध घर करने लगा लेकिन हार न मानकर वे जंगलों में डटे रह। वे तभी अपने घरों को लौटे जब मार्च 1931 को शांति क़ायम हो गई।

नोट

महाराष्ट्र, कर्नाटक और मध्य भारत में वन नियमों के उल्लंघन का आंदोलन भी विशाल जनांदोलन का रूप ले चुका था। इसमें विशेष रूप से वे क्षेत्र शामिल थे जिनमें जन-जातियाँ रहती थीं। उपनिवेशवादी सरकार ने वनों के उपयोग पर कड़े प्रतिबंध लगा रखे थे और उन प्रतिबंधों से ये लोग सबसे अधिक प्रभावित थे। कुछ जगहों में तो वन क़ानून तोड़ने वाली भीड़ का आकार इतना बड़ा हो जाता था कि लोगों की संख्या 70,000 से भी अधिक हो जाया करती थी।

असम में कुख्यात "कनिंघम सरकुलर" के विरोध में छात्रों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आंदोलन चलाया गया था जिसमें छात्रों और उनके अभिभावकों से सद्व्यवहार' का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने के लिए कहा गया था।

लगता है कि जनता ने जवाहरलाल नेहरू के संदेश को हृदय से धारण कर लिया था। दिसंबर 1929 में लाहौर में राष्ट्रीय झंडा फहराते हुए जवाहरलाल नेहरू ने अपने संदेश में कहा था–"एक बार फिर आपको याद रखना है कि अब यह झंडा फहरा दिया गया है, जब तक एक भी हिंदुस्तानी मर्द, औरत या बच्चा जिंदा है, इसे झुकना नहीं चाहिए।"

भयंकर और कठिन नृशंसता के सामने भी राष्ट्रीय झंडे के सम्मान की रक्षा का प्रयास बहुधा विचित्र प्रकार की बहादुरी का रूप धारण कर लेता था। आंध्र प्रदेश के तटीय इलाक़े बुंदुर में टोटा नरसैया नायडू, पुलिस बल के 15 लोगों के दल से मार खाते-खाते बेहोश होकर गिर गए लेकिन राष्ट्रीय झंडा नहीं छोड़ा। कालीकट में पी. कृष्ण पिल्लै पर जो बाद में चलकर बहुत बड़े कम्युनिस्ट नेता बने–वैसा ही लाठी प्रहार किया गया जैसा नायडू पर किया गया था। सूरत में छोटे-छोटे बच्चों ने पुलिस को चुनौती देने के लिए अपनी विलक्षण प्रतिभा का उपयोग किया। जब उनके हाथ से बार-बार राष्ट्रीय झंडा छीना गया तो परेशान होकर उन्होंने एक नया उपाय निकाला। उन लोगों ने तिरंगें की ही अपनी ड्रेस सिलवाई। उस ड्रेस को पहनकर शान से सड़कों और गलियों में वे सारे जीवित झंडे घूमते रहे और पुलिस को चुनौती देते रहे। पुलिस उनके इस राष्ट्रीय झंडे को उनसे नहीं छीन सकी। राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक राष्ट्रीय झंडा अब दूर-दराज़ के ग्रामांचल में भी प्रायः दिखाई पड़ने लगा था।

उत्तर प्रदेश में आंदोलन का दृश्य और भी भिन्न क़िस्म का था। यहाँ पर 'कर न दो, लगान न दो' का आंदोलन चलाया गया। कर न देने का आह्वान ज़मींदारों के लिए था। उनसे निवेदन किया गया था वे सरकार को राजस्व न दें और लगान न देने का आग्रह किसानों से था ताकि ज़मींदारों को वे लगान न दें। चूँकि अधिकांशतः जमींदार सरकार के प्रति वफ़ादार थे, इसलिए यथार्थ रूप में लगान-विरोधी आंदोलन का रूप ही प्रमुख रहा। आरंभिक महीनों में सविनय अवज्ञा आंदोलन काफ़ी मजबूत था लेकिन सरकारी दमन-चक्र के कारण बाद में इसकी पकड़ कमज़ोर पड़ गई और मालगुज़ारी न देने का अभियान बंद नहीं हुआ। लेकिन अक्तूबर में इसने फिर ज़ोर पकड़ा। जब जवाहरलाल नेहरू थोड़े समय के लिए जेल से छूटकर बाहर आए तो उन्होंने उत्तर प्रदेश कांग्रेस समिति को मालगुज़ारी-विरोधी आंदोलन चलाने की स्वीकृति दी। दो महीने तो गंभीर रूप से तैयार होने और उसका व्यापक प्रचार करने में लगे। इसके बाद सितंबर में पुनः यह अभियान छेड़ा गया। जनवरी तक दमन का इतना अधिक ज़ोर हुआ कि मजबूर होकर बहुत से किसान गाँव छोड़कर भाग कए। आगरा और रायबरेली के ज़िले इस अभियान के मुख्य केंद्र थे।

नोट

जनता को हरकत में लाने के अनेक रूपों को इस आंदोलन ने लोकप्रिय बनाया। गाँवों और क़स्बों में 'प्रभात फेरियाँ' नियम-सी बन गई थीं जिसमें औरत और बच्चे प्रात:काल झुंड बनाकर राष्ट्रीयगान गाते हुए गली-गली घूमा करते थे। पत्रिकाएँ अथवा ग़ैरक़ानूनी सूचना पत्र जो कभी तो हाथ से लिखे होते थे और कभी साइक्लोस्टाइल रूप से हुआ करते थे, घृणित प्रेस अधिनियम को तोड़ने के लिए बनाई गई रणनीति के अभिन्न अंग थे और इनकी संपूर्ण देश में मानो बाढ़-सी आई हुई थी। गाँवों तक राष्ट्रीय संदेश पहुँचाने के लिए 'जादुई लालटेनें काम में लाई जाती थीं। और पहले की तरह ही, कार्यकर्ताओं और नेताओं द्वारा लगातार दौरे, स्त्री-पुरुषों के दलों द्वारा दौरे और उसके दौरान सभाएँ, बैठकें और छोटी-बड़ी जनसभाएँ आंदोलन का केंद्रीय आधार रहीं। बच्चों की 'वानर सेना' संगठित की गई और एक स्थान पर लड़कियों ने अलग से अपनी माजेरी सेना बनाने की माँग रखी।

पूरे 1930 के दौरान सरकार दुविधापूर्ण रुख अख़्तियार किए रही। काफ़ी सोच-विचार करके बाद में चलकर गाँधीजी को गिरफ़्तार किया गया था। उसके बाद जनता के नागरिक अधिकारों में कटौती के अध्यादेश जारी किए गए तथा प्रांतीय सरकारों को सिविल नाफ़रमानी वाले संगठनों पर प्रतिबंध लगाने की छूट दी गई। लेकिन जून के अंत तक कांग्रेस कार्यकारिणी को ग़ैरकानूनी नहीं घोषित किया गया था और मोतीलाल नेहरू को उस तारीख तक मुक्त रखा गया था वे उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से काम कर रहे थे। अगस्त तक बहुत सारी स्थानीय कांग्रेस समितियों पर भी प्रतिबंध नहीं लगा था। इस बीच साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें भारत को 'डोमिनियन स्टेट्स' के अधिकार दिए जाने की कोई चर्चा तक नहीं की गई थी। एक प्रकार से यह पीछे धकेलने वाला दस्तावेज़ था, इसकी नीतियाँ दमनात्मक थीं। इसने सरकार को और अलग-थलग कर दिया—यहाँ तक कि गरमदलीय विचार के राजनेता भी इससे नाराज़ हुए और मदनमोहन मालवीय तथा एस.एस अणे जैसे लोगों ने गिरफ़्तारी दी। 9 जुलाई को समझौतावादी रुख का संकेत देते हुए वायसराय ने एक गोलमेज़ सम्मेलन का सुझाव दिया तथा डोमिनियन स्टेट्स वाले मक़सद पर फिर से ज़ोर दिया। केंद्रीय विधायिका के 40 सदस्यों द्वारा दिए गए सुझाव को भी वायसराय ने स्वीकार किया कि तेज़ बहादुर सप्रू और एम.आर. जयकर को कांग्रेस और सरकार के मध्य शांति-स्थापना की संभावनाओं का पता लगाने के लिए कहा जाए। इन बातों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से जवाहरलाल और मोतीलाल को गाँधीजी से मिलाने के लिए यर्बदा जेल स्थानांतरित किया गया ताकि ये लोग गाँधीजी के साथ समझौते की संभावना को लेकर विचार-विमर्श कर सकें। इस बातचीत का कोई नतीज़ा नहीं निकला लेकिन संकेतों से यह सुनिश्चित हो गया कि कुछ लोग नवंबर के महीने में गोलमेज़ सम्मेलन में भी भाग लेंगे। ब्रिटिश शासकों तथा भारतीयों को बराबर की हैसियत देकर की जाने वाली यह पहली बैठक थी। इसमें लगभग हर प्रतिनिधि ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया कि संवैधानिक विचार-विमर्श की कोई भी कार्यवाही बिना कांग्रेस को शामिल किए कोई मतलब नहीं रखती। उस कार्यवाही से यह भी स्पष्ट हुआ कि यदि सरकार को बचाने के लिए रणनीति का आधार संवैधानिक सुविधाओं को बनाया जाता है तो इसमें कांग्रेस की भागीदारी आवश्यक है। गोलमेज़ सम्मेलन के समापन पर बोलते हुए ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने स्पष्ट तौर पर इस संभावना की ओर संकेत किया था। उन्होंने यह उम्मीद भी जताई कि बाद में होने वाले इस वर्ष के विचार-विमर्श में कांग्रेस अवश्य भाग लेगी। 25 जनवरी को वायसराय ने बिना शर्त गाँधीजी की रिहाई की घोषणा की। साथ में कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सभी सदस्यों की रिहाई की भी घोषणा की गई ताकि वे स्वतंत्र रूप से बिना किसी डर-भय के प्रधानमंत्री के वक्तव्य पर अपने विचार ज़ाहिर कर सकें।

नोट

तीन हफ़्ते तक आपसी विचार-विमर्श वे बाद और जो प्रतिनिधि लंदन से भाग लेकर लौटे थे उनसे सलाह-मशविरा करने के बाद, और समाज के विभिन्न तबक़ों के नुमाइंदों के साथ बातचीत करके कांग्रेस कार्यकारिणी ने गाँधीजी को वायसराय से बातचीत आरंभ करने के लिए अधिकृत किया। 5 मार्च 1931 को गाँधी-इरविन समझौते के रूप में 15 दिन के लंबे विचार-विमर्श के बाद एक दस्तावेज सामने आया। इसे कुछ लोगों ने 'शांति समझौता' और कुछ ने 'अस्थाई क़रार' नाम दिया।

इस समझौते पर कांग्रेस की तरफ से गाँधीजी ने हस्ताक्षर किए और सरकार की ओर से लार्ड इरविन ने हस्ताक्षर किए। नौकरशाही के लिए यह विचित्र बात थी क्योंकि इसमें कांग्रेस और सरकार को समानता के स्तर पर रखा गया था। समझौते की शर्तों में जो बातें शामिल थीं वे इस प्रकार हैं–जिन लोगों को बंदी बनाया गया है उन सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई (इसमें हिंसक कार्रवाई में शरीक़ बंदी को नहीं लिया गया था)। इस समय जो दंड लगे थे और उनको वसूल नहीं किया गया था, उनकी माफ़ी, ज़ब्ती ज़मीन की वापसी यदि उसे तीसरे पक्ष को बचा न गया हो, और जिन सरकारी कर्मचारियों ने त्यागपत्र दे दिया था, उनके साथ नर्मी का बर्ताव। सरकार ने तटीय इलाक़ों में रहने वाले ग्रामीणों को घरेलू उपयोग के लिए नमक बनाने के अधिकार भी दिए और शांतिपूर्ण तरीक़े से बिना आक्रमण हुए लोगों को धरना देने के अधिकार भी प्राप्त हुए। पुलिस की ज़्यादतियों की जाँच के लिए जनता की जाँच समिति बने, कांग्रेस की इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया लेकिन गाँधीजी ने जाँच की माँग बार-बार दुहराई थी, इसका ज़िक्र समझौते में किया गया। अपनी ओर से कांग्रेस ने सिविल नाफ़रमानी समाप्त करने की शर्त मान ली थी। समझौते में यह भी अंतर्निहित था कि अगली गोलमेज़ बैठक में कांग्रेस भागीदार बनेगी।

जिन शर्तों पर समझौते पर दस्तख़त किए गए, उनको लेकर उस काल के लोगों में और इतिहासकारों में भी आपस में काफ़ी मतभेद और विवाद हैं। इसके मुख्य कारण हैं–इसका समय, हस्ताक्षर करते समय गाँधीजी के इरादे, भगत सिंह और उनके साथियों की फाँसी की सज़ा माफ़ करने को शर्त के रूप में न रखना (यद्यपि लोग मानते हैं कि गाँधीजी ने वायसराय को इस मुद्दे पर राज़ी करने का प्रयास किया)। इस समझौते की लोगों ने अलग-अलग रूप में व्याख्या की है। कुछ ने इसे धोखे की संज्ञा दी है, कुछ ने इसे भारतीय पूँजीपतियों के ढुलमुल स्वभाव का और गाँधीजी का उनके दबाव में आकर काम करने का प्रमाण माना है। यह कहा गया है कि गाँधीजी और भारतीय पूँजीपति दोनों ही जनांदोलनों से भयभीत थे जो काफ़ी क्रांतिकारी मोड़ ले रहा था, तो कुछ लोगों ने कहा कि किसानों के साथ धोखा किया गया क्योंकि उनकी ज़ब्त की हुई जो ज़मीन तीसरे पक्ष को बेच दी गई थी उसे वापस दिलाने की शर्त समझौते में नहीं थी। इसमें गुजरात के किसान विशेष रूप से प्रभावित थे, आदि।

1922 में चौरीचौरा कांड के कारण असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया तथा उसको लेकर जो तर्क दिए गए थे, इस बार भी लोग उसी आधार पर आरोप लगा रहे थे लोगों की इस प्रकार की समझदारी का जो आधार है, वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति और उसके स्वरूप को पहचानने में असमर्थ है। पहली बात यह है कि इस समझदारी में इस बात की अनदेखी कर दी जाती है कि जनांदोलनों की आयु बहुत लंबी नहीं होती, उनको अनंतकाल तक जारी नहीं रखा जा सकता है। सक्रिय राजनीतिज्ञों की तरह आम जनता की त्याग की क्षमता अनंत नहीं होती। और आंदोलन में निश्चित रूप से थकान के लक्षण नज़र आने लगे थे–ख़ास तौर से आंदोलन के बड़े और महत्त्वपूर्ण तबके के लिए तो यह बात निश्चित रूप से सच है। क़स्बों में नौजवानों और छात्रों में तो ऊर्जा अभी भी बनी हुई थी लेकिन सौदागरों और दुकानदारों के लिए लंबे समय तक नुकसान उठाना

नोट

मुश्किल होता जा रहा था। बहिष्कार को सफल बनाने के लिए इस वर्ग का सहयोग आवश्यक भी था। लेकिन 1930 के सितंबर तक इनका समर्थन क्षीण होने लगा था। गाँवों के उन क्षेत्रों में, जहाँ साल के शुरू में ही आंदोलन प्रारंभ किया जा चुका था, वर्ष के उत्तरार्द्ध में आकर उनमें भी शिथिलता आने लगी थी। जोकि पुलिस के साथ संघर्ष की ओर उन पर आक्रमण की छिटपुट घटनाएँ तो घटती थीं और यह बात बंगाल, बिहार, आंध्र प्रदेश और गुजरात सभी जगहों के लिए सच थी। उत्तर प्रदेश के कुछ इलाक़ों में लगान न देने का आंदोलन वर्ष के अंत में शुरू हुआ था। उनमें लड़ने का पर्याप्त माहौल अभी भी बरकरार था। लेकिन क्या कुछ इलाक़ों में प्रतिरोध की इन इक्की-दुक्की घटनाओं से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि इस विशाल देश की समूची जनता संघर्ष जारी रखने में सक्षम थी। और इस बात की क्या गारंटी थी कि जब इनकी शक्ति चुक जाती जैसा कि आगे-पीछे होना अवश्यंभावी था, तो इसके बाद सरकार बातचीत के लिए तैयार होती ही। 1931 का साल वैसा नहीं था जैसा कि 1946 था और जैसा कि 1912 में हुआ होता कि सरकार पैंतरा बदलकर तेजी से दमनचक्र चलाती और काफ़ी प्रभावी तरीके से आंदोलन को कुचल देती।

इसमें शक नहीं कि नौजवान काफ़ी निराश हुए थे क्योंकि बिलखने और बिसूरने की तुलना में मर मिटने को वरीयता देते थे। इसमें भी शक नहीं कि गुजरात के किसान खुश नहीं थे क्योंकि उनकी कुछ ज़मीनें उनको तत्काल वापस नहीं मिल सकी थीं (उनको ये तब वापस मिलीं जब 1937 में बंबई में कांग्रेस मंत्रिमंडल सत्ता में आया) लेकिन विशाल जन-समुदाय का अधिकांश हिस्सा इस बात से प्रभावित था कि शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य और उसकी सरकार को उनके आंदोलन को महत्त्व देना पड़ा और उनके नेताओं के साथ बराबरी का सलूक करना पड़ा और उनके साथ समझौता भी करना पड़ा। इससे उनको लगा कि उनकी शक्ति को मान्यता मिली है और सरकार पर उन्हें विजय प्राप्त हुई है। इस समझौते के कारण जो हज़ारों लोग जेल से निकलकर बाहर आए उनको युद्धस्थल से विजय प्राप्त कर लौटने वाले सिपाहियों जैसा सम्मान दिया गया। उनको पराजित और अपमान सह कर लौटे युद्धबंदी नहीं बनाया गया। उनका पता था कि शांतिपूर्ण समझौता आत्म-समर्पण नहीं होता है और यह कि यदि शत्रु चाहें तो लड़ाई दोबारा छेड़ी जा सकती है। इस बीच ये योद्ध आराम कर सकेंगे और भावी संग्राम के लिए अपने को तैयार करेंगे। उन्हें अपने नेता और अपने आप में पूरा विश्वास था।

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में 1930-31 का सिविल नाफ़रमानी आंदोलन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दौर को रेखांकित करता है। इसमें जेल जाने वाले लोगों की अनुमानित संख 90,000 के आसपास थी। यह संख्या 1920-22 के असहयोग आंदोलन में भाग लेने वालों से तीन गुनी से भी अधिक थी। ब्रिटेन से आयातित कपड़े की मात्रा गिरकर एक तिहाई रह गई थी। अन्य आयातित वस्तुओं, जैसे सिगरेट का भी वही हश्र हुआ था। शराब तथा भूराजस्व से होने वाली सरकार की आमदनी बुरी तरह प्रभावित हुई थी। विधान सभाओं के चुनावों का बहिष्कार अत्यंत प्रभावी तरीक़े से किया गया था। हिंदुस्तान के बहुत बड़े सामाजिक वर्ग को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाकर उनमें राष्ट्रीयता के प्रति झुकाव पैदा किया जा चुका था। एक तरफ़ यदि तमिलनाडु तथा पंजाब के शहरी व्यवसायी वग्र को और छात्रों को अधिक सक्रि बना दिया गया तो गुजरात, संयुक्त प्रांत, बंगाल, बिहार और आंध्र प्रदेश के किसान अगली कतारों में आकर खड़े हो गए थे और मध्य भारत, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बंगाल की जन-जातियाँ भी किसी से पीछे नहीं थीं। मज़दूर वर्ग भी इस परिदृश्य से बाहर नहीं था। इन लोगों ने बंबई, कलकत्ता और मद्रास में कई विशाल सामूहिक प्रदर्शनों में भाग लिया था। शोलापुर के मज़दूर इनमें सबसे अगली कतार में थे।

नोट

सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी निश्चित रूप से 1920-22 के आंदोलन की तुलना में नगण्य थी। सांप्रदायिक नेतओं ने अलग रहने की अपील की थी। इसी के साथ सरकार ने राष्ट्रवादी शक्तियों को कमज़ोर करने के लिए सांप्रदायिक मतभेदों को हवा दी थी। इन बातों का असर आंदोलन पर भी पड़ा था। इन बातों के बावजूद मुसलमानों की भागीदारी को महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। पश्चिमोत्तर प्रांतों में, जैसा कि सबको मालूम है, उनकी भागीदारी बड़ी ज़बरदस्त थी। उदाहरण के रूप में तनिका सरकार ने दर्शाया है कि बंगाल में सेन हट्टा, त्रिपुरा, गैबंधा, बांगुरा और नोवाखाली में मध्यवर्गीय मुसलमानों की भागीदारी बहुत महत्त्वपूर्ण थी। ढाका में मुसलमान, विद्यार्थी, दुकानदार और यहाँ तक कि निम्न वर्ग की आम जनता ने भी आंदोलन को अपना समर्थन दिया था। उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय मुस्लिम महिलाएँ भी सक्रिय थीं। बिहार को अत्यंत प्रभावशाली तरीक़े से आंदोलन में लामबंद किया गया था जैसा कि देश के दूसरे भागों में अन्य वर्गों को किया गया था।

इस आंदोलन को जो समर्थन ग़रीबों तथा निरक्षर लोगों से प्राप्त हुआ था, क़स्बों और गाँवों दोनों ही स्थानों पर, वह वास्तव में अद्‌भुत और अपूर्व था। उनकी भागीदारी की झलक जेल जाने वालों की संख्या के सरकारी आँकड़ों से भी मिलती है और अनेक रूपों में आंदोलनों में भागीदारी का एक रूप जेल जाना भी था। बंगाल के पुलिस इंस्पेक्टर जनरल ने इस बात पर ग़ौर करते हुए आम सरकारी दुविधा को व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि "मुझे इस बात का कतई अंदाज़ा नहीं था कि कांग्रेस को इस प्रकार के अज्ञानी और गँवार लोगों का भी सहयोग प्राप्त होगा।"

भारतीय महिला के लिए यह आंदोलन उस समय तक के आंदोलनों में सबसे अधिक मुक्तिदाई था और कहा ज सकता है कि इसी के जरिए उन्होंने जन-जीवन में अपना स्थान बनाया।

4.13 भारत छोड़ो आंदोलन

भारत छोड़ो आंदोलन, जिसे अगस्त क्रांति भी कहा जाता है, भारतीय जनता की वीरता और लड़ाकूपन की अद्वितीय मिसाल है। उसका दमन भी उतना ही पाशविक और अभूत्पूर्व था। जिन परिस्थितियों में यह संघर्ष छेड़ा गया, वैसी प्रतिकूल स्थितियाँ भी राष्ट्रीय आंदोलन में अब तक नहीं आई थीं। युद्ध की आड़ लेकर सरकार ने अपने को सख्त-से सख्त कानूनों से लैस कर लिया था और शांतिपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों को भी प्रतिबंधित कर दिया था।

पहली बात तो यह है यह मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन की विफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारत की अनिच्छुक साझेदारी को तो बरकरार रखना चाहती है, लेकिन किसी सम्मानजनक समझौते के लिए तैयार नहीं है। नेहरू और गाँधी जैसे लोग भी थे, जो इस फासिस्ट-विरोधी युद्ध को किसी भी तरह कमज़ोर करना नहीं चाहते थे, इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे और अधिक चुप रहना यह स्वीकार कर लेना है कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की इच्छा जाने बिना भारत का भाग्य तय करने का अधिकार है। 'करो या मरो' वाले अपने भाषण में भी गाँधीजी ने साफ़-साफ़ कहा था कि "मैं रूस या चीन की हार का औजार बनना नहीं चाहता।" लेकिन 1942 के वसंत तक उन्हें लगने लगा था कि संघर्ष अपरिहार्य है। क्रिप्स की वापसी के एक पखवाड़े बाद ही उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया, जिसमें ब्रिटेन को भारत छोड़ने के लिए कहा गया था तथा भारतीय जनता का आह्वान किया गया था कि जापान का हमला हो, तो वह अहिंसक असहयोग करे। नेहरू अगस्त तक संघर्ष के खिलाफ रहे, पर अंततः वे भी सहमत हो गए। संघर्ष अपरिहार्य इसलिए भी होता जा रहा था कि युद्ध के कारण बढ़ती कीमतों और ज़रूरी वस्तुओं के अभाव से जनसाधारण में बेहद असंतोष था। बंगाल और उड़ीसा की

नोट

नावों को जापानियों द्वारा उनके संभावित इस्तेमाल को रोकने के लिए सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिया गया था, जिससे लोगों को दिक्कत हो रही थी। सिंचाई की नहरों का कहीं जापानी 'जल-परिवहन के लिए इस्तेमाल न कर लें, यह सोचकर नहरों का पानी बहा दिया गया, जिससे खेत सूखने लगे थे। मकानों और मोटर गाड़ियों पर भी सेना ने कब्ज़ा कर लिया था। जनता खुशी-खुशी युद्ध में शमिल होती, तो उसे यह सब नहीं अखरता, लेकिन यहाँ तो सब-कुछ उस पर लादा जा रहा था। साथ ही उसे यह भी लग रहा था कि ब्रिटेन की हार होने वाली है। दक्षिण-पूर्व एशिया से ब्रिटेन हट गया था और असम-बर्मा सीमा से आने वाली रेलगाड़ियाँ घायल सिपाहियों से भरी होती थीं। जब सिंगापुर और रंगून पर फासीवादी ताकतों का कब्ज़ा हो गया और कलकत्ता पर बम गिराए जाने लगे तो भगदड़ मच गई–1942 के जून और जुलाई में 46 लोग जमशेदपुर से भाग गए और पूर्वी यू.पी. तथा बिहार से भागकर 50 हज़ार आदमी कानपुर पहुँचे। मलाया और स्थानीय लोगों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया था। भारत के लोग सोचने लग गए थे कि अगर जापानी हमला हुआ तो अँग्रेज़ यहाँ भी उसी तरह विश्वासघात करेंगे। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को संघर्ष छेड़ने की ज़रूरत इसलिए भी महसूस हुई कि लोगों में निराशा फैल रही थी और यह आशं पैदा हो गई थी कि कहीं जापानी हमले का जनता द्वारा कोई प्रतिरोध ही न हो।

धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन में जनसाधारण की आस्था इतनी घट गई कि लोग बैंकों और डाकघरों से अपना रुपया निकालने लगे और अपनी बचत को सोने, चांदी और सिक्कों में बदल कर रखने लगे। पूर्वी संयुक्त प्रांत (यू.पी.) और बिहार में अनाज की जमाखोरी इतनी बढ़ गई कि बिहार के राज्यपाल स्टीवार्ट ने सरकार को लिखा–"चावल की कोई कमी नहीं है, पर वह बाज़ार में नहीं आएगा। सरकारी अधिग्रहण से बचने के लिए व्यापारियों ने अपने जखीरों को बैंकों के पास बंधक रख दिया है। पता चला है कि उत्तर बिहार में बैंकों के पास बंधक अनाज उसका तीन गुना है, जितना इस मौसम में सामान्यत: रहता है।"

यों तो गाँधीजी आने वाले संघर्ष के बारे में चर्चा करते ही आ रहे थे, वा अब देर करना उन्हें गलत लगने लगा था। उन्होंने लगा था। उन्होंने कांग्रेस को यह चुनौती भी दे डाली कि अगर उसने संघर्ष का उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो "मैं देश की बालू से ही कांग्रेस से भी बड़ा आंदोलन खड़ा कर दूँगा।" नतीज़तन कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्धा की अपनी बैठक (14 जुलाई 1942) में संघर्ष के निर्णय को अपनी स्वीकृति दे दी। अगले महीने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक होने वाली थी, जिसमें इस प्रस्ताव का अनुमोदन होना था। ऐतिहासिक सभा बंबई के ग्वालिया टैंक में हुई। जनता का उत्साह देखते ही बनता था। अंदर तो नेता विभिनन मुद्दों पर विचार-विमर्श कर रहे थे और बाहर जनसमुद्र उमड़ रहा था। नेताओं का निर्णय जानने की उत्सुकता इतनी थी कि खुले अधिवेशन में जब भाषण होने लगे, तो हज़ारों-हज़ार की भीड़ होने के बावजूद सभा में पूरी शांति थी।

करो या मरो

गाँधीजी के भाषण का बिजली जैसा असर हुआ। सबसे पहले तो उन्होंने यह स्पष्ट किया कि "असली संघर्ष इसी क्षण से शुरू नहीं हो रहा है। आपने सिर्फ अपना फैसला करने का सम्पूर्ण अधिकार मुझे सौंपा है। अब मैं वायसराय से मिलूँगा और उनसे कहूँगा कि वे कांग्रेस का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। इसमें दो तीन हफ्ते लग जाएँगे।" लेकिन "इतना आप निश्चित जान लें कि मैं मंत्रिमंडलों वगैरह पर वायसराय से कोई समझौता करने नहीं जा रहा हूँ। संपूर्ण आज़ादी से कम किसी भी चीज़ से मैं संतुष्ट होने वाला नहीं। हो सकता है कि वे नमक टैक्स, शराबखोरी आदि खत्म करने का प्रस्ताव दें। लेकिन मेरे शब्द होंगे, 'आज़ादी से कम कुछ भी नहीं'।" इसके बाद ही उन्होंने 'करो या मरो'

नोट

का नारा दिया, "एक मंत्र, जो मैं आपको देता हूँ। उसे आप अपने हृदय में अंकित कर सकते हैं और अपनी साँस-साँस द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। वह मंत्र है, करो या मरो, या तो हम भारत को आज़ाद कराएँगे या इस कोशिश में अपनी जान दे देंगे। अपनी गुलामी का स्थायित्व देखने के लिए हम जिंदा नहीं रहेंगे।"

गाँधीजी के भाषण में विभिन्न वर्गों को साफ़-साफ़ निर्देश दिए गए थे। सरकारी कर्मचारी नौकरी न छोड़ें, लेकिन कांग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा कर दें। सैनिक अपने देशवासियों पर गोली चलाने से इनकार कर दें। राजा-महाराजा भारतीय जनता की प्रभुसत्ता स्वीकार करें और उनकी रियासातों में रहने वाली जनता अपने को भारतीय राष्ट्र का अंग घोषित कर दें तथा राजाओं का नेतृत्व तभी मंजूर करें, जब वे अपना भविष्य जनता के साथ जोड़ लें। छात्र पढ़ाई तभी छोड़ें, जब आज़ादी हासिल हो जाने तक अपने इस निर्णय पर दृढ़ रह सकें। 7 अगस्त को गाँधीजी ने अपने निर्देश कांग्रेस कार्यसमिति में रखे थे। उनमें किसानों से कहा गया था कि जिनमें साहस हो और जो अपना सब-कुछ दाँव पर लगाने को तैयार हों, उन्हें मालगुज़ारी देने से इनकार कर देना चाहिए काश्तकारों के लिए संदेश था, "कांग्रेस मानती है कि ज़मीन उनकी है, जो उसे जोतते हैं–किसी और की नहीं। जहाँ ज़मींदारी प्रथा है, वहाँ ज़मींदार अगर काश्तकारों का साथ दें, तो आपसी रज़ामंदी से तय करके उसका हिस्सा उसे दिया जाना चाहिए, लेकिन ज़मींदार अगर सरकार का साथ दे, तो उसे कोई कर देने की ज़रूरत नहीं है।" आकस्मिक गिरफ्तारियों के कारण ये निर्देश जारी तो नहीं किए जा सके, पर इनसे गाँधीजी के इरादे स्पष्ट हो जाते है। 9 अगस्त के तड़के ही कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थानों पर भेज दिया गया। वस्तुतः सरकार युद्ध के बाद से ही यह कदम उठाने की तैयारी कर रही थी और 1940 में ही उसने एक विस्तृत क्रांतिकारी आंदोलन अध्यादेश जारी कर दिया था।

अगस्त 1940 को वायसराय ने राज्यपालों को एक पत्र में लिखा था, "मैं गहराई से महसूस करता हूँ कि मौजूदा हालात में यदि कांग्रेस का कोई हिस्सा 'युद्ध की घोषणा' कर देता है, तो उसका एकमात्र संभव जवाब यही हो सकता है कि पूरे संगठन को ही कुचलने का इरादा घोषित कर दिया जाए"। गाँधीजी बड़ी सावधानी से जल्दबाज़ी से इस जाल में फँसने से बचते आ रहे थे और व्यक्तिगत सत्याग्रह, लगातार प्रचार व संगठनात्मक कार्यों से आंदोलन का माहौल बनाए हुए थे। लेकिन अब सरकार उन्हें और वक्त देने को राज़ी नहीं थी। इसके पहले कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित करे, गिरफ्तारी और दमन के सरकारी निर्देश जारी हो गए।

सरकार के इस अचानक हमले से देश भर में तूफान-सा आ गया। बंबई में लाखों लोग ग्वालिया टैंक की ओर उमड़ पड़े, जहाँ एक जनसभा होने की घोषणा की गई थी। अधिकारियों से टकराव भी हुआ। अहमदाबाद और पूना मे भी यही हुआ। 10 अगस्त को दिल्ली, कानपुर, इलाहबाद, वाराणसी, पटना इत्यादि शहरों में हड़ताल रही तथा बड़े-बड़े जुलूस निकले। इसके साथ ही सरकार ने प्रेस पर हमला बोल दिया। बहुत-से अखबार कुछ दिनों के लिए बंद रहे। 'नेशनल हेराल्ड' और 'हरिजन' तो पूरे आंदोलन के दौरान नहीं निकले।

प्रांतीय तथा स्थानीय स्तर के नेता गिरफ़्तार होने से बच गए थे, वे अपने-अपने इलाके में चले गए और प्रतिरोधात्मक गतिविधियों में लग गए। देहात में भी जैसे ही खबर पहुँचने लगी, तो वहाँ भी विद्रोह का सिलसिला चल पड़ा। छह-सात सप्ताह तक देश भर में तुमुल आंदोलन रहा। कुछ ही स्थानों पर लोगों की विशाल भीड़ ने पुलिस थानों, डाकघरों, कचहरियों, रेलवे स्टेशनों तथा सरकारी सत्ता के दूसरे प्रतीकों पर आक्रमण किया। सार्वजनिक भवनों पर तिरंगा फहराया गया। गाँववालों ने

हज़ारों की संख्या में एकत्र होकर रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं। पुल उड़ा दिए गए और टेलीफोन तथा तार की लाइनें काट दी गईं। तहसीलों और ज़िला मुख्यालयों में सत्याग्रहियों ने गिरफ़तारी भी दी। स्कूल-कॉलेजों में हड़ताल हो गई और छात्र जुलूस निकालने तथा गैरकानूनी परचे लिखने और बाँटने में लग गए।

नोट

ऐसी कई सौ गैर-कानूनी पत्रिकाएँ देश भर में निकलती रहीं। छात्रों ने उभरते हुए गुप्त संगठनों में भी संदेश ले जाने वगैरह का काम किया। मज़दूर भी पीछे नहीं रहे। अहमदाबाद में कारखाने साढ़े तीन महीने तक बंद रहे, बम्बई में एक हफ्ते से ज़्यादा तक और जमशेदपुर में 13 दिन तक। अहमदाबाद और पूना के मज़दूर कई महीने तक सक्रिय रहे।

विद्रोह का माहौल

बिहार और यू.पी. में तो विद्रोह जैसा माहौल बन गया। अगस्त के मध्य तक विद्यार्थियों तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के ज़रिए आंदोलन की ख़बर गाँवों में पहुँचने लगी। काशी विश्वविद्यालय के छात्रों ने 'भारत छोड़ो' का संदेश फैलाने के लिए गाँवों में जाने का फ़ैसला किया। उनके नारे थे, थाना जलाओ, स्टेशन फूँक दो, अँग्रेज़ भाग गया इत्यादि। उन्होंने रेलगाड़ियों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया। विद्रोह ने अधिकतर यह रूप धारण किया कि बड़ी संख्या में किसान पास के क़स्बें में जुटते और सरकारी सत्ता के सभी प्रतीकों पर हमला बोल देते। कहीं आग लगा दी जाती, कहीं सरकारी अधिकारियों से मुठभेड़ होती। दमन होता, लेकिन इससे जनता का उत्साह कम नहीं हुआ। बिहार के तिरहुत प्रखंड में तो दो सप्ताह तक कोई सरकार ही नहीं थी। सचिवालय गोलीकांड के बाद पटना दो दिन तक बेकाबू रहा। उत्तर और मध्य बिहार के 80 प्रतिशत थानों पर जनता का राज हो गया था। कुछ स्थानों पर गोरों का व्यक्तिगत हमला भी हुआ। पूर्वी यू.पी. में आजगढ़, बलिया और गोरखपुर तथा बिहार में गया, भागलपुर, सारन, पूर्णिया, शाहाबाद, मुजफ्फरपुर और चंपारण स्वत:स्फूर्त जन-विद्रोह के मुख्य केंद्र रहे।

सरकारी आकलनों के अनुसार, नेताओं की गिरफ़्तारी के पहले हफ़्ते के अंदर 250 रेलवे स्टेशन या तो नष्ट कर दिए गए या क्षतिग्रस्त हुए और 500 से ज़्यादा डाकघरों तथा 150 थानों पर हमला हुआ। पूर्वी यू.पी. और बिहार में रेलगाड़ियों का आवागमन कई हफ़्ते तक अस्तव्यस्त रहा। सिर्फ़ कर्नाटक में टेलीफोन के तार काटने की 1600 घटनाएँ हुईं तथा 28 रेलवे स्टेशनों और 32 डाकघरों पर हमला हुआ। निहत्थी भीड़ ने 532 अवसरों पर पुलिस और सेना की गोलीबारी का सामना किया—यहाँ तक कि हवाई जहाज़ से मशीनगनें भी चलाई गईं। दमन के अन्य रूप थे—सामूहिक जुर्माना (कुल 90 लाख रुपए इस तरह वसूल किए गए), संदिग्ध लोगों को कोड़ों से पीटना तथा जिन गाँवों के लोग भाग गए थे, उनमें आग लगा देना। 1942 के अंत तक 60 हज़ार से अधिक लोगों को गिरफ़्तार किया जा चुका था, लगभग 26 हज़ार लोगों को सज़ा हुई और 18 हज़ार लोगों को भारत रक्षा नियमों के तहत बंद रखा गया। मार्शल लॉ लागू नहीं किया गया था और हालाँकि सेना कहने को नागरिक प्रशासन के तहत काम कर रही थी, पर दरअसल वह मनमानी कर रही थी। दमन उतना ही कठोर था जितना मार्शल लॉ के अंतर्गत हो सकता था।

सरकार को जनता के खुले आम विद्रोह पर क़ाबू पाने में छह से सात हफ़्ते लगे। पर इस बीच देश के विभिन्न हिस्सों में आंदोलन का एक भूमिगत संगठनात्मक ढाँचा भी तैयार हो रहा था। आंदोलन की बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ़ अली, राममनोहर लोहिया, सुचेता, कृपलानी, छोटूभाई पुराणिक, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका और बाद में जेल से निकल भागने के बाद जयप्रकाश नारायण जैसे अखिल भारतीय नेताओं ने फ़रार रहते हुए सँभाल ली थी।

नोट

ये लोग पैसा और बम, हथियार, बारूद आदि सामग्री इकट्ठा करते और देश भर में छितराए हुए गुप्त समूहों में बाँटते थे। करना क्या है, इसका निर्णय स्थानीय स्तर पर ही होता था। ये गुप्त समूह या भूमिगत संगठन इन इलाक़ों में ज़्यादा सक्रिय थे–बंबई, पूना, सतारा, बड़ौदा, कर्नाटक, केरल, आंध्र, यू.पी., बिहार और दिल्ली। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य ही आम तौर पर इन गतिविधियों का नेतृत्व कर रहे थे, पर गाँधीवादी, फ़ार्वर्ड ब्लॉक के सदस्य तथा आतंकवादी भी काफ़ी सक्रिय थे।

भूमिगत कार्रवाइयों में संलग्न लोगों की संख्या बेशक कम थी, पर उन्हें व्यापक सहयोग मिल रहा था। व्यवसायी वर्ग ने अपनी थैलियाँ खोल दी थीं। उदाहरण के लिए सुमति मोरारजी ने, जो बाद में देश की प्रमुख महिला उद्योगपति बनीं, अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ़्तरी होने से बचाया। बहुत-से लोगों ने भूमिगत नेताओं को छिपने की जगह दी। छात्र खबर और परचे ले जाने का काम करते थे। पाइलट और रेल ड्राइवर बम तथा अन्य सामान इधर से उधर पहुँचाते थे। सरकारी अधिकारी और पुलिस वाले तक गिरफ़्तारियों की अग्रिम सूची दे दिया करते थे।

इस भूमिगत आंदोलन की मुख्य गतिविधि यह होती थी कि पुलों को उड़ाकर, टेलीग्राफ़ व टेलीफोन के तार काटकर तथा रेलों की पटरी उखाड़कर संचार के साधन नष्ट कर दिए जाएँ। सरकारी और पुलिस अधिकारियों तथा पुलिस के मुखबिरों पर भी कहीं-कहीं हमले हुए। यह सच है कि संचार के माध्यमों को नष्ट करने में आंदोलनकारियों को सीमित सफलता ही मिली होगी, पर ऐसे वक्त में जब सरकार बर्बर दमन पर उतारू थी और खुले-आम राजनीतिक गतिविधियों को असंभव बना दिया गया था, इन कार्रवाइयों से जनता का मनोबल बरकरार रखा गया।

गाँधीजी का उपवास

फ़रवरी 1943 में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। ग़ाँधीजी ने जेल में 10 फ़रवरी से उपवास शुरू कर दिया और घोषणा की कि वह 21 दिनों तक चलेगा। सरकार गाँधीजी पर लगातार दबाव डाल रही थी कि वह भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान हो रही हिंसा की भर्त्सना करे। लेकिन गाँधीजी का कहना था कि आंदोलन की इस हिंसा के लिए सरकार ही जिम्मेदार है। गाँधीजी का उपवास उस सरकारी दमन का ही जवाब था, जिसके तहत हज़ारों कांग्रेसजनों को बेवजह जेल में ठूँस दिया गया था।

गाँधीजी के उपवास की खबर जैसे-जैसे फैलने लगी, लोगों का आक्रोश बढ़ता गया। देश भर में हड़तालों, प्रदर्शनों और जुलूसों का ताँता लग गया। कलकत्ता और अहमदाबाद इस दिशा में ख़ास तौर से सक्रिय थे। जेलों के भीतर और बाहर गाँधीजी के समर्थन में उपवास हुए। कई समूह आगा खाँ पैलेस (जहाँ गाँधीजी को नज़रबंद रखा गया था। के बाहर सत्याग्रह करने के लिए छिपकर पूना पहुँच गए। जनसभाएँ कर गाँधीजी की रिहाई की माँग की गई और छात्रों, युवकों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों, वकीलों, सामान्य नागरिकों और श्रमिक संगठनों एवं समाज के सभी वर्गों की ओर से सरकार के पास हज़ारों चिट्ठियाँ भेजी गई, जिसमें यही माँग की गई थी।

19-20 फ़रवरी को दिल्ली में नेताओं का एक सम्मेलन ('लीडर्स कॉन्फ़रेंस') हुआ, जिसमें प्रतिष्ठित तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने भाग लिया। उन सभी की माँग थी कि गाँधीजी को तुरंत रिहा कर दिया जाना चाहिए। कांग्रेस के साथ जिनकी सहानुभूति नहीं थी, ऐसे लोगों में से भी बहुतों का मानना था कि सरकार अब ज़्यादती कर रही है। सरकार की प्रतिष्ठा को सबसे ज़्यादा आघात उस वक्त लगा, जब वायसराय की कार्यपरिषद् के तीन सदस्य, एम.एस. एनी,

एन.आर. सरकार और एच.पी. मोदी ने इस सवाल पर इस्तीफ़ा दे दिया। 1942 के आंदोलन के दमन में इन लोगों ने सरक़ार का साथ दिया था, पर ये गाँधीजी की मौत से साझेदार बनना नहीं चाहते थे।

नोट

लेकिन वायसराय और उनके अफ़सर ज़रा भी विचलित नहीं हुए। ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल की इस घोषणा कि "जब दुनिया में हम हर कहीं जीत रहे हैं, ऐसे वक्त में हम एक कमबख्त बुड्ढे के सामने कैसे झुक सकते हैं, जो हमेशा हमारा दुश्मन रहा है," उनका दुस्साहस काफ़ी बढ़ा हुआ प्रतीत हुआ। गाँधीजी की मृत्यु की उन्हें ज़रा भी चिंता नहीं थी। वायसराय के एक वक्तव्य से तो ऐसा लगता है कि वे इस संभावना के घटित होने से खुश ही होते, "हमारे संचालनों के लिए भारत कहीं ज़्यादा भरोसेमंद केंद्र हो जाएगा। इसके अलावा गाँधी के न रहने पर, जो वर्षों से समझौता न होने देने के लिए हर कोशिश करता रहा है, समझौते की संभावना काफ़ी बढ़ जाएगी।" हालत यह थे कि एक ओर तो पूरा देश गाँधीजी की जान बचाने की अपील कर रहा था और दूसरी ओर सरकार अंतिम संस्कार की तैयारी में मशगूल थी। सेना की टुकड़ियों को किसी भी आपात्स्थिति के लिए तैयार रहने को कह दिया गया था।

सार्वजनिक शवयात्रा तथा गाँधीजी की भस्म को ले जाने के लिए विमान की व्यवस्था हेतु 'दार' प्रावधान किए गए थे और सरकारी कार्यालयों में आधे दिन की छुट्टी घोषित करने की योजना थी। पर गाँधीजी ने, हमेशा की तरह, अपने विरोधियों को मात दे दी और मरने से इनका कर सरकारी इरादों पर पानी फेर दिया।

बहरहाल, गाँधीजी के उपवास का जो उद्देश्य था, वह भली-भाँति पूरा हुआ। इससे न केवल जनसाधारण का मनोबल ऊँचा हुआ और ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं में उभार आया, बल्कि सारी दुनिया के सामने वह उजागर हो गया कि सरकारी दमन के तौर-तरीक़े कितने कठोर हैं। सरकार 1942 के दमन का जो औचित्य साबित करना चाहती थी, वह ख़त्म हो गया और यह साबित हो गया कि ग़लती सरकार की ही है।

समानांतर सरकारें

भारत छोड़ो आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी देश के कुछ हिस्सों में समानांतर सरकारों की स्थापना। पहली ऐसी सरकार बनी बलिया में, चित्तू पांडे के नेतृत्व में। चित्तू पांडे अपने को गाँधीवादी कहते थे। उनकी सरकार ने कलक्टर से सारे अधिकार छीन लिए और सभी गिरफ़्तार कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया, लेकिन उसका प्रभुत्व ज़्यादा समय तक क़ायम नहीं रह सका। एक सप्ताह बाद जब ब्रिटिश सैनिक वहाँ पहुँचे, तो उन्हें वहाँ एक भी नेता नहीं मिला।

बंगाल के मिदनापुर ज़िले के तामलुक नामक स्थान पर 17 दिसंबर 1942 को 'जातीय सरकार' (राष्ट्रीय सरकार) का गठन किया गया। उसका अस्तित्व सितंबर 1944 तक रहा। तामलुक में गाँधीवादी रचनात्मक काम और जनांदोलन काफ़ी हुए थे। 'जातीय सरकार' ने बड़े पैमाने पर तेज़ी से राहत का काम चलाया, स्कूलों को अनुदान दिए और

एक सशस्त्र विद्युत वाहिनी का भी गठन किया। आपस में समझौता करने के लिए अदालतें बनाई गईं और धनी लोगों का अतिरिक्त धन ग़रीबों में बाँट दिया गया। चूँकि तामलुक की भौगोलिक स्थिति अलग-अलग थी, अत: यहाँ की स्वाधीन सरकार कुछ अधिक समय तक चल सकी।

सतारा (महाराष्ट्र) की समानांतर सरकार सबसे ज़्यादा दीर्घजीवी साबित हुई। भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत से ही यह क्षेत्र काफ़ी सक्रिय रहा था। आंदोलन के पहले चरण में सरकार के स्थानीय मुख्यालयों में हज़ारों लोगों का जुलूस निकाला गया। इसके बाद भितरघात डाकघरों पर हमला, बैंकों की लूट, टेलीग्राफ़ के तारों को काट देना आदि का सिलसिला शुरू हुआ। वाइ.बी. चव्हाण यहाँ के सबसे महत्त्वपूर्ण नेता थे। उनका अच्युत पटवर्धन तथा अन्य भूमिगत नेताओं से भी संपर्क था।

नोट

लेकिन 1942 के अंत तक लगभग 2,000 लोगों को गिरफ़्तार कर लिए जाने से जनांदोलन की गति रुक गई। 1943 की शुरुआत से भूमिगत कार्यकर्ताओं ने अपने को पुनर्संगठित करना प्रारंभ किया और लगभग छह महीने में उनका संगठन तैयार हो गया, प्रतिसरकार (समानांतर सरकार) की स्थापना की गई। नाना पाटील इसके महत्त्वपूर्ण नेताओं में से थे। इस दौर में सरकार से सहयोग करने वाले लोगों और मुखबिरों तथा छोटे अफ़सरों पर हमला किया गया और रॉबिनहुड शैली में बैंक डकैतियाँ डाली गईं। न्यायदान मंडल या जन अदालतें शुरू की गईं। शराबबंदी लागू कर दी गई तथा 'गाँधी विवाहों' का आयोजन हुआ, जिनमें कोई तड़क-भड़क नहीं होती थी तथा अछूतों को भी आमंत्रित किया जाता था। गाँवों में पुस्तकालय खोले गए। औंध रियासत के राजा ने–जिसके राज्य का संविधान गाँधीजी द्वारा तैयार किया गया था–इस सबमें काफ़ी मदद की। सतारा की प्रतिसरकार 1945 तक कायम रही।

'भारत छोड़ो' आंदोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुँचा। पूर्ववर्ती आंदोलन की तरह 'भारत छोड़ो' में भी युवा वर्ग काफ़ी सक्रिय रहा। स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों का उत्साह देखते ही बनता था। औरतों ने भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई–ख़ास तौर से छात्राओं ने। अरुणा आसफ़ अली और सुचेता कृपलानी ने भूमिगत कार्रवाइयों के संगठन का काफ़ी काम किया और उषा मेहता उस छोटे-से समूह की महत्त्वपूर्ण सदस्या थीं, जो कांग्रेस रेडियो चलाता था। पुलिस दमन झेलते हुए भी लंबी-लंबी हड़तालें कर मज़दूरों ने महत्त्वपूर्ण कुरबानी दी।

देश भर के किसान, चाहे वे अमीर हों या ग़रीब, इस आंदोलन की जान थे। पूर्वी यू.पी. और बिहार, बंगाल (मिदनापुर) महाराष्ट्र (सतारा) में तो उन्होंने विशेष सक्रियता दिखाई, लेकिन दूसरे हिस्सों, जैसे आंध्र, केरल और गुजरात के किसान भी सक्रिय रहे। बहुत-से छोटे ज़मींदारों ने भी आंदोलन में हिस्सा लिया–ख़ासकर यू.पी. और बिहार में। बड़े ज़मींदारों ने तटस्थता का रुख अपनाया और सरकारी दमन में सहयोग नहीं किया। दरभंगा के राजा ने, जो काफ़ी बड़े ज़मींदारों में से थे, न केवल सरकार को अपने सशस्त्र लोगों की सेवाएँ देने से इनकार कर दिया, बल्कि गिरफ़्तार लोगों की मदद भी की। आंदोलन की एक खूबी यह भी रही कि किसानों ने मौक़ा मिलने के बावजूद ज़मींदारों के ख़िलाफ हिंसा नहीं की और अपनी गतिविधियों का लक्ष्य ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को ही बनाया। वैसे सरकारी अधिकारियों ने भी–ख़ास तौर से पुलिस और प्रशासन के निचले तबके के अधिकारियों ने–हर तरह से आंदोलनकारियों की मदद की। जेल अधिकारी बंदियों के प्रति उदार हो गए। वस्तुतः उन दिनों ब्रिटिश शासन की नींव ही हिल गई थी।

यह सच है कि भारत छोड़ो आंदोलन में मुसलमानों की हिस्सेदारी बहुत उल्लेखनीय नहीं रही, लेकिन इसमें भी संदेह नहीं कि मुसलिम लीग के समर्थकों ने भी मुखबिरी नहीं की, बल्कि ज़रूरत पड़ने पर भूमिगत कार्यकर्ताओं को शरण ही दी। कहीं कोई सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ, जो इस बात का प्रतीक था कि भले ही आंदोलन ने मुसलिम जनता में उत्साह न जगाया हो, पर कोई रोष भी पैदा नहीं किया था। भारत छोड़ो आंदोलन के सम्मोहन की सूचना इस बात से भी मिलती है कि यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी का निर्णय आंदोलन बहिष्कार का था, फिर भी स्थानीय स्तर के सैकड़ों कम्युनिस्टों ने इसमें हिस्सेदारी की। इन कार्यकर्ताओं को अपने नेताओं के उग्र फ़ासीवाद-विरोध से पूरा लगाव था, फिर भी ये आंदोलन के जादू से अछूते नहीं रह सके–ख़ासकर शुरू के दिनों में।

भारत छोड़ो आंदोलन पर इतिहासकारों ने मुख्यतः दो दृष्टियों से विचार किया है। पहला, क्या यह स्वतःस्फूर्त विद्रोह था या कोई संगठित चेष्टा थी? दूसरा, इस संघर्ष के दौरान जनता ने जो हिंसा की, उसकी संगति अहिंसक लड़ाई की कांग्रेस नीति से कैसे बैठाई जाए?

नोट

इसमें संदेह नहीं कि पूर्ववर्ती आंदोलनों की तुलना में 1942 के आंदोलन में स्वत:स्फूर्तता का तत्त्व कहीं ज़्यादा था, यद्यपि 1919-22, 1930-31 और 1931-32 में भी कांग्रेस नेतृत्व ने जनता की पहल और स्वत:स्फूर्त उभारों के लिए काफ़ी गुंजाइश छोड़ी थी। वस्तुत: गाँधीवादी जनांदोलन का पैटर्न यह था कि नेतृत्व कार्यक्रम की मोटे तौर पर रूपरेखा बना देता और उसका कार्यान्वयन स्थानीय स्तर के कार्यकर्ताओं तथा जनसाधारण के हाथ में छोड़ दिया जाता था। वैसे भी, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान हुए किसी एक संघर्ष की तैयारी का अनुमान उसी समय किए गए संगठनात्मक कार्यों से नहीं लगाया जा सकता। इसके लिए पूरे राष्ट्रीय आंदोलन पर जनता पर कितना प्रभाव हुआ है, उसको कितना समर्थन मिला है, उसका अनुमान लगाना ज़रूरी है।

यह सच है कि 1942 में यह रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं की गई थी, क्योंकि नेतृत्व को आंदोलन छेड़ने का अवसर ही नहीं मिला। लेकिन जनता ने अपनी तरफ़ से जो पहल की, उसकी स्वीकृति नेतृत्व एक तरह से दे चुका था।

8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा पारित प्रस्ताव में साफ़-साफ़ कहा गया था कि "एक ऐसा समय आ सकता है, जब निर्देश जारी करना संभव न हो सके या निर्देश लोगों तक पहुँच ही न सके या कोई कांग्रेस समिति कार्य न कर सके। अगर ऐसा होता है, तो प्रत्येक पुरुष और स्त्री को, जो इस आंदोलन में भाग ले रहा है,

जारी किए गए निर्देशों की चौहद्दी में अपने काम का खुद ही फ़ैसला करना होगा। हर भारतीय को, जो आज़ादी चाहता है और उसके लिए प्रयत्नशील है, अपना मार्गदर्शक खुद बनना होगा।"

इसके अलावा कांग्रेस इस संघर्ष के लिए काफ़ी पहले से तैयारी करती आ रही थी। 1937 के बाद कांग्रेस संगठन को चुस्त किया गया। पूर्वी यू.पी. और बिहार के अपने अध्ययन में चंदन मित्र ने स्पष्ट किया है कि 1942 के दौरान वहीं सबसे अधिक प्रतिरोध हुआ, जहाँ 1937 के बाद से जन-जागृति और संगठन का व्यवस्थित कार्य हुआ था। सरदार पटेल जून 1942 से ही बारदोली और गुजरात के अन्य इलाक़ों में लोगों को आने वाले संघर्ष के बारे में चेतावनी दे रहे थे। पूना के कांग्रेसी समाजवादी भी तभी कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण शिविर लगा रहे थे। गाँधीजी खुद भी व्यक्तिगत सत्याग्रह के ज़रिए तथा 1942 क़ी शुरुआत से सीधे तौर पर लोगों को आसन्न युद्ध के लिए तैयार कर रहे थे। उनका कहना था कि यह लड़ाई थोड़े समय तक ही चलेगी, पर तेज़ होगी।

अब रहा सवाल कि 1942 की हिंसा की संगति कांग्रेस की अहिंसक नीति से कैसे बैठाई जाए? पहली बात तो यह कि ऐसे बहुत-से लोग थे, जिन्होंने इस आंदोलन के दौरान भी हिंसा का सहारा लेने से इनकार कर दिया। जिन लोगों ने हिंसक साधनों का प्रयोग किया, उनमें से बहुतों का मानना था कि परिस्थिति की यही माँग थी। उनमें से अनेक निष्ठावान गाँधीवादी भी थे। कुछ का तर्क था कि टेलीग्राफ़ के तारों का काटना या पुलों को उड़ा देना या रेल की पटरियाँ उखाड़ फेंकना तब तक अनुचित नहीं है, जब तक इनसे किसी की जान को ख़तरा नहीं पहुँचता। कुछ ने

यह कहकर साफ़गोई दिखाई है कि उनका हिंसा में विश्वास नहीं था, फिर भी उन्होंने हिंसा की। गाँधीजी ने खुद 1942 में हिंसा की निंदा करने से इनकार कर दिया था। उनका कहना था कि यह सत्ता की बड़ी हिंसा का का जवाब था। फ्रांसिस हचिंस का मानना है कि हिंसा पर गाँधीजी की ज़्यादा आपत्ति इसलिए थी कि इससे जन-भागीदारी घटती थी, लेकिन 1942 में गाँधीजी ने पाया कि इस बार स्थिति ऐसी नहीं है। इस ऐतिहासिक आंदोलन की एक बड़ी ख़ूबी यह रही कि इसके द्वारा आज़ादी की माँग राष्ट्रीय आंदोलन की पहली माँग बन गई। 'भारत छोड़ो' के बाद अब पीछे नहीं मुड़ा जा सकता था। ब्रिटिश सरकार से भविष्य में जो भी बातचीत होनी थी, उसमें सत्ता के

हस्तांतरण का सवाल आना ही था और इस सवाल पर कोई मोलभाव नहीं किया जा सकता था, जैसा कि युद्ध के बाद स्पष्ट भी हो गया।

गाँधीजी को बीमारी के आधार पर 6 मई 1944 को रिहा कर दिया गया और इसके साथ ही राजनीतिक गतिविधियों में गरमी आ गई। रचनात्मक कार्य इस समय कांग्रेस की मुख्य गतिविधि में थे। कांग्रेस मशीनरी को पुनर्गठित करने पर भी विशेष ध्यान दिया गया। कांग्रेस वर्कर्स एसेंबली या रिप्रेजेंटेटिव एसेंबली ऑफ़ कांग्रेसयेन आदि विभिन्न नामों से कांग्रेस समितियों को पुनर्जीवित किया गया। इससे कांग्रेस पर लगा प्रतिबंध अपने आप प्रभावहीन हो गया। कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सदस्यता अभियान तथा कोष संग्रह का काम भी शुरू किया गया। कांग्रेस के रचनात्मक कामों को सरकार संदेह की नज़र से देखती थी। उसे भय था कि यह सब अगले संघर्ष की तैयारी का हिस्सा है। अत: इन कामों पर भी कड़ी नज़र रखी जाती थी, हालाँकि दमन का रास्ता नहीं अख्तियार किया गया। सरकार एक ऐसा प्रस्ताव लाने की भी कोशिश कर रही थी, जिससे संघर्ष के इस दूसरे दौर को रोका जा सवे । इसे वेवल प्रस्ताव या 'शिमला सम्मेलन' कहा जाता है। शिमला सम्मेलन जून 1945 में हुआ और उसके पहले सभी प्रमुख कांग्रेस नेताओं को रिहा किया जा चुका था। इस तरह मुठभेड़ का वह दौर समाप्त हुआ, जो अगसत 1942 से चल रहा था।

नोट

4.14 सारांश

दादाभाई नौरोजी ने जबरदस्ती पलायन के खतरे से अवगत कराया और भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव की ओर इशारा किया। उनके अनुसार, भारत में अकाल का कारण पलायन था। यह बड़े पैमाने पर गरीबी का बुनियादी कारण था। पलायन धन तक ही सीमित नहीं था। इस पलायन में लेकिन राजनीतिक और बौद्धिक पलायन भी शामिल थे। पलायन भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए एक जहर के समान था।

महात्मा गांधी के कहने पर, गोखले ने दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के मामलों में भी गहरी दिलचस्पी ली। 1910 और 1912 में उन्होंने नटाल में भारतीय करारबद्ध श्रम को राहत के लिए साम्राज्यवादी विधान परिषद में प्रस्ताव पेश किये। 1912 में वे गांधी के निमंत्रण पर दक्षिणी अफ्रीका के पास गये और भारतीयों की समस्याओं का निपटने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं। 1913 में उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह आंदोलन की मदद करने के लिए रकम जुटाई। गोखले की कठोर दिनचर्या के कारण फरवरी 1915 में उनकी असामयिक मौत हो गई।

1893 में, तिलक को बंबई विश्वविद्यालय का अध्यक्ष चुना गया। चुनाव डाक मत पत्र द्वारा आयोजित किया गया था। 1895 में वे पूना नगर पालिका और उसी साल बंबई के विज्ञान परिषद के लिए चुने गए थे। जो नगर पालिकाओं और जिला समिति को एक प्रतिनिधी के चुनाव के चुनने की अनुमति देता है। चुनाव 1892 के सुधार अधिनियम, के अनुसार आयोजित किये गए थे। तिलक मध्य क्षेत्र से चुनाव लड़े और 65 वोटो में से 35 वोट लेकर जीते।

सुभाष चंद्र बोस के राजनीतिक दर्शन को समझने के लिए उनके आध्यात्मिक, राष्ट्रवाद, धर्मनरपेक्षता, लोकतांत्रिक और समाजवादी विशेषताओं के विश्लेषण की आवश्यकता है।

1905 में बंगाल का विभाजन हुआ। यह घटना देश भर में हुए असंतोष का उदाहरण प्रस्तुत करती है। अरविंद ने बड़ौदा में अपनी नौकरी (1906) से इस्तीफा दे दिया और अपने जीवन के तीसरे चरण की शुरुआत की। वे सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। राजनीतिक सक्रियता का यह चरण (1906–1910)

बहुत संक्षिप्त था। इस अवधि के दौरान उन्होंने राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया और तिलक के नेतृत्व में कट्टरपंथी समूह का समर्थन किया।

भारतीय स्वतंत्रता, के संघर्ष के इतिहास में वी.डी. सावरकर की जगह अद्वितीय है। उनका विश्वास था कि भारतीयों द्वारा मजबूत सशस्त्र विद्रोह भारत को ब्रिटिश से आजाद कराने में सफल सिद्ध होगा। वे एक अत्यन्त मेघावी विद्वान थे जिन्होंने भारत में टेलीफोन, फोटाग्राफी, संसद जैसे शब्दों को जोड़ा। एक बहादुर क्रांतिकारी, दुश्मन द्वारा पकड़े जाने के बाद उन्होंने समुद्र से भागने की कोशिश की और देशभक्त के रूप में नेता, उन्होंने सिपाही विद्रोह की सच्चाई को बतलाया।

नोट

असहयोग आंदोलन कार्यक्रम के तहत तमाम चीज़ें आती थीं, जैसे उपाधियों और प्रशस्तिपत्रों को लौटाना, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि बाद में जनता को सरकारी नौकरियों से इस्तीफ़ा देने और क़ानून का अवज्ञा-जिसमें कर अदायगी न करना भी शामिल हो–के लिए भी कहा जा सकता था। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना और स्थानीय विवादों के निबटारे के लिए पंचायतों के गठन का भी प्रस्ताव था। हाथ से कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने तथा हिंदू-मुसलिम एकता को बढ़ावा देने पर विशेष ज़ोर देने की बात कही गई थी। छुआछूत को मिटाने और हर हाल में अहिंसा का पालन करने का सख्त निर्देश था।

4.15 अभ्यास-प्रश्न

1. राष्ट्रवाद के बारे में दादाभाई नौरोजी के विचार क्या थे?
2. गोपाल कृष्ण गोखले के राजनैतिक लक्ष्यों और उनके राजनैतिक तकनीक पर चर्चा करें।
3. बाल गंगाधर तिलक की सामाजिक-आर्थिक विचारधाराओं के बारे में बतलाएं?
4. एक राजनीतिक नेता के रूप में विपिन चन्द्र पाल का मूल्यांकन करें?
5. एस.सी. बोस के राजनीतिक विचारों पर चर्चा करें?
6. अरविंदो घोष के राजनीतिक और मौलिक सिद्धांतों क्या थे?

4.16 संदर्भ पुस्तकें

- सिंह करण (1970): प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे।
- ताराचंद - भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास।
- बिपिनचंद्र - स्वतंत्रता संग्राम।
- सरकार, एस (1983), आधुनिक भारत (1885-1847), नई दिल्ली: मैकमिलन
- प्रधान, राम चंद्र (2008) राज टू स्वराज, नई दिल्ली: मैकमिलन।